

KOO



125819
LBSNAA

॥ भारतीय प्रशासन अकादमी

Academy of Administration

मसूरी

MUSSOORIE

पुस्तकालय

LIBRARY

अवाप्ति संख्या

Accession No.

— 125819
15452

वर्ग संख्या

Class No.

GLM 615.535

पुस्तक संख्या

Book No.

100

कूने

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर सीरीजका ८१ वां ग्रन्थ

नवीन-चिकित्सा-विज्ञान

अथवा

रोगोंकी एकताका सिद्धान्त

और उसपर रची गई

बिना औषधि और बिना चीरफाड़के

समान प्रक्रियाके द्वारा रोगोंको

आराम करनेकी विधि

मूल कर्त्ता

लुई कूने

अनुवादक

स्व० साहू रामकुमारजी रईस,

ठाकुरद्वारा, मुरादाबाद

प्रकाशक

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय

बम्बई

प्रकाशक—

श्री नाथूराम प्रेमी, मालिक

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई

जुलाई १९३३

प्रथम बार

मूल्य तीन रुपये

सजिल्द ३॥ रुपये

मुद्रक—

रघुनाथ दिपाजी वेसाई,

न्यू भारत प्रिन्टींग प्रेस,

१०० डी, गिरगाँव, बंबई ४.

प्रस्तावना

यह ग्रंथ सर्व-प्रथम जर्मन भाषामें सन् १८८३ के लगभग छपा और सन् १८९९ तक इसके उस भाषामें पचास संस्करण हो गये। हिन्दी भाषाका यह अनुवाद जिस अंगरेजी संस्करणपरसे हुआ है वह सन् १९०४ में छपा था और जर्मन भाषामें इस पुस्तकके सौवें संस्करणका यह अनुवाद है। १९०४ के बाद भी इस ग्रंथके बीसियों संस्करण हो चुके हैं। अमेरिकामें भी इसके विशेष संस्करण प्रकाशित हुए हैं। अंगरेजीके सिवाय भी दुनियाँकी करीब करीब सभी भाषाओंमें—अफ्रीकाकी भाषाओंमें भी—इसके अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। इस ग्रंथके प्रसारका अनुमान इन संस्करणोंकी बिक्रीसे हो सकता है जो एक करोड़से भी ऊपर हुई है।

इस ग्रंथको पढ़नेसे किसी भी बुद्धिमान् व्यक्तिको यह समझमें आये बिना नहीं रह सकता कि यह ग्रंथ विशेष करके प्रचारकी या Propaganda की दृष्टिसे लिखा गया है। इसका मुख्य उद्देश्य तो अपने मतका—अपने सिद्धान्तका, प्रचार करना है। चिकित्साका विषय तो एक प्रकारसे इसमें गौण हो गया है परंतु जितना भी है उतनेसे भी असंख्य व्यक्तियोंने लाभ उठाया है।

लुई कुहनेके बाद जल-चिकित्सा तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य चिकित्सा-विधियोंने आशातीत उन्नति की है। आजकल इस चिकित्सा-विधिसे प्रमाणभूत डाक्टरोंमें अमेरिकाके डा० जे० एच० केल्लोग (J. H. Kellogg M. D., L. L. D., F. R. C. S.) तथा वीएना विश्वविद्यालयके प्रोफेसर डा० विंटरनिट्ज (Dr. Winternitz M. D., M. S.) की गणना है। कुहनेके मेहन और कटि ज्ञानके सिवाय अन्य सैकड़ों प्रकारके ज्ञानोंको उन्होंने खोज निकाला है और किन किन रोगोंपर कौन कौन ज्ञान उपयुक्त हैं आदि विषयोंको लेकर महान् ग्रंथ लिख डाले हैं।

इनके सतत प्रयत्नसे अमेरिका, जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली आदि देशोंकी सरकारोंसे जल-चिकित्साको आश्रय मिला है। वहाँकी सभी अस्पतालोंमें जल-चिकित्साके ज्ञानोंका प्रबंध है। वहाँके राजनीतिक बलोंने तो देशके युवकों और युवतियोंका शरीर-संगठन मजबूत करने,

उनकी नस्ल सुधारने तथा उन्हें आगामी महायुद्धके लिए तैयार करनेके लिए इस विधिका सबसे अधिक उपयोग किया है। धूप स्नानके लिये सैकड़ों खुले स्नानागार, जल-स्नानोंके लिए सैकड़ों तालाब आदि साधन, वाष्पस्नानके लिए हजारों तुर्कीस्नानागार (Turkish Bath) वहाँ बने हुए हैं जिनका उपयोग वहाँके करोड़ों स्त्री-पुरुष डाक्टरोंकी देखरेखमें नित्य करते हैं। डाक्टरीके कालेजोंमें भी जल-चिकित्साका अध्ययन बहुत जगह अनिवार्य कर दिया गया है और इस विषयकी अनेकों पाठ्य पुस्तकें नित्य निकल रही हैं।

जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन लुई कुहनेने अपने इस स्मारक ग्रंथमें किया है उससे हमारा प्राचीन भारतीय चिकित्सा-शास्त्र बिल्कुल कोरा नहीं है। यह बड़े दुःखकी बात है कि आयुर्वेदिक विद्यालयोंसे निकलनेवाले हजारों वैद्य इस विषयमें पाश्चात्य पद्धतिके अनुगामी डाक्टरोंको अपना आदर्श मान लेते हैं तथा अपने आयुर्वेदिक सिद्धान्तमें अन्तर्दृष्टि प्राप्त करनेकी कोशिश ही नहीं करते। आत्म-ज्ञानके वगैर वेदांतादि दर्शन-शास्त्रोंका ऊपरी ऊपरी ज्ञान जिस प्रकार निरर्थक और ढोंग है उसी प्रकार आयुर्वेदके मूल सिद्धान्तमें अन्तर्दृष्टि प्राप्त किये वगैर चिकित्सा करना रसों मात्राओं और औषधियोंके बीहड़ वनमें अन्धोंके सदृश भटकते फिरना है।

लुई कुहनेका कथन है कि पाचन-शक्तिके बिगाड़से—मंदाग्निके कारण, शरीरमें मलका—विजातीय द्रव्यका, संग्रह होता है और उस मलमें उद्वेग होनेसे सभी रोग पैदा होते हैं। आचार्य वाग्भटने यही बात इस प्रकार कही है:—

रोगा सर्वेऽपि मंदेऽग्नौ सुतरामुदराणि च ।

अजीर्णान्मलिनैश्चाग्नेः जायन्ते मलसंख्यात् ॥

(निदानस्थान अ० १२, श्लो० १)

सुश्रुतमें कहा है कि—

सर्वेषां हि रोगाणाम् निदानं कुपिता मलाः ”

अर्थात् सभी रोगोंका निदान कुपित हुए मल—लुई कुहनेकी भाषामें उद्भिन्न विजातीय द्रव्य, हैं।

पृथ्वीपर पदार्थ पाँच अवस्थाओंमें पाया जाता है; शून्य अवस्था (अनुभवगम्य अवस्था Etherial State) वायवीय अवस्था (Gaseous State) उष्ण या आग्नेय अवस्था (State of

Combustion) जलीय या तरल अवस्था तथा पृथ्वी या ठोस अवस्था । लोकमान्य टिळक प्रभृति अन्तर्दृष्टिवाले विद्वानोंद्वारा प्रतिपादित सांख्यसिद्धान्तके अनुसार इन पाँच अवस्थाओंका नाम ही आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तत्त्व हैं । प्राणि-शरीरमें जब पदार्थ इन पाँच अवस्थाओंमें पाया जाता है । रोगशास्त्रकी दृष्टिसे शरीरमें आकाश और पृथ्वी तत्त्वको विशेष महत्त्व प्राप्त नहीं है । बाकीके वायु, अग्नि और जल तत्त्वोंको आयुर्वेदिक परिभाषामें वात, पित्त और कफ कहा है शरीरमें मल इन तीनों रूपोंमें पाया जाता है ।

कोई भी वस्तु किसी भी स्थानमें बहुत समय तक अपरिवर्तित अवस्थामें नहीं रहती । उसमें परिवर्तन होने लगता है । इसी तरह शरीरमें स्थित विजातीय द्रव्य भी बहुत दिनोंतक अपरिवर्तित नहीं रह सकता । वह सड़ने लगता है और दूषित दुर्गन्धयुक्त वायुरूपमें परिणत होने लगता है । यह दूषित वायु शरीरमें फैलने लगती है तथा शुद्ध वायु, अग्नि और जल तत्त्वोंमें प्रवेश करके उपद्रव खड़े कर देती है । दूषित वायुके इसी उपद्रवको कुहने साहब उद्देग कहते हैं तथा आयुर्वेदमें इसीको मलोंका कोप कहा है । वाग्भट सूत्र स्थानमें कहा है:—

पित्तं पंगुः कफः पंगुः पंगवो मलधातवः ।

वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥

अर्थात् पित्त लुंजा है, कफ लुंजा है और समस्त मल-धातुएँ लुंजाकी हैं । वायु उन्हें जहाँ ले जाती है बादलोंके समान वे वही चली जाती हैं ।

शरीरमें वायु अम्ल या खटाईके रूपमें है जो भोजनको पचानेके लिए आवश्यक है । दूषित वायु इस खटाईको पेटके उपयुक्त स्थानसे व्युत्पन्न करके खूनमें मिला देती है । हड्डीपर सिरका डालनेसे जो असर होता है वही असर खटाईवाले खूनका हड्डियों और नाडियोंपर होता है । परिणाम-स्वरूप हड्डियाँ और नाडियाँ निर्बल होकर दृढ़ आदि करने लगती हैं । जोड़ोंमें इस खूनको विशेष रुकावट मिलती है, इस कारण इस खटाईका असर जोड़ोंकी हड्डियोंपर विशेषतासे होता है और वे खूब दर्द करती हैं ।

भोजनके पाचनके लिए उष्णताकी या अग्निकी भी अनिवार्य आवश्यकता है परंतु दूषित वायुके कोपसे शरीरमें गर्मी बनावे रखनेवाले

खावोंमें, जो कि क्षारीय और तखे होते हैं, गड़बड़ी आ जाती है और वे खूनमें मिल जाते हैं। खूनमें मिले हुए ये तीखे रस, जिनमें कि यकृतका खाव मुख्य तौरसे होता है, स्थान-स्थानपर मिर्च-राई-लॉंगके समान अनावश्यक गर्मी और प्रदाह पैदा कर देते हैं। इसे ही हम पित्तका प्रकोप कहते हैं। सभी प्रकारके बुखार विशेषतासे पित्तके प्रकोपसे होते हैं।

जिस प्रकार शरीरमें खटाई और उष्णताकी उत्पादक ग्रन्थियाँ है उसी प्रकार कफोत्पादक ग्रन्थियाँ भी हैं जिनका खाव भी पाचनके लिए आवश्यक है। परंतु कुपित या दूषित वायु इसमें भी गड़बड़ी पैदा कर देती है और परिणाम स्वरूप कफकी बीमारियाँ होती हैं।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि आयुर्वेद-सिद्धान्तमें और कुहनेके सिद्धान्तके मूलमें कोई अंतर नहीं है। त्रिदोषका सिद्धान्त जो कि किसी प्रकार भी आयुर्वेदके अनुसार रोगोंका मूल नहीं कहा जा सकता भूलसे रोगोंका मूल कारण माना जाने लगा है और इसी गलतीके कारण हमें दोनों सिद्धान्तोंमें पार्थक्य दिखने लगा है।

जो दिग्भ्रम त्रिदोषवादको अनावश्यक महत्त्व देनेके कारण हुआ है वही दिग्भ्रम वस्तुमान आयुर्वेदकी चिकित्साप्रणालीमें भी हुआ है। डाक्टरोंका अनुकरण करके वैद्य भी रोगके मूलकारणको दूर किये वगैर केवल रोगको दबा देनेके सतत प्रयासमें रहने लगे हैं। त्रिदोषसिद्धान्तको अनावश्यक तूल देना भी इसका एक कारण है।

प्राचीन आयुर्वेदमें चिकित्साकी तीन विधियाँ हैं, शोधक चिकित्सा, शामक चिकित्सा और शोधक-शामक चिकित्सा। शोधक चिकित्सामें रोगका जड़से नष्ट करनेके लिए मूल कारणपर कुठाराघात किया जाता है, शामकमें रोगका अवांछित परिणाम न हो इस लिए तत्काल रोगको दबाया जाता है तथा शोधक-शामक चिकित्सामें शोधन और शामन दोनों धीरे धीरे किया जाता है। आजकल वैद्य लोग केवल शामक चिकित्सा ही करते हैं और जहाँ रोग दबा कि रोगी भी अधिक दिन वैद्यजीकी रुपया खिलाना नहीं चाहता और चल देता है। पिछले दिनोंमें जबसे कि रसवैद्यकका प्रसार हुआ है तबसे तो मानो शोधक-चिकित्साविधिकी जड़में ही कुठाराघात हो गया है।

काष्ठौषधिवाँ और जड़ीबूटियों, जिनमेंसे अधिकांश शोधक होती हैं, दिनपर दिन कम प्रयुक्त होने लगी हैं और उनका स्थान अप्राकृतिक

तथा अतिशय हानिकारक रस, मात्राएँ और भस्में लेती जा रही हैं जो रोगोंको अधिकाधिक दबाकर मनुष्यजातिको निस्तेज और निर्वीर्य कर रही हैं । कुटीप्रवेश आदिकी प्राचीन प्रक्रियाएँ नष्ट हो चुकी हैं । चिकित्साकी प्राचीन पद्धति जो इस प्रकार थी—

प्राक्पाचनं स्नेहविधिस्ततश्च स्वेदस्ततः स्याद्वमनं विरेकः ।
निरुद्धणं स्नेहनवस्तिकर्म नस्य क्रमश्चेति भिषग्वराणाम् ॥
अब कहीं भी देखनेमें नहीं आती ।

एलोपैथी तथा आयुर्वेदिक पद्धतिसे भी विषोंद्वारा रोग दबाये जानेके कारण असंख्य जनतामें आयुर्वेदमें वर्णित दूषीविषके लक्षण उत्पन्न हो गये हैं जो स्पष्ट ही देखे जा सकते हैं । लुई कुहनेने अनेक स्थानोंमें स्पष्ट रूपसे उल्लेख किया है कि औषधि-रूपमें प्रयुक्त विष शरीरमें पहुँचकर रोगको दबा देता है और स्वयं श्लेष्मा या कफकेद्वारा आवृत होकर शरीरमें वर्षों बना रहता है और उनकी पद्धतिके द्वारा चिकित्सा करनेपर पुनः अपने पुराने रूपमें—अपनी उसी गंध और वर्णके साथ—शरीरके बाहर निकाला जाता है । दूषी विषके संबंधमें आयुर्वेदमें भी यही बात कही गई है कि वह जीवनीशक्तिकी बन्धीके कारण कफमें आवृत होकर वर्षों रहता है (वीर्याल्पभावाज्जनिपातयेत्तत्कफावृतं वर्षगणानुबन्धि) । विभिन्न विषोंके परस्पर मिश्रण तथा विभिन्न उपायोंद्वारा तीव्रताको कम करके दिये गये विष, जैसे कि आजकल ऐलोपैथिकादि पद्धतियोंद्वारा रोगनिवारणके लिए दिये जाते हैं, इस दूषीविषकी श्रेणीमें ही आते हैं और उनके उत्तर विकार भी दूषीविषके विकारोंकी समकोटिमें ही हैं । अपनी बातकी पुष्टिमें हम सुश्रुतसे निम्न श्लोक उद्धृत करते हैंः—

यत्स्थावरं जंगमकृत्रिमं वा देहादशेषं यदनिर्गतं तत् ।
जीर्णं विषग्नौषधिभिर्हृतं वा दाबाग्निवातातपशोषितं वा ॥
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति ।
वीर्याल्पभावाज्जनिपातयेत्तत्कफावृतं वर्षगणानुबन्धि ॥
आमाशयस्थे कफवातरोगी पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी ।
स्थितं रसादिष्वथतद्यथोक्तान् करोति धातुप्रभवान्विकारान् ॥
ततः करोत्यन्तमदाविपाकमरोचकं मंडलकाठजन्म ।
धातुक्षयं पादकराक्षिशोथं दकोदरं छर्दिमथातिसारम् ॥
दूषीविषं द्वास्तृषाज्वराश्च कुर्यात् प्रवृद्धिं जठरस्य चापि ।

वैषण्यमूर्छाविषमज्वरान्वा कुर्यात्प्रवृद्धां प्रबलां तृषां वा ॥

उन्मादमन्यजनयेत्तथान्यदानाहमन्यत्क्षपयेच्च शुक्रम् ।

गात्रद्यमन्यजनयेच्च कुष्ठं तांस्तान्विकारांश्च बहुप्रकारान् ॥

(भावार्थ—स्थावर, जंगम अथवा कृत्रिम किसी भी तरहका विष हो यदि वह शरीरसे संपूर्ण रूपसे न निकाल दिया गया हो, बहुत पुराना हो गया हो, विषजन औषधियोंके साथ मिश्रित करके कम-ताकत कर दिया गया हो, आगमें फूँक करके, वायु और धूपमें सुखा करके कम-असर कर दिया गया हो अथवा स्वभावसे ही जो कुछ कम गुणवाला हो तो वह दूषीविषत्वको प्राप्त होता है । शरीरमें वीर्यकी कमीके कारण अथवा विषमें अपनी स्वाभाविक ताकतकी कमीके कारण वह कफके द्वारा आवृत होकर शरीरमें वर्षांतक ठहरता है । यह दूषी विष आमाशयमें रहनेपर कफ और वातके रोग होते हैं, पक्वाशयमें रहनेपर वायु और पित्तके रोग होते हैं, रसादिमें स्थित होनेपर धातुविकार होते हैं । इसी प्रकार खाये हुए अन्नको शराब बनाकर अन्नमदके विकार, अरोचक, मंडल, धातुक्षय, छर्दि, अतिसार श्वास, तृषा, ज्वर, मेदोरोग, विवर्णता, मूर्छा, विषमज्वर, प्यास, उन्माद, शुक्रपतन, गदगदता, कुष्ठ रोग आदि रोगोंका कारण होता है ।)

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि वर्तमान सभ्यताके शापरूप नित्य नये नये उत्पन्न होनेवाले रोग इस दूषीविषके परिणाम ही हैं जो कि डाक्टरों और वैद्योंके द्वारा रोगियोंको सेवन कराया जाता है । यह विष शरीरके विभिन्न अंगोंमें स्थित होकर विभिन्न दोषोंको उत्पन्न करता है । दुर्बलता और मेदोवृद्धि तो इसके अत्यंत साधारण परिणाम हैं जो कि वंशपरंपरासे दिनपर दिन बढ़ते जा रहे हैं । बालोंका बचपनमें ही सुफेद हो जाना और वंश-परंपरासे ऐसा होते जाना ऐसे ही किसी दूषीविषका ही परिणाम है जो रसों-मात्राओं और ऐलोपैथीकी दवाइयोंके किसी समयके सेवनसे हुआ होता है ।

डा० लुई कुहनेकी जल-चिकित्सा शोधक और शामक दोनों ही है । आयुर्वेदकी प्राचीन शोधक चिकित्सा-प्रणालीमें यह विधि एक नये प्रयोगकी वृद्धि करती है । आशा है कि जनता तथा चिकित्सक लोग इसका समुचित आदर करेंगे ।



जन्म फाल्गुन १९४२]

[मृत्यु श्रावण १९८९

स्वर्गीय साहू रामकुमारजी रईस, ठाकुरद्वारा (मुरादाबाद)

भूमिका

“ परमेश्वरकी कृपासे जल-चिकित्साकी पुस्तकका यह अनुवाद प्रकाशित हो रहा है । जल-चिकित्सासे मुझे हार्दिक प्रेम है । मेरी दृष्टिमें संस्कृत साहित्यमें श्रीमद्भागवतका जो स्थान है, हिन्दी साहित्यमें गो० तुलसीदासजीके रामचरित-मानसका जो स्थान है, चिकित्सासम्बन्धी ग्रन्थोंमें जर्मनीके तस्वद्रष्टा महात्मा लुई कूनेके ग्रन्थका भी वही स्थान है । अपने कुकर्मों और प्रकृतिके नियमोंकी अवहेला करनेसे उत्पन्न हुए, मूलमें एक किन्तु बाहरसे असंख्य दिखाई देने-वाले, रोगोंसे घिरे हुए मानव-समाजके लिए यह ग्रन्थ सच्चा मित्र है । यद्यपि इस ग्रन्थके कई संक्षिप्त-विस्तृत अनुवाद हिन्दीमें प्रकाशित हुए हैं; किन्तु उनसे मेरा मनस्तोष नहीं हुआ, मैंने ‘स्वान्तःसुखाय’ तथा अपने घरके लोगोंके परिज्ञानके लिए, मूल ग्रन्थ (मेरा मतलब अंगरेजी संस्करणसे है) के भावोंकी रक्षा करते हुए इस ग्रन्थका अनुवाद आरम्भ किया था । घरमें बालकों और स्त्रियोंकी चिकित्साके सम्बन्धमें जब कोई कठिन समस्या उपस्थित होती थी तब घरके लोग मेरी अनुपस्थितिमें उस रोगका वर्णन इस अनुवादमें देखकर यथाबुद्धि अपना भ्रम-निवारण कर लिया करते थे । बस, मेरे लिए इसकी इतनी ही उपादेयता थी । एक मतलब और भी था; अनुवादके बहाने मुझे मूल ग्रन्थको बारबार पढ़ने और विचारनेका अवसर प्राप्त होता था । उससे मुझे यह लाभ हुआ कि ग्रन्थकारके आशयको समझनेमें मुझे उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त होती गई । जब यह अनुवाद पूरा हो गया तब मेरे कुछ मिलनेवालोंने इसे प्रकाशित करनेकी सलाह दी । इस अनुवादको ठीक बनानेमें मैंने अपनी ओरसे यथाशक्ति कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी है । यदि इसे हिन्दी भाषाके प्रेमियोंने पसन्द किया और इससे कुछ लाभ उठाया तो

मुझे बहुत सन्तोष होगा। इस जगह, इस चिकित्सापद्धतिकी ओर मेरी रुचि किस प्रकार हुई और इससे मुझे और मेरे घरवालोंको कितना लाभ पहुँचा, इसका संक्षिप्त विवरण देना, आशा है प्रसंगविरुद्ध, न होगा।

“सन् १९०४ या ५ में मैंने पहली बार जलचिकित्साका नाम सुना। यहाँके पं० कृष्णस्वरूप श्रोत्रिय वकीलने इस पुस्तकका उर्दूमें अनुवाद किया था, उनसे भी कभी कभी इस विषयमें बात-चीत हो जाती थी किन्तु मेरी उधर प्रवृत्ति नहीं हुई। कारण यह कि यह चिकित्सापद्धति हमारे संस्कारोंके सर्वथा विरुद्ध है; दूसरे, इसके जाननेवालोंमें रोगियोंके प्रति सहानुभूतिका प्रायः अभाव देखनेमें आया है। कोई १७-१८ वर्ष बीते एक दिन मैं अपने नगरके डि० कलेक्टर श्रीमान् लाला रामप्रतापसिंह महोदयसे भेंट करने उनके स्थानपर गया था। उन दिनों मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। वहाँ जानेपर मालूम हुआ कि डिप्टीसाहब ‘बाथ’ ले रहे हैं; कोई आध घंटा बाद वे बाहर आये। मुझे कुछ सुस्त देखकर उन्होंने मेरे स्वास्थ्यके सम्बन्धमें कुछ पूछ-ताछ की। मैंने अपनी शिकायतें उन्हें सुनाई। उसी प्रसंगमें जल-चिकित्साकी बात चल पड़ी। डाक्टरोंसे पीछा छुड़ाकर जलचिकित्सा करनेका परामर्श उन्होंने मुझे दिया। मैं भी दवा और डाक्टरोंसे प्रसन्न न था और मैंने उनकी सलाह मान ली। यह कोई १७-१८ वर्षकी बात है। उस दिनसे आज तक इस चिकित्सा-पद्धतिके प्रति मेरा अनुराग और श्रद्धाका भाव बढ़ता ही गया। मेरे हृदयमें जो आदर भारतवर्षके प्रातःस्मरणीय ऋषि-मुनियोंका है वही इस चिकित्साके प्रवर्त्तक मनुष्यमात्रके सच्चे उपकारी डाक्टर लुई कुनेका है। यद्यपि आज भी मैं पूर्ण स्वस्थ नहीं हूँ; किन्तु रोग, उसकी उपपत्ति, उसका अन्तर्विलीन भाव, उसका विलय और विनाश आज जैसा मुझे सुस्पष्ट दिखता है और उससे जिस आत्म-प्रत्ययकी मनमें उत्पत्ति होती है, वह १५-१६ वर्ष पहले कहाँ थी। तब तो रोग एक भयानक शत्रु दिखता था। हकीम-डाक्टर उसकी जितनी बिभीषिका दिखाते थे, मन उससे कहीं अधिक अभिभूत हो जाता था; किन्तु आज वही रोग एक उपकारी मित्रके रूपमें दिखाई देता है, उसे देखकर मन डरता नहीं किन्तु यह समझता है कि इसके आनेसे पिछला संचित दुर्द्रव्य-रूप पाप शरीर-से बहुत-कुछ बाहर निकल जायगा। थककर सोनेमें जो सुख मिलता है, भूखमें आहार जो आनन्द देता है, विपत्तिमें ईश्वर और धैर्यका आश्रय लेने से जो शान्ति प्राप्त होती है वही, रोगके बाद, मनुष्यको मिलनी चाहिए,

यदि उसका शमन न कर दिया गया है, दवा-दारुके बोझसे दबा न दिया गया है। रोगके बाद ऐसी अनुभूति होना चाहिए कि शरीर हल्का हो गया और कोई बोझा सिरसे उतर गया। यदि यह अनुभूति नहीं होती तो समझना चाहिए कि प्रकृति रोगके अन्तसे शरीरके शत्रुओंका नाश करके शरीरका जो उपकार करना चाहती थी उसमें विघ्न डाल दिया गया। झूठे भिन्नसे जिस तरह सच्चा शत्रु अच्छा होता है उसी तरह झूठे स्वास्थ्यसे रुग्णावस्था अधिक कल्याण करनेवाली होती है। विचारदृष्टिका यह कोण, या स्वास्थ्यके सम्बन्ध-में यह अन्तर्दृष्टि, इस पद्धतिके अनुसरण करनेवालेवालोंको ही प्राप्त हो सकती है। मेरी दृष्टिमें इस चिकित्सा-तत्त्वके अनुशीलनका यह सबसे अच्छा और सबसे बड़ा लाभ है जो मुझे पहुँचा।

“ लोगोंके आहार-विहार आदिके नियमोंके उलट-फेरसे उनमें पूर्ण स्वस्थ मनुष्य तो बहुत ही कम दिखाई देते हैं। दो प्रकारके मनुष्य ही मिलते हैं; जो रोगी तो हैं किन्तु उन्हें कोई विशेष पीड़ा नहीं है, या वे जो पीड़ित हैं। जिन्हें कोई पीड़ा नहीं है, चाहे उन्हें भोजन हज्म न होता हो, नींद अच्छी न आती हो, परिश्रम न कर सकते हों, फिर भी वे अपनेको तन्दुरुस्त समझते हैं और ऐसे ही मनुष्योंकी अचानक मृत्यु या उनके किसी भयङ्कर रोगके प्रादुर्भावका हाल सुनकर लोग चकित हो जाते हैं। दूसरे प्रकारके मनुष्योंको सब रोगी समझते हैं और वे भी स्वयं अपनेको रोगी मानते हैं, किन्तु उस रोगके प्रकट होनेसे पहले, रोगके मन्द अवस्थामें मौजूद होनेपर, भी न उन्होंने स्वयं अपनेको रोगी जाना था न दूसरोंने ही उन्हें रोगी समझा था। आदमी चलता-फिरता रहे और उसे कोई विशेष कष्ट न हो तो वह स्वस्थ ही समझा जाता है। ऐसा स्वस्थ मनुष्य, जिसमें सच्चे स्वास्थ्यके लक्षण तो विद्यमान नहीं हैं किन्तु जिसे सब स्वस्थ समझते हैं और जो स्वयं भी अपनेको रोगी नहीं समझता, उस बीमारसे, जो कष्टके कारण हाय हाय कर रहा है या बेहोश पड़ा है, कहीं अधिक ख़तरमें है; और क्यों है इसका जैसा सुन्दर प्रतिपादन इस ग्रन्थमें किया है, वैसा कदाचित् किसी अन्य ग्रन्थमें नहीं हुआ। मनुष्यको जब सच्चे स्वास्थ्यका लक्षण और स्वरूप मादूम होता है, तब वह रोगीका लक्षण बिना बताये ही जान जाता है। व्याधि जब मन्द अवस्थामें शरीरमें पड़ी रहती है और उसके शमनका उपाय नहीं किया जाता

तब, थोड़ासा बाहरी उत्तेजन पाकर ही, वह विकटरूपमें प्रकट हो जाती है; उस समय स्वास्थ्य और आरोग्यके तत्त्वसे अनभिज्ञ लोग आश्चर्यमें पड़कर कहने लगते हैं कि अमुक मनुष्य कलतक तो अच्छा था और आज अचानक बीमार पड़ गया। कूनेके सिद्धान्तको समझनेवाला व्यक्ति कभी ऐसे प्रमादमें नहीं पड़ सकता। वह 'अमुक मनुष्य' को पहलेसे बीमार जानता था और समझता था कि उसके शरीरमें मन्दव्याधिके रूपमें स्थित दुर्द्रव्य किसी दिन अवश्य फूटगा। साधारण जनताको ही यह धोखा नहीं लगता; अनेक हकीम डाक्टरोंको भी जब हम ऐसा आश्चर्य करते देखते हैं तब सहसा हालीका वह अमर पद्यांश स्मृतिपथमें आ जाता है—

“मरीजोंका इनके निगहबाँ खुदा है।”

“इस चिकित्सापद्धतिके अनुशीलन करनेसे यह दूसरी दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। डॉ० लुई कूनेका चिकित्सा-तत्त्व अद्वैत सिद्धान्तका अनुगामी है। सब दार्शनिक सिद्धान्तोंमें अद्वैत सिद्धान्तका जो स्थान है और जिसके लिए शास्त्रोंमें कहा गया है कि उसे जान लेनेपर कुछ जानना शेष नहीं रहता वैसा ही इसका भी हाल है। एक सत् वस्तु जिस प्रकार विभिन्न रूपों और नामोंमें प्रतीयमान हो रही है, एक सुवर्ण ही आभूषणोंमें जिस प्रकार अनेक रूप और नाम धारण करता है, उसी प्रकार, डा० कूनेके मतमें, एक असत् वस्तु, जिसका उसने पारिभाषिक नाम 'दुर्द्रव्य' रक्खा है, अनेक रोगोंके रूप और नामसे मानव-जगत्में क्यों—समस्त जीवोंमें—और जीवोंमें अवश्य कम और मनुष्योंमें उसकी विकृत बुद्धि और भयङ्करी सभ्यताके दोषसे अधिक परिमाण और संख्यामें—प्रकट और प्रस्फुरित हो रहा है। रोगोंका यह एकात्मवाद डा० कूनेका बिल्कुल अपना आविष्कृत सिद्धान्त है। किसीने या तो इसपर इस दृष्टिसे विचार नहीं किया और यदि किया हो, जिसका इन पंक्तियोंके लेखकको पता नहीं, तो उसपर इतना जोर नहीं दिया। विभिन्न रोगोंके निदानका झमेला इस पद्धतिमें नहीं है। इस दुयोध और संश्लिष्ट विषयको मिथ्या प्रमाणित कर डा० कूनेने मनुष्य जातिका बहुत बड़ा उपकार किया है। वह समाधिका संशोधक है—व्यष्टिका उपासक नहीं। उसका निदान-पथ जलकी धाराकी तरह निर्मल और स्वच्छ है, धूपकी तरह उज्ज्वल है, वायुकी तरह परिचित है, उसमें भटकने और बहकनेका भय नहीं। किसीके कानमें कष्ट हो या मन भिचलता हो, पेटमें पीड़ा

हो या ज्वर चढ़ रहा हो, अतिसार हो गया हो या कोष्ठबद्धता हो, तो उसके लिए अलग एकदेशीय निदान करनेका कुछ काम नहीं । सबका निदान एक ही है; उसके लिए उन उन अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके विशेषज्ञ महापुरुषोंको लम्बी लम्बी पीस देनेकी और उनका अभूत्य समय नष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं, धैर्यके साथ दयार्द्र-हृदया प्रकृति माताकी शरण जनिकी आवश्यकता है—दुर्द्रव्य रूप विषको समुचित उपायोंसे बाहर निकाल देनेसे ही ये सब मूलमें एक और नाम-रूपोंमें अलग अलग रोग, शरीरमें जीवन-शक्तिके विद्यमान होनेपर, दूर हो जायेंगे । डा० कूनेने पट्टी धोनेमें ही विज्ञानकी इतिश्री नहीं कर दी है, उसने घावको उत्पन्न करनेवाले विषको पकड़कर बाहर निकालनेमें अपनी विजय घोषित की है । यह तीसरा लाभ इस पद्धतिके द्वारा प्राप्त होता है ।

“छूतके रोगोंके सम्बन्धमें, डाक्टरकी व्यवसाय करनेवाले लोगोंने, जो अनेक विचित्र मन्तव्य लोगोंमें प्रकट करके उनमेंसे दया और सहानुभूतिका स्वाभाविक भाव नष्ट करके एक कठोर और अमानुषिक भावकी सृष्टि की है, उसपर भी डा० कूनेने बहुत अच्छा प्रकाश डाला है । उसको प्राप्त करके मनुष्य बहुत कुछ निर्भय हो सकता है और दुखी और कष्ट पानेवाले आत्मीयकी शान्त-चित्ततासे शुभ्रपा कर सकता है । पूर्ण-स्वास्थ्यके न होनेसे बाहरसे प्रविष्ट विष उत्पात कर सकता है और उसके लिए हमें सावधान रहनेकी आवश्यकता है; फिर भी यदि हम रोग उत्पन्न होनेके कारणको ठीक रीतिसे समझ लें तो, हमारा भ्रम भय और शङ्कासे छुटकारा हो सकता है और उचित उपायोंके द्वारा हम अपनी बाहरी शत्रुसे बहुत अच्छी तरह रक्षा कर सकते हैं । यदि एक पात्रमें बारूद और दूसरेमें जल भरा रक्खा हो, या जलकी तरह अनुत्तेजक रेत अथवा और कोई पदार्थ भरा हो, और वे दोनों पात्र खुले हुए किसी जलती हुई अँगीठीके पास रखे हुए हों तो, स्फुलिंगसे उनमेंसे कौन विपन्न हो सकता है ? यदि बारूदसे भरा पात्र स्फुलिंगसे घबड़ाकर उससे दूर दूर भागता फिरे, परन्तु उस बारूदको अपने भीतरसे न निकाले तो यह, उसका घबड़ाहट और शङ्काका जीवन, उस विस्फोटसे कहीं अधिक कष्टप्रद होगा; और फिर भी वह विस्फोटसे बच नहीं सकता—उस दौड़धूपकी गर्मीसे ही स्फुलिंग उत्पन्न हो जायगा । डा० कूनेने वह उपाय बताया है कि वह बारूद पात्रसे निकल जाय या उसे ऐसी स्थितिमें कर दिया जाय कि स्फुलिंगके छूते ही उसमें धड़का

न हो सके । मनुष्य-जातिपर यह उसका कितना बड़ा उपकार है, यदि हम उस उपायसे लाभ न उठायें तो हम अपनी कितनी हानि कर रहे हैं ।

“मैंने प्रायः लोगोंको कहते सुना है कि जल-चिकित्सामें परहेज बहुत है और साधारण आमदनीका आदमी उसे कर नहीं करता । यह एक बहुत ही बड़ा मिथ्या आक्षेप है जो इस पद्धतिपर लोग बिना सोचे-समझे कर रहे हैं । छोटी स्थितिका आदमी भी, जब उसके यहाँ कोई बीमार पड़ता है, तो २५० फीसके डाक्टर-वैद्यको अवश्य बुलाता है; यदि डाक्टर साहब ४ बार भी आये तो ८५० फीसके, २५० गाड़ीके और कमसे कम २५० ओषधिके उसे खर्चने पड़ते हैं । इलाज बदलना पड़े तो और भी उसपर मार पड़ जाती है । इस चिकित्सामें सिवाय जलके और कोई खर्च नहीं । टब न हो तो नौदसे भी काम चल सकता है । मट्टी और टाट भी बहुत ही कम कीमतकी चीज़ें हैं । परहेज तो कुछ भी नहीं । ८-१० और कभी कभी २०-२५ दिन और इससे भी ज्यादा जब मनुष्य लंपन कर सकता है, हकीम वैद्योंके एक चम्मच मूँगकी दालका पानी, बतावो पड़ा पतला दूध-वह भी जी भरके नहीं—हफ्तों पी सकता है, तो इसका परहेज तो उसके सामने कुछ भी नहीं है । भूख लगे तो फल-रोटी, दूध कुछ खा ले । बीमारीमें तो कोई भी मिर्च-मसाला नहीं खिलाता; यह पद्धति भी इसका बहिष्कार करती है । यदि हम सात्विक भोजन करनेकी अपनी रुचि बना लें, और जो कुछ काल इस चिकित्साका अभ्यास करनेपर बन जाती है, तो हम समझेंगे और देखेंगे कि कितने थोड़े खर्चमें हम कैसा स्वादिष्ट भोजन करते हैं और इससे हमें कितना लाभ पहुँचता है । एक बार मुझे ज्वर चढ़ रहा था, कोई रातको ९ बजे मुझे भूख मालूम हुई, मैंने सोचा यदि यह भूख बढ़ गई तो रात बेचेनीसे कटेगी । मैंने कुछ फल माँगे, नौकरने एक थालीमें ४-५ तरहके फल तराशकर और साफ़ करके मेरे सामने रखे । उस समय मेरे एक मित्र भी, जो दवादारूके बहुत भक्त थे, मेरे पास बैठे हुए थे; मैंने उनके लिए भी फल मँगाये । उन्होंने कहा यह आप क्या ग़ज़ब करते हैं; रातमें और चढ़े ज्वरमें आप सन्तरा खाते हैं और मुझे भी खिलाते हैं ! मैंने कहा कि आप सन्तरा न खाइए दूसरे फल खा लीजिए । उन्हें सन्तरा और सेब, टंडा, केला काबिज और अनार ख़ाँसी पैदा करनेवाला ज़ैचा—कुछ खानेकी उनकी हिम्मत न हुई । मैंने भूखका ध्यान रखते हुए और आवश्यक-

कंताका तारतम्य सोचते हुए उसमेंसे थोड़ेसे फल खा लिए। मेरे मित्र बड़ी चिन्तामें पड़ गये। जब प्रातः काल वे मुझसे मिलने आये और उन्होंने मुझे लिखते पढ़ते देखा तब उनकी चिन्ता दूर हुई और उन्होंने कहा कि इस इलाजमें तो कुछ भी परहेज नहीं है। मैंने उन्हें समझाया कि परहेज तो जरूर है किन्तु उसकी वह बिभीषिका नहीं है, दूसरे अपना इलाज आप करते करते मनमें वह काँटा पैदा हो जाता है जो पथ्य और कुपथ्यको ठीक ठीक तौल देता है। आपको ज्वरमें भूख लगे, और साथ ही आपका मन बेसनकी पकौड़ी खाना चाहे, तो आपका उस समय यह काम होगा कि ऐसी गरिष्ठ कोई चीज़ न खायें। उसकी जगह सन्तरा खाना बहुत Safe है, खड़ीको जी चाहे तो थोड़ासा ताज़ा दूध (बिना औँटया हुआ और बिना शकर डाला हुआ) पी सकते हैं। यदि आप इतना हिसाब जोड़ सकते हैं तो आपको परहेजका कष्ट कुछ भी मालूम न होगा। साथ ही आप सच्ची और झूठी भूखके भेदको भी पहचानते हों। उस दिन मेरे एक मित्र कहते थे कि घरसे मैं अच्छी तरह खा-पी-कर स्कूलमें पढ़ाने गया और वहाँ जाकर मेरी तबीयत इतनी खराब हुई कि रेचन और वमन होकर मूर्च्छा आ गई। मैंने उनसे कहा कि आपने बिना भूख भोजन किया था और आपकी तबीयत उससे पहले भी अच्छी न थी। यदि वे अपनी तबीयतको ठीक समझनेवाले होते, तो एक दिन पहलेसे भोजन न करते और यदि आवश्यकता होती तो बहुत हल्की कोई चीज़—दूध फल या सुनक्का थोड़ीसी खा लेते तो यह स्थिति कभी उत्पन्न न होती। उन्होंने इस बातको माना किन्तु दो दिनके उपवासके बाद उन्होंने भूँगके चीलोंसे पारणा की और रोगका सूत्र विच्छिन्न न होने दिया ! ”

* * * *

मुग़दाबादके सुप्रसिद्ध विद्यानुरागी और विद्वान् रईस साहू रामकुमारजीकी आज्ञासे ऊपरका यह अंश उनकी ओरसे मैंने लिखा था जिसे उन्होंने देख भी लिया था। उसके बाद वे एकाएक बीमार पड़ गये और स्वर्गकी सिंधार गये। वास्तवमें, जल-चिकित्साके तत्त्वको समझने-वाले और उसपर आरुढ़, उनके समान व्यक्ति बहुत कम होंगे। एक प्रकारसे उन्होंने अपने शरीरको ही जल चिकित्साकी भेंट कर दिया। जब

उनको कारबंकिल हुआ तब डॉक्टरके बतानेसे पहले ही उन्हें अपने रोगकी भीषणताका पता लग गया था । रोग प्रगट होनेके ४-५ दिन बाद ही उन्होंने इन पंक्तियोंके लेखकेस कहा था—‘ पण्डितजी, यह साधारण फोड़ा नहीं है, कारबंकिल है । ’ १०-१५ दिनके बाद उनसे किसी सज्जनने प्रश्न किया कि साहू साहब, आपको कष्ट बहुत है ? इसपर उन्होंने उत्तर दिया “ यदि किसी ऐसे रोगीकी चिकित्सा मुझे करना पड़ती तो भी मेरे पाँव उखड़ जाते और अब तो मैं ही रोगी और चिकित्सक दोनों हूँ । ’ यह सब जानते हुए भी उन्होंने एक क्षणके लिए जलचिकित्सा छोड़नेका संकल्प नहीं किया और जब तक उन्हें होश रहा बराबर यही चिकित्सा करते रहे । आज उनके बाद यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है, आशा है इससे उनकी दिवंगत आत्माको सन्तोष होगा ।

बम्बई }
अक्षयतृतीया १० }

खिन्न
ज्वालादत्त शर्मा



विषयानुक्रम

प्रथम भाग

१—नवीन चिकित्सा-विज्ञानका आविष्कार कैसे हुआ ?

ग्रंथकर्ता और उनकी बीमारी—पुरानी चिकित्सा
प्रणालीका परिचय और अध्ययन—अपनी चिकित्सा—
अपने चिकित्सालयकी स्थापना,—ऐलोपैथी होमियोपै-
थी आदिकी आलोचना—मलत्यागसे पाचनकी
परीक्षा..... पृष्ठ १ से १८

२—रोग कैसे उत्पन्न होता है ? ज्वर क्या है ?

रोगी शरीरमें रूपान्तर—मुख और गर्दनमें विशेष
परिवर्तन—परिवर्तनका उद्गम-स्थान पेड़—दूषित द्रव्य
—शिराओंमें उसका सञ्चय—त्वचाके रंगमें परिवर्तन
—दूषित पदार्थ और गुरुत्वाकर्षण—शरीरकी दूषित
पदार्थको निकालनेकी चेष्टा—रोगकी नूतन परिभाषा—
उत्सर्गमार्ग—उनकी कर्तव्य-पालनमें शिथिलता—अप्रा-
कृतिक आहार—उससे उत्पन्न होनेवाली पाचनशक्तिकी
निर्बलता—विजातीय द्रव्यकी परिभाषा—उसका शरीर-
पर असर—संचयका प्रारंभिक स्थान हृद्—उससे
शारीरिक वृद्धि और पोषणमें रुकावट—उसका स्वरूप—
उद्वेग-क्रियासे जीवाणुओंकी उत्पत्ति—जीवाणुओंसे उद्वेग-

जनक पदार्थमें परिवर्तन—गर्मी—उद्वेगके निमित्तकारण—
 उद्वेग क्रियाका उत्पत्तिस्थान पेड़—कब्जके कारण—
 उसके शमनमें विक्षेप—मानव-शरीरकी मध्यकी बोटलसे
 तुलना—ज्वरकी परिभाषा—उद्वेगके बाहरी लक्षण—
 गर्म देशोंमें भयंकर ज्वरोंकी और शीत देशोंमें मंद व्याधि-
 योंकी अधिकताका कारण—ज्वरमें चेहरेकी तमतमाहटका
 कारण—ज्वरमें मृत्यु क्यों होती है ?—विशिष्ट अंगोंपर
 असर और उनकी व्याधियाँ—ज्वरके पहले ठंडसी मालूम
 होनेका कारण—रोगके पूर्व हाथ-पाँव ठंडे रहनेका कारण
 —कीटाणुओं और संसर्ग-दोषसे रोगोत्पत्ति होती है,
 इस सिद्धान्तका खंडन—कुछ उदाहरण—नीरोगताका
 मार्ग—अपनी पद्धतिका प्रतिपादन—शंका निवारण—
 रोगोंकी मौलिक एकताका सिद्धान्त..... पृष्ठ १९ से ४४

३—बचपनके रोगोंकी प्रकृति, उद्गम, उद्देश्य, चिकित्सा और उनकी एकता

मध्यकी बोटलकी मानव-शरीरसे विशेष तुलना—
 रोगोंके प्रधान लक्षण—बढ़ी हुई सर्दी या बढ़ी हुई
 गर्मी—खसरा ज्वर—शमन करनेकी विधि—विशिष्ट
 अंगके ज्वरको शमन करनेकी विधि—सुखं बुखार—
 लक्षण—शमनविधि—उदाहरण—पथ्यपर विशेष
 ध्यानकी आवश्यकता—डिफ्थीरिया—रोगकी प्रकृति—
 शमन—उदाहरण—शीतला—शीतलाके भेद—
 लक्षण—शमन—काली खाँसी—रोगकी प्रकृति—तब्रि
 ज्वरका स्वरूप—ज्वरकी तूफानसे समानता—शमन—
 उदाहरण—कण्ठमाला—रोगकी प्रकृति—कारण—रोगोंमें
 खूनकी रुकावट—शमन—उदाहरण—संसर्ग दोषकी
 टीका—तीव्र व्याधियाँ होनेका कारण—उदाहरण—

औषधियाँ जीवनी-शक्तिको नष्ट करती हैं—दूधमें जाम-
नसे संसर्गज व्याधियोंकी उपमा—कीचड़-भरे ताछा-
बका उदाहरण—महामासीके फैलनेका कारण—अब
क्यों नहीं फैलती ?..... पृष्ठ ४५ से ८८

४—वातव्याधि, आमवात, रँगन, और शरीरका टेढ़ापन

लँगड़ा और लुंजापन, हाथ पाँवोंका ठंडा और सिरका
गर्म रहना—कारणपर विचार और ग्रंथकर्त्ताके सिद्धान्तकी
पुष्टि—दर्द विजातीय द्रव्यकी रगड़से होता है—रोगपर
मौसमका प्रभाव—उदाहरण—हाथ-पैरोंके ठंडे होने और
सिरके गर्म होनेका कारण—सिर दर्दका कारण—विजा-
तीय द्रव्यके स्थानके चुनावके नियम और विभिन्न
प्रकारकी विरूपतायें—उदाहरण—रोगकी प्रकृति और
निवारण—मुर्देको चीरकर रोगनिदान-विधिकी व्यर्थता
और अमपूर्णता ।..... पृष्ठ ८९ से १२५

५—मेरा चिकित्सा-तंत्र—

सर्वाङ्ग बाष्पस्नानकी विधि—बाष्पस्नानके बाद
उदरस्नान—पेड़को सिर तथा गर्दनको भाप
देनेकी विधि—आतपस्नान—आतपस्नानका समय—
आंशिक आतपस्नान—उदरस्नान—मेहनस्नान—
खानके लिए पानी—पानीका तापमान—सावधानीकी
जरूरत ।..... पृष्ठ १२६ से १४७

६—हम क्या खायें और क्या पियें ?

पाचनाक्रिया—बिजलीकी बैटरीसे मानव-शरीरकी
तुलना—कुपथ्यसे नुकसान—बहुतसे मनुष्य थोड़ा और
रूखा खानेपर भी मोटे क्यों होते हैं ? तथा अधिक और

पौष्टिक पदार्थ खानेपर भी दुबले क्यों होते हैं ?—पौष्टिक भोजन कौन है ?—उपवास—गर्भियोंमें आहार अधिक और शीघ्र पचता है—गरिष्ठ भोजन सबसे अधिक अस्वास्थ्यकर होता है—पानी कैसा पीना चाहिए ?—आहार कैसे स्थानमें करना चाहिए ?—कौनसा भोजन शीघ्र पचता है—कैसे फल शीघ्र पचते हैं—पालतू कुत्ते कभी कभी घास क्यों खाते हैं ?—अन्न कैसा खाना चाहिए ? भूत्सीका महत्त्व—कबू अन्नका महत्त्व—मृगियों कंकड़ पत्थर खाकर कैसे पचा लेती हैं ?—पाचन-शक्तिके संबंधमें गुलत ख्याल—रासायनिक-परीक्षाका धोखा—पौष्टिक द्रव्य कौन कौन हैं ?—पथ्यापथ्यका गुलत सिद्धान्त—हमारे शरीरके द्वारपाल—किस स्थानका पैदा हुआ अन्न गुणकारी है—मनुष्यकी हड्डियों और दाँतोंकी बनावट—दाँतोंके तीन प्रकार—मांसाहारी जीवोंके दाँत—तृणभोजी जीवोंके दाँत—फलभोजी जानवरोंके दाँत—आमाशयकी रचना—आँतोंकी लम्बाई—हिंसासे और माँससे स्वाभाविक घृणा—मनुष्य फलाहारी जानवर है—शिशुओंका दुग्ध-पान—कुत्ते बिल्लियोंका कभी कभी घास खाना—मांसाहार और कामवासना—प्रतिद्वन्द्वियोंकी भूत्ततायें—अनुत्तेजक आहार ही प्राकृतिक भोजन और एकमात्र औषध है—कैसा पानी पीना चाहिए—सर्वोत्तम आहार—पदार्थकी अपनी प्राकृतिक अवस्थामें खाना चाहिए—पाचनशक्तिकी कमजोरीके लक्षण—चोकर मिले आटेकी रोटीकी सुपाच्यता—जईके आटेकी लपसी—दूध कैसा पीना चाहिए ?—औंटाये दूधकी दुष्पाच्यता—स्वादुता अस्वादुता क्या है ?—रुचि किस प्रकार बनती है ? विपरीत रुचिके कारण—प्रकृति विरुद्ध भोजन ही समस्त रोगोंकी जड़ है—बिना छने आटेकी रोटी बनानेकी विधि—प्राकृतिक आहारके विषयमें कुछ सूचनायें और शिक्षायें—कुछ शाक और भोजन बनानेकी विधियाँ.....पृष्ठ १४८ से १९४

द्वितीय भाग

१—स्नायु और मनके रोग नींद नहीं आना

इस रोगके विभिन्न नाम—नरव्हसनेस न्यूरेस्थिया, न्यूरेल्लिया, हाइपोकोण्ड्रिया, हिस्टीरिया, इन्सेनिटी, इम्बेसिलिटी, पैरालिसिस आदि—इनमेंसे प्रत्येकके सहस्रों भेद—एक ही रोगके किन्हीं भी दो रोगियोंके बाहरी लक्षण एकसे नहीं मिलते—औषधियोंसे केवल बेसुधी आती है, रोगका कारण दूर नहीं होता—विभिन्न प्रकारकी औषधियोंसे विभिन्न अंगोंमें बेसुधी आती है, और उन अंगोंमें आराम हो गया, ऐसा मालूम होता है—एक ही औषधका छोटी और बड़ी मात्राओंमें दिये जानेपर असर परस्पर विपरीत क्यों होता है—हवाकी तब्दीलीसे केवल कालक्षेप होता है—वास्तवमें सभी रोग स्नायु-विकार हैं—विजातीय द्रव्यका जब स्नायुओंपर असर होता है, तभी रोगकी स्थितिका ज्ञान होता है—इच्छाधीन स्नायुओंके रोग ही स्नायु-रोग कहलाते हैं, परन्तु स्वाधीन स्नायुओंके रोग उन अंगोंके रोगोंके नामसे पुकारे जाते हैं जिनसे कि उन स्नायुओंका संबंध है—जीवनी-शक्ति और मन्द-तीव्र व्याधियाँ—व्याधियोंके बाह्य रूपोंमें परिवर्तन—चिकित्सा-विज्ञानमें स्नायु-विकार भी ज्वरकी मन्द या तीव्र दशा प्रगट करते हैं—स्पेशियलिज्म अपूर्णताकी निशानी है—पीठमें विजातीय द्रव्यका इकट्ठा होना स्नायु-विकारका बोधक है—मानसिक रोग—इसका कारण भी दुर्द्रव्य है जो अत्यधिक परिमाणमें संचित

हो जाता है और पीठकी तरफसे सिरकी तरफ अग्रसर होने लगता है—इन रोगोंका कारण—शराब आदिका असर—मानसिक रोगोंकी उत्पत्ति पाचनके बिगाड़से होती है—रोगके विकासकी प्रक्रिया—बालपनकी आप्राकृतिक ज़हानत तरुणावस्थामें क्यों नहीं रहती ?—पागल आदमी किसी किसी समय बिल्कुल अच्छे कैसे हो जाते हैं—फालिजका कारण—उदाहरण—विजातीय द्रव्यका अनिष्ट स्थान ग्रहण करनेसे रोग असाध्य होता है—डाक्टर लोग जिन बहुतसी व्याधियोंको असाध्य कहते हैं वे वास्तवमें असाध्य नहीं होतीं—उदाहरण.....पृष्ठ १९७ से २१३

२-फेफ़ड़ोंके विकार, उनमें प्रदाह, क्षय, प्लुरिसी, और ल्यूपस

क्षयके विभिन्न प्रकार—किन्हीं दो रोगियोंके लक्षण एकसे नहीं मिलते—क्षयके रोगियोंके मुँहका थोड़ा बहुत खुला रहना—उसका कारण—खूनके बिगाड़नेसे शरीरके भीतर खुश्की और गर्मी पैदा होना जिससे फेफ़ड़ोंमें मंद प्रदाह पैदा होना—औषध-संप्रदायकी झूठी निदान-पद्धति—ड्यूबरक्युलिनकी व्यर्थता—आपरेशनकी व्यर्थता—इस रोगमें मेरी पद्धतिकी उत्तमता—उदाहरण—पितृपरंपरागत तथा अन्य प्रकारसे दबे हुए जननेन्द्रिय सम्बन्धी रोग फेफ़ड़ोंकी बीमारीकी जड़ हैं—कंठमाला क्षयकी पहली अवस्था है—सबसे नरोग मनुष्यको कितने ही ड्यूबरक्युल बेसिलार्ड पिछा देनेपर भी क्षय नहीं होता—क्षयका मूलकारण तो अंदर बढ़ी हुई असाधारण गर्मी है, जिसमें क्षयके बेसिलार्डकी परब-

रिक्त हो सकती है—यह गर्मी पाचनशक्तिके बिगाड़से पैदा होती है—भोजनके तत्त्व ग्रहण न कर सकना ही क्षय है—फेफड़ोंके गलनेकी प्रक्रिया—क्षय और अर्शकी ग्रंथियोंकी समानता—त्वचासे स्वास्थ्य और रोगकी परीक्षा—क्षयकी ग्रंथियाँ अपक्व फोड़े हैं—आप-रेशनकी विफलता—फेफड़ों और उनके आवरणोंका प्रदाह—इसका कारण भी एक ही है—उदाहरण—आसोच्छ्वासकी प्रक्रियासे फेफड़ोंमें गर्मी उत्पन्न होना—तापमानके भेदसे कृमियोंमें भेद—भीतरी गर्मीको घटानेसे ही क्षय अच्छा हो सकता है—धूप और वायुका क्षयमें आरोग्यके लिए महत्त्व—टीकेकी व्यर्थता—इस चिकित्सा-विधिका क्षय रोगपर असर—रोगीका अच्छा होना जीवनी-शक्ति और पाचन-शक्तिकी अवस्थापर निर्भर है—चिकित्सा-विधि—एक दमेके रोगीका उदाहरण—वायु-परिवर्तनकी सलाह चिकित्साकी निष्फलता की घोषणा है—दूसरा उदाहरण—बढ़ा हुआ क्षय रोग—उदाहरण—हड्डियोंका क्षय—इस रोगके रोगियोंकी हड्डियाँ बाल्यावस्थासे कमजोर और कृमियुक्त होती हैं और बाल्यावस्थामें सूखीका रोग हुआ होता है—शस्त्र-क्रियासे नुकसान—उदाहरण—ल्यूपस—उत्पत्तिका कारण—उदाहरण—विजातीय द्रव्य जब पीठकी तरफ या बाईं तरफ होता है, तो आरोग्य होनेमें विशेष कठिनाई होती है—जल्दबाजी न करना चाहिए—रोग धीरे धीरे आराम होता है.....पृष्ठ २१३ से २३६

३—जननेन्द्रियसम्बन्धी रोग

मिथ्या संकोच और मिथ्या लज्जा—आतशक पारेकी औषधियोंसे दब जाता है, जो उससे अधिक भयंकर हैं—संसर्गसे विजातीय द्रव्यमें उद्वेग पैदा होना—जन-

नेन्द्रियोंका सोखनेका स्वभाव—कामवासनाके भेद—सम और विषम कामवासना—कामवासना मनुष्यके स्वास्थ्यको मापनेका धर्मांश है—विजातीय द्रव्यका दबाव कामवासनाको उभाड़ता है—एक ही सी परिस्थिति होते हुए एकको सुजाक या गर्मी क्यों होती है ? दूसरेको क्यों नहीं—स्त्री और पुरुष किसीको पहलेसे उपद्रव न होनेपर भी परस्परके सम्बन्धसे इन रोगोंकी उत्पत्ति किस प्रकार हो जाती है ?—मैथुनका शक्तिदायक प्रभाव और जीवन-शक्तिका उत्थान—उससे विजातीय द्रव्यमें उद्वेगकी उत्पत्ति—मेरी चिकित्सासे लाभ और रोगका समूल नाश—रोगके दबाए जानेपर उससे उत्पन्न होनेवाले अन्य रोग—बालकोंको देखनेसे उनके गर्भाधानके समय माता-पिताकी स्वस्थता-अस्वस्थता मालूम पड़ती है—पागलखानोंकी वृद्धिका कारण—मेरी चिकित्सासे पुराने दबे हुए रोग किस प्रकार उखड़ते हैं, इसके उदाहरण—क्लीबत्वका कारण भी विजातीय द्रव्यका भार—स्त्रियोंकी क्लीबताका नाम बंध्यात्व है—विजातीय द्रव्यकी उत्तेजनासे हस्तमैथुन आदिकी प्रवृत्ति होती है.....पृष्ठ २३७ से २५२

४—मूत्राशय और गुदोंके रोग

अपानवायुकी उत्पत्ति—उसके काम—इस वायुकी व्याप्ति समस्त शरीरमें होती है—यह वायु गुदा, पसीना त्वचा, श्वास और पेशाबके साथ निकलती है—मल-मूत्र रोकनेसे उसमें उद्वेग उत्पन्न हो जाता है और वह पुनः शरीरद्वारा शोषित होता है—मूत्राशयमेंसे इस प्रकार सब पानी सोख लिए जानेपर उसका ठोस द्रव्य रबोंके रूपमें बचता है—इससे अनेक बार पथरी आदि

रोगोंकी उत्पत्ति होती है—जिस प्रकार इंजिनके बाइलरमें पपड़ी जम जाती है, उसी प्रकार मूत्राशयमें पथरी—इसका कारण अशुद्ध खनिजयुक्त पानी तथा विजातीय द्रव्यकी अधिकता है—इसी कारण उस स्थानपर गुमड़ियाँ आदि भी हो जाती हैं—अतिसार और कोष्ठबद्धतासे इसकी उपमा—मधुमेह और बहु-मूत्र—इसका कारण शरीरमें आंतरिक विकार—पथरी और यह रोग जब इस विधिसे अच्छा होने लगता है, तब खूब पेशाब उतरती है—कूसरा कारण—रोगका उसी क्रमसे पीछे लौटता है, जिस क्रमसे वह पेशाब रोकने आदिसे हुआ था—यूरेमिया—बेड वेटिंग—इसका कारण मसानेकी नलीमें घाव होना है—मूत्राशयकी इलेग्मा इसमें मूत्राशय और मूत्रनलिका फूल जाती है—उदाहरण—यकृतके रोग, पित्ताशयकी पथरी, कामला—इन रोगोंका कारण पेटके दाहिनी ओर विजातीय द्रव्यका भार है—चिकित्सा-विधि—पैरोंमें पसीना आना यकृतके बिगाड़से होता है—क्रोमिक एसिडसे हानि—दवासे रोग दबानेकी किसी शहरके नालेके मुखको बंद करनेसे उपमा—हर्पीज तथा अन्य त्वचा-संबंधी रोग त्वचा और अन्य स्वेदकी बीमारियोंके परिवर्धित रूप हैं—उनके भेद—उदाहरण.....पृष्ठ २५२ से २६४

५—हृदयरोग और जलरोग

हृदय-रोगोंके दो प्रकार—हृदय-यंत्रके बिगाड़से उत्पन्न होनेवाले रोग तथा अन्य कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले हृदयसंबंधी रोग—हृदयमें विजातीय द्रव्य इकट्ठा होना मुख्य कारण—दाहिनी ओर अधिक होनेपर रोगकी अधिक संभावना—हृदयकी दुर्बल बनावट—

हृदयरोगका समस्त शरीरपर प्रभाव—स्थूलताका कारण—हृदय-नाडियोंके विकारकी कल्पना—हृदय-रोगोंका कारण दूर न किया जाय तो जल-रोगोंकी उत्पत्ति—इसका कारण—हृदयकी खराबीके कारण शरीरकी शुद्ध रक्त उत्पन्न करनेकी असमर्थता—मक्खनके व्यापारीका उदाहरण—एक ही हृदयरोगके तीन अवस्थाओंमें तीन नाम—जल-रोगका कारण जठरस्थानमें गुप्त सदन है—कैसी अवस्थामें रोग असाध्य होता है—उदाहरण—रोग कहाँ-तक साध्य है—उदाहरण—हृदयरोग, जलोदर और कुछ इन तीनों रोगोंसे युक्त रोगीकी चिकित्साका हाल—पृष्ठ २६४ से २७९

६—पृष्ठवंशका रोग, रीढ़के वाँसका नष्ट होना, अर्श रोग

इस रोगके जोरका झुकाव पहलेसे ही किस प्रकार मालूम किया जाता है—अनिच्छावर्त्ती नाडि-जालमें तथा नाडि-द्रव्यमें मंद मंद जलन—स्वप्नदोषका कारण—वीर्यपातके साथ अन्य उपद्रव—सेंट वाइटस डान्स—कमरका विजातीय द्रव्यका भार बुर करना सबसे अधिक दुःसाध्य है—यह बीमारी ज्ञानतन्तुओंकी है—बवासीरके मस्से दबा दिये जानेपर किस प्रकार सिरमेंसे निकले इसका एक उदाहरण ।... पृष्ठ २७९ से २८५

७—अपस्मार अर्थात् मिर्गी

प्रायः जननेन्द्रियसंबंधी रोगोंके दबाये जानेसे इसकी उत्पत्ति होती है—सड़े हुए विजातीय द्रव्यमें एकाएक उफान आनेसे इसके दौरे होते हैं—उवाला-मुखी पर्वतसे उपमा—बुद्धिकी प्रक्रिया—अनेक बार

यह पोटासियम ओमाइड आदिका परिणाम होता है—
चिकित्साकाल—रोग कष्टसाध्य कैसे हो जाता है—
रोगके प्रसारका परिणाम—उदाहरण—अगोरेफोवि-
या—कारण—केन्सर और क्षयसे समानता...पृष्ठ २८६ से २९१

८-पाण्डुरोग रक्तकी निःसत्त्वता क्लोरोसिस

कारणपर विचार—आधुनिक भोजन—रसायन-
शास्त्रकी आलोचना—इनके लक्षण—मर्ज बढ़ता ही
गया ज्यों ज्यों दवा की—कृत्रिम भोज्य पदार्थोंसे
हानि—स्वस्थ त्वचाका लक्षण—स्वस्थ नाड़ियोंका
लक्षण—गुप्त पाण्डुरोगमें कभी कभी चेहरा लाल और
ताज़ा भी मालूम पड़ता है—बाहरसे तन्दुरुस्त दीखनेपर
भी अंदर किस प्रकार नपुंसकता छिपी रहती है—डाक्टर
इसे क्यों नहीं समझ पाते—पाण्डुरोगका मुख्य लक्षण भीत-
रसे गर्मी और बाहरसे ठंड मालूम होते रहना है—आंतरिक
गुप्त बुखार—इस रोगका मूल कारण—तनाव और गुप्त
गर्मी कैसे पैदा होती है—त्वचा पीली म्लान और मरी
हुईसी क्यों हो जाती है—त्वचा तक शुद्ध रक्त क्यों
नहीं पहुँच पाता—रोगोत्पत्तिमें अशुद्ध वायुका हिस्सा—
पेलोपैथिक पद्धतिसे दिखावटी आरोग्यता—यह बीमारी
किस प्रकार दूर हो सकती है—कैसा आहार होना
चाहिए—ठंडका असर क्यों होता है—चिकित्सा-विधि—
उदाहरण.....पृष्ठ २९१ से २९२

९-आँख और कानके रोग

रोगपर विचार—कर्णरोगकी वृद्धिका क्रम—इस सिद्धा-
न्तकी पुष्टि—नेत्ररोगोंकी उत्पत्ति—अल्पदृष्टि—काला
मोतिया बिन्दु—श्वेत मोतिया बिन्दु—हरा मोतिया बिन्दु

—शस्त्र-क्रियाकी निरर्थकता—इजिप्शियन नेत्ररोग—
 उदाहरण—द्विदृष्टिरोग—भैंडापन—कारण— आँखकी
 नादियोंपर विवेचन—आँखकी अन्य बीमारियाँ और
 उनका कारण—जैसे जैसे मनुष्य जातिमें विजातीय
 द्रव्यका भार बढ़ता जाता है वैसे वैसे नित्य नये नये
 रोगोंकी उत्पत्ति होती जाती है, जो पहले अज्ञात थे—
 रोगोंमें भेद करनेकी अनावश्यकता—किस अवस्थातक
 रोग आराम हो सकते हैं—उदाहरण—....पृ० ३०० से ३११

१०—दाँतोंके रोग, जुकाम, इन्फ्लूएंजा, कंठरोग, और घेंघा आदि

दंतारोग कब होते हैं—दाँत उखाड़ना मूर्खता
 है—चिकित्सा-विधि—रोगी मनुष्योंको ही दाँत मॉज-
 नेकी आवश्यकता है—दाँतोंमें मैल बनना कैसे रुक
 सकता है—इलाज—जुकाम—यह फेंफड़ोंको शुद्ध कर-
 नेकी प्राकृतिक क्रिया है—इन्फ्लूएंजा—कंठरोग—
 वंशपरंपरागत या अन्य प्रकारसे बहुत अधिक मात्रामें
 विजातीय द्रव्यके विशेषकर फुफुसमें इकट्ठे होनेसे यह रोग
 होता है—चिकित्साके लिए अधिक समयकी आवश्य-
 कता—घेंघा—इसका वास्तविक कारण अधिक बोझ
 उठाना नहीं है परन्तु पीनेके जलमें खनिज द्रव्य हैं—
 मनुष्योंके लिए जलपान स्वाभाविक नहीं है—उदा-
 हरण—.....पृष्ठ ३११ से ३१८

११—शिरका दर्द आधाशीशी मस्तिष्कका

क्षय और दाह

जहाँ तकलीफ होती है, वहींपर रोगका कारण ढूँढ़ना
 बड़ी भूल है, विशेषकर सिरकी बीमारीमें—सिरकी
 बीमारियाँ वर्षोंतक पेड़में रहकर सिरमेंसे निकलती है—

अनेक बार बवासीरके मस्से एकाएक अम्लार्हित होकर सिरकी ग्रंथियोंमें प्रगट होते हैं—अन्य स्थानोंमें भी प्रगट हो सकते हैं—सिरकी ग्रंथियोंका होना मस्तिष्कका क्षय कहलाता है—चिकित्सासे ये पुनः बवासीरके मस्सोंके रूपमें परिवर्तित होते हैं—इन व्याधियोंके विभिन्न रूपोंमें प्रकट होनेके नियम—दिमागमें प्रदाह—इस रोगमें डाक्टरोंकी असहाय अवस्था—सिरका दर्द और आधाशीशी प्रायः एक ही स्नानसे अच्छे हो जाते हैं—पुराने विकार—उदाहरण.....पृष्ठ ३१८ से ३२३

१२—टाईफस, पेचिश, हैजा अतिसार—

टाईफस या स्नायविक ज्वर शरीरकी प्रबल शोधन क्रिया है—वाष्पस्नान विशेष फायदा करता है—विसूचिका और आमातिसार कोष्ठमें गड़बड़ीसे होते हैं—हैजेमें भीतरी ज्वरके कारण शरीर भीतरसे जलकर काला पड़ जाता है—हैजा प्रायः कब्जसे होता है—इन रोगोंके पहले शरीरमें बेचैनी और भारीपन होता है, जोकि उद्वेगके प्रारंभकी झलक है—विसूचिका शरीर शुद्ध करनेका उत्कृष्ट साधन है—मौसिमकी तब्दीलीका असर—शरीरकी जीवनी शक्तिपर रोगका इलाज निर्भर रहता है—इस रोगकी चिकित्सा—पहले भीतरी बड़ी हुई गर्मीको घटाना—मेरे स्नान जीवनी शक्ति बढ़ाते हैं—गुदाके नीचे गर्म ईंट रखनेसे दस्त बंद हो जाते हैं—दस्तोंके साथ वमन विशेषकर बच्चोंको डिब्बेके दूधसे—होता है—साधारण अतिसार आरोग्य प्राप्तिका उत्कृष्ट साधन है—अतिसार और कब्ज वास्तवमें एक ही है—ठंडे स्नानोंसे कब्ज दूर होता है.....पृष्ठ ३२३ से ३३०

१३—मौसिमी और गर्म देशोंके ज्वर

कारण एकही है—गर्म देशोंमें अधिक क्यों होते हैं—
लक्षण—कैसे रोके जा सकते हैं—कुनैन और अण्टी—
पाइरिनका असर ज्वरको दूर करना नहीं, परंतु स्नायु
जालको सुप्त करके उसकी अनुभूति नष्ट करना होता है—
हर बार पहली बारसे अधिक तेज मात्रा देनी पड़ती है,
और अंतमें दवाका असर होना ही बंद हो जाता है और
अन्य अति उग्र कालरूप व्याधियाँ उठ बैठती हैं—उष्ण
देशोंसे आये हुए धन्यवादपत्र—कीहिस नामक चर्म
रोग—उसका इलाज.....पृष्ठ ३३० से ३३७

१४—कुष्ठ रोग

भूमिका—यह रोग गर्मदेशकी पैदायश है—गलित
और खुश्क कुष्ठरोग—खुश्क कुष्ठरोग आंतरिक तीव्र
ज्वरका सूचक है, जिससे अंग सूखते चले जाते हैं—
इसका कारण भी पाचनका बिगाड़ और पित्त-परंपरासे
प्राप्त विजातीय द्रव्य है—इससे नाडि-तंतुओंका अव-
रोध—पाचनशक्तिकी मंदताके कारण लाया हुआ
भोजन शरीरमें नहीं लगता—गलित कुष्ठमें पानीके
पैदा होनेके वर्षों पहले भीतर सड़न होती है—पानी
बनना जीवित शरीरमें होनेवाली रासायनिक-प्रक्रिया-
ओंका अन्तिम परिणाम है—गलित कुष्ठका पानी
जलोदरके पानीसे भिन्न प्रकारका है—भीतरी ज्वर कम
होनेसे तथा विजातीय द्रव्य दूर करनेसे ही इसकी
चिकित्सा हो सकती है—बटेवियाके रोगीका प्रमाण—
मेरी चिकित्साकी सफलता—छूतका डर—औषध-
संप्रदायकी अनभिज्ञता—तीन बालकोंका उदाहरण—
कौन लोग आराम नहीं हो सकते.....पृष्ठ ३३८ से ३५१

१५—खुजली, कृमियोंसे होनेवाले रोग, आंत उतरना

भूमिका—उष्णतामें कृमियोंकी एकाएक वृद्धि और शीतमें उनका विनाश—पोषक माध्यम होनेपर ही कृमि पैदा हो सकते हैं, बिना खुराकके कृमि पैदा नहीं होते—रोगी शरीर ही कृमियोंके लिए पोषक खुराक है—इन जीवोंका होना संभव वहीं है जहाँ ऊँचा तापमान हो, और ऊँचा भीतरी तापमान वहीं हो सकता है, जहाँ विजातीय द्रव्य हो—गर्मीको कम करने और विजातीय द्रव्य निकाल फेंकनेसे ही कृमि नष्ट हो सकते हैं—मेरी चिकित्सा—उदाहरण—आंतका उतरना—पेटमें विजातीय द्रव्यका भार और तनाव इसका कारण है—अन्य कारण व्यर्थ हैं.....पृष्ठ ३५२ से ३५५

१६—सर्तान और दूषित मांस

अच्छी न की जाकर दबाई हुई बीमारियोंकी शृंखलाकी यह अन्तिम कड़ी है—यह गर्मी सूजाक सरखिले जननेन्द्रिय संबंधी रोगोंका अनुगामी होता है—इस रोगमें हाज्मा बिल्कुल निकम्मा हो जाता है—अनेक बार जुलाब बहुत दिनोंतक लेनेसे भी यह रोग होता है—बड़े हुए मांस आदिको काट फेंकनेसे इस रोगकी जड़ नहीं जा सकती—वेदनाको शांत करनेके लिए मार्फिया (अफीम) की सुई देनेसे नुकसान—सर्तानकी चिकित्सामें स्थानका कोई महत्त्व नहीं है—पाचन-शक्ति अच्छी होनेपर ही मेरी चिकित्सासे लाभ हो सकता है—उदाहरण—शरीर चारकर देखनेसे मालूम हो सकता है कि सर्तानके रोगीका संपूर्ण शरीर रोगी होता

है—चिकित्सा-विधि—उदाहरण—शरीर विचैली औष-
धियोंको इलेक्ट्रामें लपेट देता है, जिसके टुकड़े शनैः
शनैः जलकर सूख जाते हैं—जल-चिकित्सासे फिर ये
खंड बुलने लगते हैं जिससे दबे हुए रोग उभड़ पड़ते
हैं, और उनको दबानेमें उपयोग की गई औषधियोंकी
बासतक आने लगती है—छिपी हुई सूजनके इला-
जमें मेहनतानके स्थानमें क्षत होना—उदाहरण और
चिकित्सा-विधि—प्रत्येक मनुष्यको मेहनतानके स्थान-
में क्षत होना लाजिमी नहीं है—भीगे लिनेनकी
गद्दी—सबसे भयंकर बात पेड़में बड़ी बड़ी ग्रंथियोंका
सम्भाव है—तरल पदार्थोंके सेवनसे आँतोंसे मल नहीं
निकलता—श्वासवायुधर्म में मेहनतान—इंजेक्शनोंकी
व्यर्थता—बदगोश्त सतर्तानकी अपेक्षा सहज है—उदा-
हरण—गर्भावस्थामें भी मेहनतानसे कोई नुकसान
नहीं होता.....पृष्ठ ३५६ से ३७०

तृतीय भाग

१—औषध और शस्त्रोपचारके विना ज़रुमोंकी चिकित्सा—

कुमिष्ट-चिकित्साकी अनावश्यकता—जल-चिकित्सासे
आराम होनेपर घावोंके निशान नहीं बनते—आघातसे
उत्पन्न हुआ दाह खूनके दौरानके लिये पुकार है—
तत्स्थानीय द्रव्यकी परस्पर रगड़से गर्मी और सूजन
पैदा हो जाती है—पीड़ा प्रकृति द्वारा आराम करनेकी
प्रक्रिया है—सूजन या पीड़ा स्थानीय उबर है—
जिसके शरीरमें जितना भी ज्यादा विजातीय द्रव्य

होगा, उतने ही देरसे उसे आराम होगा—पशुओंके घाव बिना दबाके किस प्रकार मनुष्योंकी अपेक्षा शीघ्र आराम होते हैं—बिल्लीका उदाहरण—कुत्तेका उदाहरण—न्यूफाउण्डलेण्डके कुत्तेका उदाहरण—इसमें पौष्टिक कहे जानेवाले आहारकी व्यर्थता—कृमि-नाशक औषधियोंकी व्यर्थता—कटे बिंधे कुचले विदीर्ण तथा चिरे हुए घाव—त्वचापर वायुका दबाव—शरीरके भीतरी दबावसे खून निकलता है—ज्यादः या कम खून क्यों गिरता है—जल्ममें टांके लगानेसे रक्तसंचारमें बाधा—टाँके लगाना न्याय्य कब है—जल्मकी तत्कालीन चिकित्सा—पीड़ा शांत करना सबसे पहला कर्त्तव्य है—पानीकी गद्दी कैसी हो—पानीकी गद्दीमें अद्भुत डाक्टररी सुधार—उसकी निरर्थकता—अन्य स्नानोंके उपयोग ।.....पृष्ठ ३७३ से ३८५

२—छिल जाना, कुचल जाना, भीतरी चोट लगना—

छिलने और बंद चोटमें शरीरके अन्दर रुधिरकी थैलियाँ बन जाती हैं—स्नान-विधिका प्रभाव—उदाहरण—जल जाना—चिकित्सा-विधि—कैसे पानीका उपयोग होना चाहिये—जले हिस्सेको अधिक देरतक पानीमें रखना चाहिए—बंदूककी गोलीके घाव—युद्ध-क्षेत्रोंमें चोटके बाद तुरत उपचारकी आवश्यकता—मेरी विधिकी ऐसे मौकेपर उपादेयता—शरीरके भीतरसे गोली निकाल दी जानी चाहिए, इस धारणामें

भूल—गोलीका शरीरके भीतर रहवा उतना भयंकर नहीं है, जितना कि उसे निकालना—शरीरके भीतर जाकर गोली किस प्रकार हानिरहित हो जाती है—शरीर उसे किस प्रकार वर्षों बाद युक्तिसे बिना तकलीफके बाहर निकाल देता है—गोली लगनेपर क्या करनेकी सैनिकोंको शिक्षा देनी चाहिए—डाक्टरके इंतजारकी अनावश्यकता और हानि—उदाहरण—हड्डी टूटना—प्लास्टरकी अनुपयुक्तता—गदियाँ किस प्रकार बाँधी जाँय—उदाहरण—सख्त सहारेकी जरूरत हो तो लकड़ीके पतले तख्ते या टुकड़े आदिका उपयोग—अन्य स्नान—खुले मुँहवाले घाव—घावोंके औपदेशिक, सात्तात्मिक, आदि भेद निरर्थक हैं—ऐलेोपैथी द्वारा दबाए गये घाव दूसरी जगहसे फूट निकलते हैं—व्याधियोंके भीतर दबानेसे आत्महत्या प्रवृत्तिकी वृद्धि—किन औषधियोंके विशेष उपयोगसे घाव होते हैं—टीका शरीरमें विष फैलानेका दूसरा साधन—उसके कारण चेचकके बदले क्षय, सतान आदिकी वृद्धि—डाक्टरी औषध-विज्ञानको यह भी ठीक ठीक पता नहीं है, कि उनकी दी हुई औषधि शरीरमें किस जगह रहकर कैसा प्रभाव डालती हैं—औषधियाँ वर्षों पहले अत्यंत उग्र बीमारियोंका बीज बो देती हैं—अधिकाधिक कृमिनाशक औषधियोंका अर्थ अधिकाधिक भयंकर विष है—औषधियोंसे रोगके केवल बाह्य लक्षण ही लुप्त होते हैं रोग वैसाका वैसा बना रहता है—औषधियोंसे जीवनी-शक्तिकी हानि—एक बार जो औषध जितनी मात्रामें कारगर होती है, दूसरी बारमें

वह या उतनी मात्रामें वह कारगर क्यों नहीं होती—
 जीवनी-शक्ति जितनी मंद होगी दवाके रूपमें उसे-
 दवानेके लिए उतने ही तीव्र विषकी जरूरत होगी—
 इस बातकी पुष्टिमें उदाहरण—खुले घाव विजातीय
 द्रव्यकी भीतरी ज्वरपर अवलंबित बढी हुई अवस्था
 है—मेरी विधिकी सफलता—उदाहरण । विषैले
 कीड़ेका काटना, पागल कुत्तेका काटना,
 सर्पदंश, रुधिरका दूषित होना—रुधिरके
 कणोंकी संवेदनशीलता—निरोग मनुष्यमें भी
 सर्पविषके कारण बुखारके लक्षण पैदा हो सकते
 हैं—विजातीय द्रव्यके परिणामके अनुसार विषकी
 तेजीमें वृद्धि—मधुमक्खी, पागल कुत्ते तथा कभी कभी
 साँपके काटनेपर भी किसीको अधिक और किसीको
 कम असर क्यों होता है ?—कुत्तेके विषका असर किस
 प्रकार फैलता है—उपचार-विधि—स्नान—भोजन—
पृष्ठ ३८५ से ४०९

३-स्त्रियोंके रोग

स्त्रियोंकी अधिकांश बीमारियाँ जननेन्द्रियसंबंधी
 होती हैं, जो अतिशय काम-वासनाका परिणाम होती
 हैं—स्त्रियोंके लिए इस चिकित्सा-विधिकी विशेष उपा-
 देयता—डाक्टरोंकी निर्लज्ज परीक्षा-विधिका इसमें
 अभाव—मासिक धर्मके दोष—मासिक धर्म क्या
 बताता है—चन्द्रमाकी कलाओंसे मासिक धर्मका
 संबंध—मासिक धर्मके द्वारा शारीरिक दशमें उतार
 चढ़ाव—ऋतु-चर्यामें सावधानीकी आवश्यकता—ऋतु-

चर्याका गर्भस्थ शिशुपर असर—ऋतुधर्मसंबंधी दोषोंका कारण विजातीय द्रव्यका भार—इलाज—जिस कालमें हर महीने साधारणतया ऋतुस्त्राव हुआ करता है, उस कालकी घटनाओंका गर्भावस्थाके समय असर—उदाहरण—गर्भाशयका लटक आना और पेसरीका व्यवहार—इसका कारण विजातीय द्रव्यका भीतरी दबाव और प्रदाह तथा गर्भाशयकी कमजोरी—पेसरीकी व्यर्थता—योनिका खिंच जाना—इसका कारण पेडूमें विजातीय द्रव्यकी अधिकता—बन्ध्यात्व दोष—इसका कारण जननेन्द्रियोंमें विजातीय द्रव्यके भारकी अधिकता—मैथुनके लिए प्रातःकालका समय उपयुक्त है—उदाहरण—स्तनोंके घाव थनैला तथा दूध न उतरना—अत्यन्त बड़े हुए स्तनोंकी स्त्रियाँ दूध पिलानेके अयोग्य होती हैं—कुमारावस्थामें स्तनोंका अधिक बढ़ना रोगका लक्षण है—उदाहरण—प्रसूतिज्वर—प्रसूतिज्वरका कारण गर्भाशयमें खूनका बाकी रह जाना तथा उसका वहाँ सड़ना है—उदाहरण—मेहन-स्नानका आश्चर्यजनक प्रभाव—बुखारके समय सिरपर बर्फ रखनेसे हानि—
उदाहरण.....पृष्ठ ४०९ से ४२५

४—बिना किसी पीड़ाके निर्विघ्न प्रसव कैसे हो सकता है ?

प्रकृतिसे उदाहरण—पीड़ाका कारण हमारा अप्राकृतिक जीवन—माता-पिताकी विजातीय द्रव्यकी संपत्ति संतानमें किस प्रकार आती है—संतानके बाद माँकी बूझीसी

लगाना स्वाभाविक नहीं है—इसका एक कारण गर्भकालमें भी मैथुनकी प्रवृत्ति है—मैथुन गर्भाधानके लिए है, सुखोपभोगके लिए नहीं—इससे हानि—अन्य उपद्रव—अस्वाभाविक और अतिशय कामवासना रोगका लक्षण है—सच्ची प्राकृतिक कामवासना पुत्रैषणाके रूपमें ही होती है—संयमसे सुखकी प्राप्ति—गर्भके उल्टे-सीधे होनेका कारण—जननक्रियामें कठिनता होनेका कारण—प्रसवकालमें तकलीफ होना रोगका चिह्न है जिसका उपचार पहले ही किया जाना चाहिए था—प्रसव क्रियासे अत्यन्त भयभीत होना भी विजातीय द्रव्यके भारका लक्षण है; नैसर्गिक बुद्धिकी आवाज़ है—डाक्टरी प्रक्रियाकी असफलता और उससे हानि—उदाहरण—प्रसवकालकी मंदगतिको उत्तेजित करनेके लिए मेहनतान—डाक्टरोंका आपरोशानोन्माद—सहजप्रसव और नरि रोग संतानका उपाय—
उदाहरण.....पृष्ठ ४२६ से ४४०

५—प्रसवके बादकी परिचर्या

प्रकृतिमें प्रसवके बाद खाटपर पड़नेकी आवश्यकता नहीं होती—मनुष्योंमें ऐसा क्यों होता है—जननेन्द्रियोंकी अस्वाभाविक शिथिलता—मेरी नवीन विधि—लिनेन वस्त्रकी पट्टीका प्रयोग—ज्वरकी अवस्थामें क्या करना चाहिए—दूध लानेके लिए क्या करना चाहिए....पृष्ठ ४४१ से ४४४

६—नवजात शिशुकी पहले महीनोंकी परिचर्या—शिशुका पालन-पोषण

शिशु और माताका सामीप्य सम्बन्ध—अलग करनेसे हानि—उदाहरण—बच्चोंका पालन-पोषण—माताके

दूधके अभावमें क्या करना चाहिए—घावकी परीक्षा—
 गायका दूध कैसा दिया जाना चाहिए—औँटायें दूधकी
 दुष्पाच्यता—कृत्रिम दूधका बुरा प्रभाव—स्वस्थ गाय
 भी मुश्किलसे मिलती हैं—गायके दूधके बदले जईके
 आटेकी लपसी—जईका आटा कैसा होना चाहिए—
 बालकोंका स्वभाव खराब होनेके कारण—मोटी
 बुद्धिका कारण—हस्त-मैथुनकी आदत—उसका
 कारण—झूठी लजा—बच्चे इस बुरी आदतसे कैसे
 बचाये जा सकते हैं.....पृष्ठ ४४४ से ४५०

पहला भाग

नवीन चिकित्सा-विज्ञान



इस नवीन चिकित्सा-विज्ञानके आविष्कारकी
प्रेरणा मुझे किस प्रकार हुई ?

पहला व्याख्यान

प्रिय सज्जनो,

यह एक स्वाभाविक बात है कि जब किसी मनुष्यको किसी नवीन और मौलिक आविष्कारका पता लग जाता है तब वह उसे सुरक्षित रखना चाहता है, जिससे कि समय आनेपर वह उसका प्रचार अपने सजातीय वर्गमें कर सके ।

इस विचारमें तृष्णा और अभिमानकी गन्ध आती है, किन्तु यह मनुष्यका स्वभाव है, अतएव क्षम्य है । बाहरी ठाट-बाटका निरादर और

जीवनके दैनिक व्यवहारमें मिथ्याभिमान और निरर्थक श्रमका अनुभव करते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि सत्यका प्रकाश करना मनुष्यका एक प्रधान कर्तव्य है । मैं प्रकृतिके इसी नियमके आगे मिर झुकाकर ३० वर्षके निरन्तर परिश्रमसे प्राप्त हुई अपनी यह निधि आपको समर्पण करना चाहता हूँ । चतुराई तो इसीमें थी कि मैं अपने इन ढूँढे हुए सिद्धान्तोंको पुस्तकरूपमें प्रकाशित करके ही सन्तोष कर लेता और भावी सन्तानसे उनके भाग्यके निर्णयकी आशा करता । परन्तु यह उद्देश जिसके निमित्त मैंने अपना जीवन समर्पण कर दिया है, कोरे सिद्धान्तोंपर ही समाप्त नहीं हो जाता है, प्रत्युत उसका सम्बन्ध उस प्रक्रियासे है जो कि उन सिद्धान्तोंका फलस्वरूप है, अर्थात् सिद्धान्तोंको क्रियाद्वारा सिद्ध करना भी अत्यावश्यक है !

यदि मैं अपनी इस शिक्षाका प्रचार अपने सजातीय मनुष्योंमें करना चाहता हूँ और भावी सन्तानको यह सम्पत्ति प्रदान करना चाहता हूँ और कुवैद्यके नामसे कलङ्कित न होकर इस असार संसारसे विदा होना चाहता हूँ, तो मेरे लिए यह अत्यावश्यक है कि मैं जो सिद्धान्त शिक्षारूपमें आपके सम्मुख रखूँ उनका मनुष्योंपर प्रयोग करके भी दिखा दूँ जिससे कि मेरे सिद्धान्तोंकी सचाई प्रकट हो जाय ।

परन्तु आज इस बड़े जनसमुदायके सामने उन रोगियोंका लाना तो बन नहीं सकता जिनकी मैंने चिकित्सा की है, इसलिए अपनी योग्यताके अनुसार मैं शब्दोंद्वारा ही अपने भावोंको व्यक्त करनेपर सन्तोष करूँगा; सबसे पहले मैं आप लोगोंको संक्षेपमें यह बता देना चाहता हूँ कि इस चिकित्सा-विधिकी ओर मुझे किस प्रकार प्रेरणा हुई ।

प्रकृति देवीके साथ सदासे मेरी विशेष भक्तिभावना रही है। मैं प्रायः जंगलोंमें घूमकर वहाँके जीवनका अन्वीक्षण किया करता था। मुझे पशु और वनस्पति-जगत्के स्वाभाविक जीवनके निरीक्षणका व्यसन सा था। मैं जगज्जननी प्रकृतिके उस ताने-बानेको देखकर 'यत्परो नास्ति' आनन्दका अनुभव किया करता था जो उसने नियमोंके रूपमें पृथ्वीसे आकाशपर्यन्त पूर रक्खा है और जिसके अधीन सृष्टि-रचनाका चक्र निरन्तर घूमता रहता है। मुझे प्रोफेसर रास मासलर जैसे योग्य तत्त्ववेत्ताओंके मतोंको जाननेका भी विशेष उत्कण्ठा रहती थी। यह उस समयकी बात है जब कि इस चिकित्सा-विज्ञानकी ओर मेरा ध्यान भी न गया था। इस ओर तो मुझे उस आवश्यकताके प्रबल हार्थोंने खींचकर लगा दिया जो सब आविष्कारोंकी वैसी ही जननी और शिक्षा देनेवाली है जैसी व्यक्तियों और जातियोंकी।

२० वर्षकी आयुके बाद ही मुझे यह मालूम होने लगा कि मेरा शरीर निकम्मा हो चला है। मेरे सिर और फेफड़ोंमें भीषण पीड़ा रहने लगी। प्रथम तो मैंने उस समयके वैद्य और डाक्टरोंकी शरण ली, परन्तु उनकी चिकित्सासे मुझे कुछ लाभ न हुआ। सच तो यह है कि उनपर मेरा अधिक विश्वास भी न था; क्योंकि मेरी निर्बल और चिररोगिणी माताने अनेक बार हम (अपने बालकों) को डाक्टरोंके दोष सुनाकर सचेत कर दिया था कि मेरी शारीरिक हानिके उत्तरदाता विशेषकर ये ही लोग हैं। मेरे पिता भी पेटके फोड़ेकी भयंकर व्याधि होनेपर इन्हीं महाशयोंकी देख-रेखमें मृत्युके मुखमें पतित हुए थे। इसी समय अर्थात् सन् १८६४ ई० के लगभग मुझे एक ऐसी संस्थाका पता लगा जो प्राकृतिक उपायोंके द्वारा समस्त रोगोंको दूर करनेकी विधिका प्रचार किया करती थी। उस ओर मेरी विशेष रुचि

हुई और जब मैंने उसका विज्ञापन दूसरी बार देखा तब मैं स्वयं उसमें जा सम्मिलित हुआ। यह एक साहसी और उत्साही मनुष्योंका समुदाय था, जो चिरस्मरणीय मेल्टज़रके नेतृत्वमें काम किया करता था। मैंने बहुत सकुचाते हुए वहाँ एक सजनसे यह प्रश्न किया कि मुझे अपने फेफड़ोंकी तीव्र वेदनाको शान्त करनेके लिए क्या उपाय करना चाहिए। मेरे सङ्कोचका कारण यह था कि स्नायुओंमें बहुत समयसे विकार बने रहनेसे मेरी दशा इतनी हीन हो गई थी कि मैं जनसमुदायके सामने खुलकर बोल नहीं सकता था। उन्होंने मुझे एक गद्दीका प्रयोग बतलाया जिससे मुझे तत्काल लाभ प्रतीत हुआ। इसके बाद मैं उस सभामें बराबर जाता रहा। कुछ काल बाद अर्थात् सन् १८६८ के लगभग मेरा भाई बहुत बीमार हो गया। परन्तु इस प्राकृतिक चिकित्सासे—जो कि उस समय प्रारम्भिक अवस्थामें थी—उसे कुछ लाभ न हुआ। संयोगवश उन दिनों सुप्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक थियोडोर हानकी कीर्तिध्वजा चिकित्सा-जगत्में फहरा रही थी। मेरा भाई उन्हींके पास गया और कुछ ही दिनोंमें बहुत कुछ स्वास्थ्य लाभ करके घर लौट आया। इसमें मेरी भी उस विधिके लाभोंपर दृष्टि गई और उस समयसे ही मुझे यह विश्वास हो गया कि इस सिद्धान्तमें सत्यका पूर्णतया समावेश है।

इधर मेरी व्याधि भी सर्वथा शान्त न हुई थी। रोगके वे बीज जो मुझे पितृपरम्परासे प्राप्त हुए थे, अङ्कुरित होने लगे थे और डाक्ट-रोंका चिकित्साके जलसे उनमें नये नये पत्ते निकलने लगे थे। मेरी दशा प्रतिदिन क्षीण हो रही थी। यहाँ तक कि वह मेरे लिए असह्य हो गई। पेटमें फोड़ा उत्पन्न हो गया। फेफड़ोंका कुछ अंश क्षीण होने लगा। मस्तिष्कसम्बन्धी शिराओंमें इतनी तीव्र उत्ते-

जना होने लगी कि मुझे घरमें बैठना मुश्किल हो गया । स्वच्छ वायुमें ही चैन मिलता था । उत्तम निद्रा और परिश्रम—मनुष्य जीवनके ये दोनों अमृतमय फल—मेरे लिए स्वप्नवत् हो गये । यद्यपि मैं उन दिनों दृष्टपुष्ट दिखाई देता था, किन्तु वास्तवमें मेरी शारीरिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी । फिर भी मैं उस समय प्राकृतिक चिकित्साको बड़े विचार और परिश्रमके साथ करता रहा । स्नान, चादर, बस्ती, पिचकारी आदि चिकित्साके सभी नियमोंका सहारा लिया, किन्तु पीड़ामें कुछ कमी हो जानेके सिवा और कुछ फल नहीं निकला । इसी समय महाशक्ति प्रकृति देवीका स्वतन्त्र अनुशीलन करते करते मुझे उन सिद्धान्तोंका पता लगा जिनपर मेरी इस चिकित्सा-विधिका आधार है । प्रारम्भमें मैंने परीक्षा करनेके लिए उनका प्रयोग अपने शरीरपर ही किया और इसके लिए यथासम्भव उपयुक्त यन्त्रोंको भी बनाया । इस प्रयोगसे मुझे सफलता और सिद्धि प्राप्त हुई । मेरी अवस्था दिन दिन सुधरने लगी । इसके सिवा जिन मनुष्योंने मेरी शिक्षा ग्रहण की और जो इस मार्गपर चले उन्हें भी सन्तोष हुआ । मेरे निर्माण किये हुए यन्त्र पूरी तरह उपयोगी सिद्ध हुए । वर्तमान रोगका निदान तो मेरा ठीक होता ही था, पर भावी रोगोंके सम्बन्धमें भी मेरा पूर्वज्ञान—जिसका कि रोगीको लक्षणोंके गुप्त रहनेके कारण कुछ पता नहीं होता था—सदा सच्चा उतरता था । बस मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि मेरा यह नवीन आविष्कार भ्रामक नहीं है । किन्तु जब मैं किसीके सामने इसकी चर्चा करता, तो लोग मेरे भावोंके प्रति अश्रद्धा और आश्चर्य्य प्रकट करते थे । घृणा और उपेक्षाकी दृष्टिसे मेरा तिरस्कार करते थे । ये भाव केवल उन मनुष्योंके ही न थे जो ओषधिद्वारा व्यवसाय करने-

वाले डाक्टर थे, बल्कि उन लोगोंमें भी ऐसे भाव विशेष रूपसे पाये जाते थे जो प्राकृतिक चिकित्साके समर्थक थे। उनमें कोई कोई तो उक्त चिकित्साके नामी पैरोकार भी थे। मैंने रोगियोंके उपकारकी इच्छासे इन चिकित्सकोंके पास अपने यन्त्र व्यवहारके लिए मुफ्त ही रख दिये थे। परन्तु उन भले मानुसोंने एक बार भी उनका प्रयोग नहीं किया और उन्हें निकम्मा जानकर कोनेमें डाल दिया जहाँ धूल, मिट्टी और जालोंसे उनकी दुर्गति हो गई।

इन सब बातोंसे मुझे यह निश्चय हो गया कि केवल रोगका कारण, उसकी सम्प्राप्ति और चिकित्साके सिद्धान्तोंका निर्धारित करना ही या इस चिकित्साके उपयोगी यन्त्र बनाना ही पर्याप्त नहीं है। न यही पर्याप्त है कि निदान और भविष्यज्ञानकी एक नवीन और निश्चित विधि जो मनुष्य शरीरपर निर्धारित हो बनाई जाय। न अपने या अपने मित्रों और रिश्तेदारोंके हवालेसे ही इस चिकित्सा-विधिका गौरव जनताकी दृष्टिमें जँचगा, बल्कि मुझको यह मालूम पड़ा कि मुझे सर्वसाधारणके सामने इस चिकित्सा-विज्ञानको क्रियात्मक रूपमें रखना होगा। जब मेरी चिकित्सा-विधिसे एलोपैथी, होमियोपैथी और प्राचीन प्रणालीकी अपेक्षा अधिक रोगियोंका उपकार होगा, तब कहीं इस चिकित्सा-विधिकी उत्तमता प्रमाणित होगी और जनताके हृदयमें मेरे तथा मेरी विधिके प्रति विश्वास उत्पन्न होगा और लोग यह समझेंगे कि मेरी चिकित्सा-पद्धति सच्ची और प्रकृतिके अटल नियमोंपर स्थित है।

इस कल्पनाके साथ मेरे मनमें एक दुविधा भी उत्पन्न हुई। वह यह कि यदि मैं इस नवीन चिकित्सा-विज्ञानका प्रचार करनेमें लगता हूँ, तो मुझे अपनी २४ वर्षसे चलनेवाली फैक्टरी छोड़नी पड़ती है;

क्योंकि ऐसा किये बिना मैं पूरी तरह इस ओर काम नहीं कर सकता— और यह भी स्पष्ट दीख रहा था कि इसमें मुझे निन्दाके साथ धन और मानकी हानि भी उठानी होगी। वर्षोंतक इसी दुविधामें पड़ा रहा। स्वार्थ रोकता था और अन्तःकरण प्रवृत्त होता था।

अन्तमें अन्तःकरणकी विजय हुई। मैंने १० अक्टूबर सन् १८८३ ई० में अपना चिकित्सालय खोल दिया। पहले जो सोचा था, वही सब सामने आने लगा। आरम्भमें कई वर्षोंतक तो चिकित्सालय देखनेके लिए भी कोई विरला ही व्यक्ति आया होगा। यद्यपि इस बीचमें भी कई ऐसे उत्तम इलाज हुए, जो कीर्तिसम्पादन और जनताका चित्त इस ओर आकर्षित करनेके लिए पर्याप्त थे। फिर धीरे धीरे रोगियोंकी संख्या बढ़ने लगी। पहले तो कुछ मनुष्य केवल स्नान करनेके लिए ही आये, फिर चिकित्साके लिए भी आने लगे। इसके कुछ दिनों बाद बाहरसे भी बहुत रोगी आने लगे। इसका कारण यह था कि जो कोई भी मुझसे अपनी चिकित्सा करा जाता था, वह मेरी चिकित्सा-पद्धतिका स्वयं प्रचारक बन जाता था। मेरी चिकित्सा-विधि और निदानकी नवीन प्रणाली 'मुखाकृति-विज्ञान' हजारों रोगियों-पर सफल हुई। मैंने अपने मुखाकृति-विज्ञानके द्वारा अनेक रोगियोंको उनके होनेवाले रोगोंकी पहलेसे ही सूचना देकर प्राण-संकटसे बचाया। विशेषकर इसी निदान-विधिपर मेरा अधिक आग्रह है। क्योंकि केवल इसीके द्वारा हम भावी सन्तानको फिरसे स्वस्थ बनानेमें समर्थ हो सकते हैं।

मेरे इन सिद्धान्तोंकी पुष्टि हर मौकेपर हो चुकी है और इन आठ वर्षोंमें मेरे अनुभवमें भी विशेष वृद्धि हो चुकी है। मेरा स्वास्थ्य जो पहले असाध्य प्रतीत होता था, इस नवीन चिकित्सा-विधिके उपचारसे

इतना अधिक उत्तम हो गया है कि आज मैं अपनेको उस परिश्रमके सहन करनेके लिए सहर्ष तैयार पाता हूँ जो मेरी चिकित्साके अधिक प्रचारके कारण मुझे करना पड़ता है। यह शक्ति मुझे एक लम्बी खोजके बाद मेहन-स्नान (Sitz Bath) की विधिसे प्राप्त हुई है। यह स्नानविधि अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुई है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मनुष्यका कोई भी रोग इस क्रियासे दूर हो सकता है। यहाँ मेरा उद्देश्य प्रत्येक रोगसे है, न कि प्रत्येक रोगीसे। क्योंकि शरीरके अधिक क्षीण हो जाने और ओषधियोंके निरन्तर सेवनसे उत्पन्न हुए दोषोंके कारण मेरी चिकित्सा-पद्धति भले ही रोगको शमन न कर सके, किन्तु पीड़ाको तो अवश्य कम कर देती है।

सज्जनो, आज मैं २५ वर्षोंके शारीरिक विनाशसे अपने आपको बचाकर आपके सामने प्रसन्न चित्त और अभिमानभरे अन्तःकरणसे इस चिकित्सा-पद्धतिका वर्णन करनेके लिए खड़ा हुआ हूँ। साथ ही मैंने जनताके हितके लिए रोग विनाश करनेवाली वास्तविक चिकित्साका भी आविष्कार कर लिया है, जिसकी खोज करते करते बड़े बड़े विद्वान् थक गये और सफलमनोरथ न हो सके। यद्यपि इस उक्तिमें गर्व और अहङ्कारकी गन्ध आती है, किन्तु यह एक सच्ची बात है और यहाँ तक सच है कि जब कभी किसी रोगीकी प्राणरक्षा न हो सकी तब भी मेरा यह सिद्धान्त बिल्कुल ठीक ही रहा।

मेरी चिकित्सा-विधिकी योजना बिल्कुल प्रयोग-विधिद्वारा हुई है। जिन जिन बातोंका मुझे पता लगता गया उनका मैं क्रियात्मक रूपसे अनुभव करता गया। भले ही मुझे कुवैद्यके नामसे कलङ्कित किया जाय अथवा मुझपर नियमानुसार उस साम्प्रदायिक शिक्षाके प्राप्त न करनेका दोष लगाया जाय जो इस व्यवसायमें प्रविष्ट होनेवाले मनुष्यके

लिए आवश्यक हैं, परन्तु मैं इस निन्दाको प्रशान्त और गम्भीर भावसे सहन कर सकता हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ जगत्में अबतक जितने बड़े बड़े परोपकारी महात्मा और तत्त्ववेत्ता हुए हैं, विशेष कर नूतन सिद्धान्त और युक्तियोंके निर्माण करनेवाले, वे सब इस प्रकारके लाञ्छनों और निन्दाओंके पात्र बने हैं। जैसे—कृषिकार प्रीसनिज, कुलीन श्राथ, अध्यात्मवादी और विरक्त फ्रैंक जे० एच० रास और भेषज्यकार हान-जिनकी विलक्षण प्रतिभासे चिकित्सा-विज्ञानसम्बन्धी अपूर्व और अभिनव कलाओंका अभ्युत्थान हुआ है, इन सबपर इस तरहके लाञ्छन लगे हैं।

अब यह जानना आवश्यक है कि इस नवीन चिकित्सा-विज्ञानका परम्परागत एलेपैथी (Allopathy) होमियोपैथी (Homeopathy) और प्राचीन प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धतिसे क्या सम्बन्ध है ?

अब मैं इन चिकित्सा-प्रणालियोंकी असफलता और पोलकी जो कि मनुष्यके कार्मेमें प्रायः होती है, औचित्यका ध्यान रखते हुए वहीं तक आलोचना करूँगा जहाँतक सर्वसाधारणके उपकार और मेरे सिद्धान्तोंको भले प्रकार समझनेके लिए उसका सम्बन्ध है। यों तो प्रत्येक मनुष्यको अपनी इच्छाके अनुसार उसे स्वीकार करने और उसका अनुसरण करनेमें पूर्ण स्वतन्त्रता है, परन्तु मेरे सिद्धान्तोंको ठीक ठीक समझनेके लिए यह जान लेना आवश्यक है कि प्रचलित चिकित्सा-प्रणालियोंसे मेरी चिकित्सा-प्रणाली कहाँतक मेल खाती है और उनसे किस किस विषयमें उसका मतभेद है। इससे हम यह भलीभाँति जान जायँगे कि मेरे सिद्धान्तका उत्पत्तिस्थान कहाँ है और उसमें क्या तत्त्व भरा हुआ है।

एलोपैथी (Allopathy) के साथ इस नवीन चिकित्सा-विज्ञानकी— जिसका प्रयोग बिना औषध और बिना शस्त्रक्रियाके होता है—केवल इतनीही समता है कि दोनोंका विषय मानव-शरीर है। बाकी तो अर्थात् दोनोंके लक्ष्य और साधनोंमें पूर्व-पश्चिमका अन्तर है। सच तो यह है कि ओषधिके प्रयोगसे रोगीके शरीरमें विष प्रवेश करानेकी प्रक्रियाका इस समय बहुत अन्धेर मच रहा है। मैं यह समझता हूँ कि इस प्रकारकी चिकित्साद्वारा मनुष्योंके स्वास्थ्यका सर्वथा नाश किया जाता है। अत एव आजकल पूर्ण स्वस्थ मनुष्योंका प्रायः अभावसा हो गया है और अनेक मन्द व्याधियाँ बड़ी तेजीसे बढ़ रही हैं। इस नवीन चिकित्सा-विज्ञानके अनुसार ठीक तौरपर और ठीक समयपर चिकित्सा कर देनेसे शस्त्रक्रिया (Surgery) की कुछ भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

रही होमियोपैथी, उसका मैं हानिप्रद ओषधि-निष्ठाके प्रतिकूल धार्मिक संप्रामर्शमें एक सहकारी वीर योद्धाके समान स्वागत करता हूँ। इस प्रणालीमें ओषधिकी इतनी लघुता होती है कि उसका रासायनिकको बोध तक नहीं होने पाता तथा इसकी पथ्यापथ्यपर प्रबल दृष्टि नवीन चिकित्सा-विज्ञानके लिए एक सीढ़ी है। फिर भी उसकी औषध चाहे वह अत्यन्त अल्पमात्रामें ही दी जाती है, शरीरमें कोई न कोई हानि अवश्य उत्पन्न करती है, यह मेरा अनुभव है।

प्राचीन प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली जो अबतक प्रचारमें आई हुई है अन्य समस्त चिकित्सा-प्रणालियोंसे कहीं अच्छी है। वही मेरी पद्धतिकी आधारशिला है। उसके अग्रगण्य नेता प्रीसनिज़, श्राथ, रास और थियोडोर हानके विचार और उनकी कल्पनायें उसके आधुनिक प्रतिनिधियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत हैं। अतएव मैंने उन्हींका

अनुसरण किया है। इसके ये आधुनिक प्रतिनिधि प्राकृतिक सिद्धान्तों-को प्रत्येक व्यक्तिकी भिन्न भिन्न दशाके अनुकूल बनानेमें ऐसे लगे कि इनसे प्रकृतिका व्यापक, प्रशस्त और सरल मार्ग तो छूट गया और ये विकृतिके बीहड़ मार्गमें जा पड़े। यह प्राचीन प्रणाली दोषोंके गुण और स्वभावसे बिल्कुल अपरिचित है और प्रकृतिके नियमोंसे भी अनजान है। शरीरमें दोष किस प्रकार सञ्चार करते और कहाँ अपना ठिकाना बनाते हैं; अर्थात् इसको न तो रोगकी सामूहिक प्रकृतिक ही ज्ञान है और न यह बात ही इसे मालूम है कि वह सामूहिक प्रकृति जो एक है व्याधिके विभिन्न रूपोंमें किस तरह अनेक प्रतिभासित होती है और न उसे प्रकृतिके उन अटल नियमोंका ही पता है जो शाश्वत होनेपर भी अज्ञात थे। किन्तु मेरा यह नवीन विज्ञान प्रकृतिके उन्हीं नियमोंपर अवलम्बित है। फिर प्राचीन प्रणालीमें एक और भी दोष है, वह यह कि निदानके लिए कभी कभी डाक्टरों, वैद्योंकी शरण लेनी पड़ती है, जिससे कोई लाभ नहीं। परिणाम यह निकलता है कि वह पुरानी भ्रान्तियोंकी छूतसे सर्वथा शुद्ध नहीं है। इसके विपरीत नवीन चिकित्साका यह विज्ञान निदानका एक निराला ढंग बताता है, जिसमें रोगकी प्रकृतिका निर्णय रोगीके मुख और गर्दनको देखकर किया जाता है। इसे मैंने मुखाकृति-विज्ञानका नाम दिया है।

प्राचीन चिकित्सा-प्रणालीमें अनेक प्रकारके प्रयोग रक्खे गये हैं। यथा—भीगी चादर, पिचकारी, बस्ती, वर्षाविधि, अर्द्धाङ्ग स्नान, सर्वाङ्ग पूर्णस्नान, आसनिक स्नान और नाना प्रकारके वाष्पस्नान। परन्तु जब कि रोगकी यथार्थ स्थितिका पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब ये साधन अनेक अंशोंमें निकम्मे और भ्रामक हो जाते हैं। नवीन चिकित्सा-

विज्ञान जलके इन अनेक प्रयोगोंकी जटिलताको दूर करके उसके मार्गको सरल बनाता है ।

साधारणतः प्राचीन प्रणालीमें पथ्यापथ्यकी भी कोई व्यवस्था नहीं है । रोगीको बहुधा सभी खाद्य पदार्थोंका यथेच्छ रूपसे आहार कराया जाता है । किन्तु नवीन चिकित्सा-पद्धतिमें सात्त्विक प्रकृतिके आधारपर केवल अनुत्तेजक खाद्य पदार्थोंके आहारकी विधिका ही विस्तृत रूपसे विधान किया गया है ।

अब आप स्वयं देख सकते हैं कि प्राचीन चिकित्सा-पद्धतिसे (यद्यपि यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसने भी अपना अद्भुत कार्य कर दिखाया है) मेरा चिकित्सा-विधि इतनी आगे बढ़ गई है कि अब उसका नाम इस पद्धतिसे अलग रखना मुझे अनुचित दिखाई नहीं देता ।

अपनी इस चिकित्सा-विधिके आविष्कारसे पहले मैंने परीक्षाके तौरपर जो जो प्रयोग किये हैं, उनका यहाँ विस्तारसे वर्णन करना असम्भव है । यद्यपि उन प्रयोगोंसे श्रोताओंका मनोरञ्जन तो अवश्य होगा, परन्तु उससे विशेष अर्थसिद्धि नहीं है । यही बड़ी अच्छी बात है कि मनुष्य सीधे मार्गसे अपने अभीष्ट स्थानपर पहुँच जाय और उसे गलत रास्तोंमें भटककर असली रास्ता ढूँढ़नेका कष्ट न उठाना पड़े ।

इस प्रस्तावनाके बाद अब मैं प्रधान विषयकी चर्चा आरम्भ करता हूँ ।

जिसकी हमको प्रथम आलोचना करनी आवश्यक है और जिसपर मेरी सारी चिकित्सा-विधि अवलम्बित है, वह प्रश्न यह है कि—
“ शरीरका कौनसा भाग नीरोग और स्वस्थ है और कौनसा नहीं ? ”

इस विषयमें जैसा कि आप सब जानते हैं विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। कोई कहता है—वैसे तो मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ, परन्तु कुछ गठियाकी शिकायत है। दूसरा कहता है कि तनिक स्नायुविकार रहता है, बाकी सब तरहसे नीरोग हूँ। मानों उन्होंने यह समझ रक्खा है कि देह पृथक् पृथक् भागोंमें बँटा हुआ है और एकका दूसरेसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि चिकित्सक-समाज भी यही मानता है। क्योंकि वे लोग प्रायः एक अङ्गकी चिकित्सा करते समय दूसरे किसी पासवाले अङ्गपर कुछ भी ध्यान नहीं देते। परन्तु इममें कुछ सन्देह नहीं कि सारा मानव-शरीर एक संयुक्त समूह है, जिसके भिन्न भिन्न अङ्ग एक दूसरेके साथ अत्यन्त घनिष्ठता रखते हैं। अतएव एक अङ्गमें उत्पन्न हुई व्याधि दूसरे अङ्गपर प्रभाव डाले बिना कभी नहीं रह सकती। दैनिक व्यवहारमें यह बात नित्य दिखाई पड़ती है कि आपके दाँतोंमें पीड़ा है तो आपसे काम नहीं होता, खान-पान कुछ नहीं सुहाता। उँगलीमें फँस लग जानेपर भी यही दशा होती है और पेटमें पीड़ा होनेपर शारीरिक और मानसिक किसी प्रकारका काम करनेको हमारा चित्त नहीं चाहता। इसका कारण यह है कि एक स्थानमें हुई पीड़ाका प्रभाव स्नायुद्वारा एकदम सारे शरीरमें फैल जाता है। अतएव यह देखा जाता है कि एक पीड़ाके होनेपर और भी अनेक व्याधियाँ उठ खड़ी होती हैं। यदि वह पीड़ा अधिक कालतक रहती है तो उसका परिणाम भी ठिक जाता है, यदि हमको प्रतीत हो या न हो। इस लिए पूर्ण आरोग्य तभी कहा जा सकता है जब कि शरीरके सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्ग साम्यावस्थामें हों और बिना किसी कष्ट, भार या प्रयासके अपना अपना कार्य करते रहें। साथ ही यह भी आवश्यक है कि अवयवोंका स्वरूप

अपने कार्य-सञ्चालनके योग्य और सुन्दर होना चाहिए। जब कि आर्य स्वरूप विकृत हो जाता है तब समझना चाहिए कि इसका कोई प्रधान कारण अवश्य है। परन्तु पहले स्वरूपका आदर्श स्थिर करनेके लिए गम्भीर विचारकी आवश्यकता है। इसके लिए सबसे पहले हमको ऐसे स्वस्थ व्यक्ति मिलने चाहिए जिनके स्वरूपसे हम शिक्षा ग्रहण कर सकें। परन्तु आजकल दुर्भाग्यसे ऐसा होना दुर्लभ सा है। यद्यपि हम बहुतसे बलवान् और दृष्टपुष्ट मनुष्योंको देखकर स्वस्थ समझते हैं और वे भी अपनेको ऐसा ही कहते हैं, परन्तु बारीक नजरसे देखनेपर पता लगता है कि प्रत्येक मनुष्यके भीतर थोड़ा बहुत कोई न कोई विकार छिपा रहता है। जैसे किसीके मीठा दर्द रहता है, किसीके दन्तपीड़ा हो जाती है, किसीके सिरमें दर्द रहता है, आदि आदि। इससे यह सिद्ध होता है कि कोई भी मनुष्य पूर्ण स्वस्थ नहीं है। इस कारण स्वरूपका आदर्श स्थिर करनेके लिए हमको केवल सापेक्ष ज्ञानका सहारा लेना पड़ेगा। अर्थात् रोगी मनुष्यकी नीरोगसे तुलना करनी पड़ेगी। आगे चलकर मैं आपको यह दिखलाऊँगा कि मैंने इस कार्यमें कितनी सफलता प्राप्त की है।

ऊपर कहा जा चुका है कि रोगके कारण देहके स्वरूपमें अन्तर पड़ जाता है। इसके कुछ उदाहरण मैं आपको नीचे देता हूँ। आप तनिक उन मनुष्योंका स्मरण कीजिए जो अति स्थूल हैं और जिनका शरीर गेंदके समान गोल-मटोल हो रहा है। इसके अतिरिक्त तनिक उनका भी ध्यान कीजिए जिनके शरीरपर कदाचित् ही मज्जाका अंश हो, अर्थात् जो बहुत सूखे हैं। निःसन्देह यह दोनों ही रोगकी मूर्ति हैं। किसीके दाँत गिर जाते हैं, जिससे उसकी मुखाकृति बदल जाती है और कोई वातव्याधि (गठिया-जिसमें ग्रन्थियाँ हो जाती हैं) में

फँसा हुआ है। कोई वातजन्य सन्धिपीड़ा (Articular rheumatism) से पीड़ित है, जिसके कारण सम्पूर्ण अङ्गोंमें शोथ हो जाता है। इन सभी रोगोंकी दशाओंमें शरीरके स्वरूपमें इतना अधिक और स्पष्ट परिवर्तन हो जाता है जिसको एक साधारण विद्यार्थी भी सहजमें पहचान सकता है। किन्तु अन्यान्य व्याधियोंमें इस प्रकारके विकार सहजमें दिखाई नहीं देते। परन्तु मैं आपको ऐसे भी कुछ दृष्टान्त दूँगा जो सर्वमान्य हैं। आप यह जानते हैं कि स्वस्थ मनुष्यके नेत्रोंमें निर्मलता और शान्ति विराजमान रहती है और उसकी मुखाकृति-की रेखाओंमें भी तोड़ मरोड़ या खींचातानी नहीं होती। परन्तु यह जानना कठिन है कि मुखाकृतिका शुद्ध रूप कौनसा है और यह भी मानना ही पड़ेगा कि किसी किसीकी दृष्टि इस प्रसंगमें औरोंकी अपेक्षा अधिक तीव्र होती है। जब हम कभी किसी ऐसे मनुष्यको देखते हैं जो बहुत समयके बाद मिला हो तो हम प्रायः यह जान लेते हैं कि उसकी परिस्थिति पहलेकी अपेक्षा बहुत हीन हो गई है। यद्यपि हमको इस परिवर्तनका स्पष्ट रूपसे कारण नहीं मालूम होता, परन्तु यह रूपान्तर-क्रिया जिसके द्वारा देहकी सुन्दरता नष्ट होने लगती है कुछ गंभीर भाव अवश्य रखती है, जिसका मैं आगे चलकर वर्णन करूँगा। इस युक्तिसे यह सिद्ध होता है कि रोग अपने आपको देहमें रूपके परिवर्तनद्वारा प्रकट करता है। यह परिवर्तन विशेषकर मुख और गर्दनमें होता है। अतएव इसके सिद्धान्तकी जिज्ञासा करना हमारा परम कर्तव्य है।

मैं यह नहीं कह सकता कि प्रत्येक मनुष्यको इसमें कहाँतक सफलता प्राप्त हो सकती है। क्योंकि विज्ञानकी प्राप्तिके लिए विशेष यत्न और निरन्तर अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। जो मनुष्य

मेरे इस विज्ञानके जिज्ञासु हों उनको चाहिए वे मेरे मुखकृति-विज्ञान (Science of Facial Expression) ग्रन्थको पढ़ें, जिसमें उक्त विषयका स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है ।

अब मैं स्वास्थ्यकी एक दूसरी कसौटीपर आपका ध्यान दिलाता हूँ ।

चूँकि प्रत्येक रोगका प्रभाव सारे शरीरपर पड़ता है, अतएव पूर्ण स्वास्थ्यकी परीक्षा किसी एक अवयवके कार्यको देखकर भी की जा सकती है । इस परीक्षाके लिए सम्पूर्ण अवयवोंसे हमें कोई ऐसा अवयव ले लेना चाहिए, जिसके कार्यकी पूर्ण रूपसे सहजमें परीक्षा हो सके । ऐसे अवयव वे हैं, जिनके द्वारा पाचनका कार्य होता है । उत्तम पाचन स्वास्थ्यका प्रधान लक्षण है । जबतक पचनक्रिया अच्छी तरह होती रहती है तबतक शरीर पूर्ण आरोग्य रहता है । इसका समाधान पशुओंके स्वास्थ्यको देखनेसे सहज ही हो सकता है । मलके द्वारा पाचनके शुभाशुभ लक्षण मल भोजि निश्चित हो जाते हैं । मलका त्याग इस प्रकार होना चाहिए कि वह गुदाको न लगे और वह अङ्ग बिल्कुल साफ रहे । यह लक्षण स्वच्छन्द-विहारी पशुपक्षियोंमें सदैव पाया जाता है । इस विषयकी विस्तृत व्याख्या करनेमें शिष्टताका उल्लंघन हो जाना सम्भव है । इसके लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ । क्योंकि शारीरिक विज्ञानका निरूपण करनेमें प्रत्येक अवयवका परिचय उसके नामसे ही दिया जाता है ।

गुदाके बाहरी हिस्सेकी बनावट कुछ इस विलक्षण ढंगसे हुई है कि यदि मल ठीक हालतमें हो तो वह बिना किसी कष्टके और बिना गुदासे छुए बाहर निकल जाता है । इस विषयका विस्तृत निरूपण मैंने अपनी “ क्या मैं रोगी हूँ या नीरोग ” नामक पुस्तकमें किया है ।

इस कारण मलत्यागके पश्चात् जलप्रक्षालन अथवा और किसी उपायसे गुह्य स्थानको शुद्ध करना केवल रोगियोंके लिए ही है। नीरोग मनुष्योंके लिए इसकी कुछ आवश्यकता नहीं होती। परन्तु इस कथनसे आप कहीं भ्रममें न पड़ जायँ। क्योंकि मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि रोगीको प्रचलित शौच-विधिके परित्यागसे कोई अलभ्य लाभ हो जायगा। वास्तवमें रोगीको शुद्धिके नियमोंको पालन करनेकी विशेष आवश्यकता है। इस प्रकार मनुष्य अपनी पाचनशक्तिद्वारा अपने स्वास्थ्यका भली भाँति अनुमान कर सकता है। यह परीक्षा बहुत उत्तम है। विरोधी लोग मेरी भले ही दिहगी उड़ायें, परन्तु मैं इस सिद्धान्तको सोलह आने सच समझता हूँ।

वह मनुष्य अत्यन्त सौभाग्यशाली है जो उक्त परीक्षाद्वारा नीरोग सिद्ध होता है। नीरोग मनुष्य सदैव प्रसन्न रहता है। जब तक कोई बाह्य कारण उपस्थित न हो जाय उसको किसी तरहकी पीड़ा या बेचैनीसे वास्ता नहीं होता—और न उसको अपने शरीरका ही कुछ भान होता है। उसको काम करनेमें बड़ी प्रसन्नता होती है—और काम करना उसे तबतक अच्छा मालूम होता है जबतक कि वह थक न जाय। फिर उसको आराम करनेकी इच्छा होती है। उसको मानसिक चिन्ता कभी नहीं सताती। विपत्तिके समय मानसिक पीड़ाको शान्त करनेके लिए उसका हृदय द्रवीभूत होकर उसे आँसुओंकी सम्पत्ति प्रदान करता है। इस प्रकार आँसू बहानेमें उसे लज्जा नहीं आती। आरोग्य मनुष्यको गार्हस्थ्य जीवनकी चिन्ता कभी नहीं होती; क्योंकि वह अपने परिवारके पालनके लिए उपार्जन करनेमें अपने आपको सदैव समर्थ पाता है। नीरोग माताको सन्तान-पालनमें हर्ष होता है। क्योंकि प्रकृतिके अनुसार अपनी सन्तानको पालन करनेका उसमें

सामर्थ्य होता है। यदि उसके पालक भी नीरोग होते हैं तो अहा ! उसका जीवन कैसा आनन्दमय होता है। उनके मुखपर मन्द मन्द मुसकानके पुष्प नदैव खिले रहते हैं—और शोक, सन्ताप, अशान्ति आदिका वहाँ पता नहीं मिलता। उन शिशुओंके शिक्षणमें भी आनन्दका स्रोत बहता है। क्योंकि वे सदैव अपने शिक्षकके अनुवर्ती रहकर उसकी आज्ञाका पालन करते हैं।

इन सब बातोंका सारांश यह है कि स्वभावसे ही विज्ञानकी ओर मेरी प्रवृत्ति हुई। भीषण व्याधि और चिकित्सक-समाजकी असफलताके कारण मुझे प्राकृतिक विधिकी ओर प्रेरणा हुई। उसमें भी असफलता होनेसे मेरी मनोवृत्ति बराबर उसके तात्त्विक अंशोंकी खोजमें प्रवृत्त हुई। इस प्रकार प्रकृतिका निरन्तर अनुशीलन करते करते मुझे यह ज्ञान हुआ कि रोग शारीरिक अवयवोंके बाह्य रूपमें उलट-फेर कर देता है। वह परिवर्तन किस प्रकार होता है और रोग शान्त होनेपर स्वयं किस प्रकार लुप्त हो जाता है; इन दोनों बातोंके निरीक्षणसे मुझे यह शिक्षा प्राप्त हुई कि रोग क्या वस्तु है और वह किस प्रकार उत्पन्न होता है।

अब अगले व्याख्यानमें, मैं अपने अविरल परिश्रमसे प्राप्त किये हुए सिद्धान्तको आपके सम्मुख रखूँगा—और उसमें यह बतलाऊँगा कि मेरे मतके अनुसार रोगकी क्या प्रकृति है; वह किस प्रकार उत्पन्न होता है, उसका क्या प्रयोजन है और वह किस प्रकार शान्त हो सकता है।



रोग कैसे उत्पन्न होता है ? ज्वर क्या है ?

दूसरा व्याख्यान

रोग क्या है ? वह कैसे उत्पन्न होता है और किस प्रकार अपने आपको प्रकट करता है ?

आज मैं इन्हीं प्रश्नोंपर आपसे चर्चा करना चाहता हूँ। आपने व्याख्यानके शीर्षकमें दूसरा प्रश्न “ ज्वर क्या है ? ” अवश्य पढ़ा होगा। आप देखेंगे कि इस प्रश्नका उत्तर और बातोंके साथ हाँ अपने आप कैसे निकल आता है।

इन प्रश्नोंके उत्तर केवल सिद्धान्तकी दृष्टिसे ही नहीं, क्रियात्मक दृष्टिसे भी अधिक आवश्यक हैं। क्योंकि जबतक हमको रोगकी प्रकृतिका पूर्ण ज्ञान नहीं होगा तबतक यह कैसे सम्भव है कि हम अपने अभीष्ट स्थानपर सीधे पहुँच जायँ, अर्थात् रोगकी वास्तविक चिकित्सा-विधिसे हमारा परिचय हो जाय और अन्धेरमें अन्धेकी टटोलसे भी बचे रहें।

हम जिस मार्गका अनुसरण करते हैं, वही है जो महाशक्ति प्रकृति देवीके साम्राज्यको जाता है। केवल वहीं पहुँचकर हमें उसकी लीलाका विचित्र दर्शन मिलता है और उसकी परिस्थिति और कार्य-शैलीका सम्यक् बोध होता है। पहले हम किसी बातपर विचार करते हैं, फिर उससे कुल परिणाम निकालते हैं और अन्तमें उनको प्रयोगद्वारा सिद्ध करते हैं।

सबसे पहले हमारी दृष्टि उन सब लक्षणोंपर होनी चाहिए जो रोगियोंमें मिला करते हैं। फिर हमें उन लक्षणोंपर ध्यान देना चाहिए जिनका निरन्तर आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है—और जो प्रत्येक रोगीमें पाये जाते हैं।

रोगका वास्तविक स्वरूप-निर्णय करनेमें इन्हींपर हमें सबसे पहले विचार करना चाहिए।

पिछले व्याख्यानमें मैंने यह बताया था कि कुछ रोगोंकी दशांमें शरीरमें भारी रूपान्तर हो जाता है। इसी लक्ष्यपर मेरे मनमें यह तर्क वितर्क उठता रहा कि ये परिवर्तन प्रत्येक रोगीमें होते हैं या नहीं।

अब मुझे अनुभव करते करते यह निश्चय हो गया है कि वास्तवमें यह बात ठीक है। मुख और गर्दनपर इस रूपान्तर-क्रियाका विशेष प्रभाव होता है और वहींपर इसका पता भी सहजमें लग जाता है।

फिर वर्षोंतक मैंने यह परीक्षा की कि मेरा व्यक्तियोंपर किया अनुभव समष्टिपर भी घटता है या नहीं और शरीरके बाहरी रूपमें हुआ यह परिवर्तन सोरे स्वास्थ्यमें विकार उत्पन्न कर देता है या नहीं। परिणाममें यही बात सर्वत्र ठीक उतरी।

बस मुझे यह निश्चय हो गया कि प्रत्येक शरीरके लिए स्वरूपका एक केन्द्र होना चाहिए और जो आरोग्य अवस्थामें ही बना रह सकता है। इस केन्द्रके विचलित होते ही रोग आरम्भ होता है। फिर तो मुझे यह भी स्पष्ट होने लगा कि मुख और गर्दनकी रूपान्तर-दशाको देखकर रोगीके स्वास्थ्यकी ठीक परीक्षा किस प्रकार हो सकती है। इसी क्रमसे खोज करते करते अन्तमें मेरी नवीन निदान-विधि

२१ रोग कैसे उत्पन्न होता है ?

‘ मुखाकृति-विज्ञान ’ की उत्पत्ति हुई, जिसको मैं लगभग १५ वर्षोंसे व्यवहारमें ला रहा हूँ ।

जो परिवर्तन हमें मुख और गर्दनमें दिखाई पड़ता है, वही पेड़ Abdomen और कमर Rump के अनुयोगी (सम्बन्ध रखनेवाले) भागोंमें और भी अधिकतासे दिखाई देता है । आगे यह बात आयेगी कि परिवर्तन स्वयं पेड़ोंमें ही पैदा होता है । इसीलिए हमें केवल मुख और गर्दनकी परीक्षासे समस्त शारीरिक दशाका बोध हो जाता है । गर्दन और मुखमें परिवर्तन प्रतीत होनेके लिए यह आवश्यक है कि पहले शरीरकी शिराओंमें दूषित द्रव्य पहुँच जाय । ऐसी दशामें शरीर खड़की तरह फूल जाता है । यह दशा अधिक भयानक नहीं होती । अब यदि शिराओंमें सख्ती है तो वह खड़की तरह फूलेगा तो नहीं, किन्तु उसमें मांसकी उस थैलीके समान तनाव आजायगा, जिसमें ठूस-ठूसकर इतना मांस भर दिया है कि वह तनावके कारण इधर उधरको मुड़ नहीं सकती । यही दशा शरीरकी हो जाती है । पहली दशामें केवल फुलाबट है, किन्तु दूसरीमें फुलाबटके साथ तनाव भी होता है, जिसके कारण शरीरका वह भाग; अर्थात् मुख और गर्दन मोड़े नहीं जा सकते । इसी प्रकार शरीर भी एक हद तक ही फैल सकता है, फिर उसमें तनाव आने लगता है । यह तनाव उस समय स्पष्ट प्रतीत होता है, जब कि रोगी अपने सिर और गर्दनको मोड़ता है । यह दशा अत्यन्त भयङ्कर होती है । जब कि शिराओंमें दूषित द्रव्यके आनेको जगह नहीं रह जाती तब वह ग्रन्थियोंके रूपमें शिराओंके पास त्वचाके नीचे इकट्ठा होने लगता है—और उस समय वह गर्दनमें साफ दिखाई देता है । जब वे

ग्रन्थियाँ सिर और गर्दनमें पाई जाती हैं तब इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि वे दुर्ग्रन्थियाँ पेड़ों और भी अधिक हैं। पेड़पर हाथ फेरकर अथवा दृष्टिसे देखकर उनका सहजमें निश्चय किया जा सकता है। क्योंकि वहाँ दूषित द्रव्यके छोटे बड़े अनेक टुकड़े पाये जाते हैं। गर्दनमें वे तब तक नहीं आ सकते जब तक पेड़ोंमें भर न जायँ। इन ग्रन्थियोंकी उत्पत्ति और प्रकृतिके विषयमें होनेवाली व्याख्या आगे चलकर फेफड़ोंके रोगोंके वर्णनमें की जायगी। इसके पश्चात् अब आप दुबले देहवाले रोगियोंपर एक दृष्टि डालिए। उनके शरीरकी नसें दुर्द्रव्यके कारण अपनी असली हालतसे कितनी चल-विचल हो जाती हैं। उस समय उन नसोंका बचा-खुचा अंश सिकुड़कर विजातीय द्रव्यमें लीन सा हो जाता है।

त्वचाके अनेक तरहके बुरे रंगोंसे भी रोगका पता लगता है और अनेक बीमारियोंमें त्वचाके रंगका बिगड़ना अनिवार्य है।

आगेके पृष्ठमें लंप हुए दोनों चित्र एक ऐसे रोगीके हैं, जिसे हृदय-रोगके साथ जलोदर भी था। पहला चित्र उसकी चिकित्सा आरम्भ होनेके समयका है और दूसरा चित्र चार महीने चिकित्सा करके लिया गया है। आप देख सकते हैं कि इतने समयमें ही रोगीकी आकृतिमें कितना बड़ा अन्तर हो गया है। देखिए, पहले उसके भीतर विजातीय द्रव्यका कितना अधिक भार था और मेरी तीन महीनेकी चिकित्साने ही दूषित द्रव्यको शरीरमें प्रकृतिके खोले मार्गोंसे कितना निकाल दिया है। यह बात दूसरे चित्रसे साफ मालूम हो रही है। मुझे यहाँपर मुखाकृति-विज्ञानका थोड़ासा ही परिचय देना है। क्योंकि उसका अधिक विवेचन करनेसे मुख्य विषय छूट जायगा।



चित्र नं० १



चित्र नं० २

परन्तु शरीरमें इस प्रकारका उलट-फेर हो जानेसे हमको रोगके सम्बन्धमें क्या बात माझ्म होती है ? सबसे पहले निःस्सन्देह यह फुलाव और मोटापन किसी न किसी द्रव्यके भर जानेसे होता है । परन्तु आरम्भमें कोई यह नहीं जानता कि वह द्रव्य शरीरके किसी काममें आनेवाला है या शरीरमें केवल गलत जगह इकट्ठा हो गया है जिसका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं है—और न आरम्भमें हम यही जानते हैं कि इसी द्रव्यसे रोग उत्पन्न होता है या रोग ही इस द्रव्यके संग्रहका हेतु है । परन्तु अधिक विचार करनेसे हम सच बातके निकट पहुँच सकेंगे । क्योंकि द्रव्यका संग्रह सदैव शरीरके एक पार्श्वमें आरम्भ होता है, अतएव उसी भागमें दूसरे भागकी अपेक्षा वह अधिकतर होता है—और यह पार्श्व सदा वही होता है, जिससे हमको सोनेकी

आदत होती है। इससे यह पता लगता है कि दूषित पदार्थ आकर्षण-शक्तिके नियमको मानता है। इसी लिए वह शरीरके निचले भागमें जाकर टहर जाता है। जिस पार्श्वमें दूषित द्रव्य भरा होता है, वही अधिक रोगग्रस्त होता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि दूषित द्रव्य ही रोगका हेतु है, नहीं तो रोग कभी दूसरे पार्श्वमें भी उत्पन्न होता दिखाई देता। आगे इस विषयकी पुष्टिके लिए और भी प्रमाण दिये जायेंगे।

इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि यह द्रव्य विजातीय है; और उसका शरीरसे कभी उसके वर्तमान रूपमें कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि हम यह कभी नहीं मान सकते कि पोषक पदार्थ भी शरीरमें आकर्षण-शक्ति-द्वारा आकृष्ट होता है। नहीं तो पोषक पदार्थ भी शरीरके उसी पार्श्वमें संचित हुआ करता, जिससे मनुष्य सोया करता है।

इसके अतिरिक्त शरीर भी इस द्रव्यको प्रत्यक्ष रीतिसे निकालनेकी स्वयं चेष्टा किया करता है। घाव या नासूर होना, अधिक पर्सानेका निकलना अथवा फुड़ियोंका उत्पन्न होना आदि साधनोंसे शरीर दूषित द्रव्यको बाहर निकालनेका प्रयत्न किया करता है। यदि दूषित द्रव्य शरीरसे काफी परिमाणमें निकल गया है तो बीमारीके बाद तत्तीयत हल्की मालूम होने लगती है।

इससे हमको रोगकी यह परिभाषा स्वयं मिल गई कि “ शरीरमें विजातीय द्रव्यकी स्थिति ” का नाम रोग है। इस परिभाषाके समर्थनके लिए एक अमोघ परीक्षा है। यदि उस मलके (जिसे हमने दूषित द्रव्य कहा है) उचित ढंगसे निकल जानेसे व्याधि अपने आप शान्त हो जाती है और साथ ही शरीरको भी उसका स्वाभाविक रूप प्राप्त हो जाता है तो हमारी परिभाषा ठीक है।

इसका प्रमाण पहले भी दिया जा चुका है और आगेके व्याख्यानों-में भी अपने प्रयोगसिद्ध अनुभवोंका मैं आपको हाल सुनाऊँगा ।

परन्तु इस समय यह कठिन समस्या उपस्थित है कि विजातीय द्रव्य क्या वस्तु है और वह शरीरमें किस प्रकार प्रवेश कर जाता है ।

शरीरमें किसी चीजके जानेके दो मार्ग हैं—एक नासिकाद्वारा फेफ-ड़ोंमें, और दूसरा मुखद्वारा उदरमें । इन दोनों मार्गोंपर रक्षाके लिए द्वारपाल नियत कर दिये गये हैं, लेकिन वे बिल्कुल ऐसे नहीं हैं जो शिथिल और कर्तव्यभ्रष्ट न हो सकें । अतएव कभी कभी ऐसे पदार्थों-को भी शरीरमें चला जाने देते हैं, जिनका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं है । ये द्वारपाल नासिका और जिह्वा हैं । एक वायु और दूसरा आहारके लिए ।

जैसे जैसे हम घ्राण और रसास्वादनमें विवेकशून्य होते जाते हैं, वैसे ही वे भी अपने कर्तव्यपालनमें शिथिल होते जाते हैं—और शनैः शनैः हानिकर पदार्थोंको शरीरमें बेरोक-टोक घुस जाने देते हैं । जैसे मनुष्यको तमाखूके धुर्येसे भरे स्थानमें बैठने और उसे स्वच्छ वायुकी तरह साँसद्वारा पी जानेका कैसा अभ्यास हो जाता है । जीभके बिगाड़का तो कुछ ठिकाना ही नहीं; क्योंकि इसे तो शनैः शनैः बिल्कुल अप्राकृतिक पदार्थोंमें ही मज्जा आने लगता है । आज कल जो अनेक तरहकी खाने-पीनेकी चीजें अच्छी जायकेदार समझी जाती हैं; उन्हें कई सौ वर्ष पहले कोई जानता भी न था । इस समयके मनुष्य उन अप्राकृतिक पदार्थोंके इतने वशीभूत हो गये हैं कि वे शुद्ध स्वाभाविक आहारको त्यागना तो सहजमें स्वीकार कर लेंगे, किन्तु उन हानिकारक पदार्थोंका छोड़ना उनके लिए असम्भवसा हो गया है ।

हमारे फेफड़ोंकी आहारसम्बन्धी प्रवृत्ति आज भी इतनी निकृष्ट नहीं हुई है, जितनी कि खाने-पानेकी बिगड़ गई है। क्यों कि वहाँ-पर भोगवासनाको इतना ठौर नहीं मिला है। स्वभावसे ही स्वच्छ वायु अब भी बहुत अनुकूल पड़ता है, परन्तु अन्नका सात्विक आहार—जो कि हमारे पूर्वजोंमें बल, वीर्यकी वृद्धि करता था—हमें अब नहीं रुचता।

इस विषयको कि पाचनशक्ति अप्राकृतिक आहारके सेवन करनेसे कितनी निर्बल हो जाती है आप एक दृष्टान्तसे समझ लेंगे। एक भाड़ेका टट्ट जो एक मन बोझ सहजमें लाद ले सकता है, चाबुककी मारसे यदि किसी दिन इससे अधिक अर्थात् दो या तीन मन बोझ लादकर ले जाय और उसका मालिक अपने मनमें यह समझकर कि घोड़ा अधिक बोझ ले जा सकता है, उसपर प्रतिदिन उतना ही बोझा चाबुकके जोरपर लादने लगे, तो उसका क्या फल होगा ? अर्थात् घोड़ा कुछ दिन तक तो उस भारको जैसे तैसे ले जा सकेगा, परन्तु बोझका अधिक परिश्रम उस पशुको शीघ्र ही निकम्मा कर देगा। प्रतिदिन उसकी शक्ति क्षीण होती जायगी और कुछ दिनमें ही वह एक मन बोझ ले जानेके योग्य भी न रहेगा। उस पशुकी अशक्त टाँगों और दुर्बलताके अन्य लक्षणोंसे साफ माहूम हो जाता है कि उससे अधिक काम लिया गया है। मनुष्यके पाचन-यन्त्रकी भी यही दशा है। बहुत दिनोंतक चटपटे पदार्थोंकी उत्तेजनासे वह भले ही अपनी स्वाभाविक शक्तिसे अधिक कार्य किये चला जाय, परन्तु शनैः शनैः उसकी शक्ति क्षीण होती चली जायगी और अन्तमें वह उतना काम भी न कर सकेगा जितना उसके लिए स्वाभाविक था। इस प्रकार मनुष्यका स्वास्थ्य धीरे धीरे रोगके रूपमें बदल जायगा और

उस मनुष्यको इसकी कुछ भी खबर न होगी । (इस परिवर्तनमें प्रायः १०—२० या इससे भी अधिक वर्ष लग सकते हैं ।)

यह बतलाना असम्भव है कि एक मन्द जठराग्निवाला मनुष्य कितने आहारको पचा सकता है । सम्भव है कि एक सेव उसके लिए हितकारी हो, लेकिन दो हानिकारक हों । क्योंकि एक सेवको तो उसकी मन्द अग्नि पचा लेगी, परन्तु दोको न पचा सकेगी । आहारमें थोड़ीसी भी अधिकता शरीरके लिए ज़हर है । हमको यह कभी न भूलना चाहिए कि प्रत्येक वस्तुका, जो पेटमें पड़ती है, परिपाक होना भी आवश्यक है । एक स्वस्थ मेदा परिमित आहारको ही पचा सकता है, उससे अधिक वस्तु उसके लिए ज़हर बन जाती है । यदि वह शरीरसे बाहर न निकलेगी, तो विजातीय द्रव्यको उत्पन्न कर देगी । इस लिए केवल खान-पानका संयम ही स्थायी स्वास्थ्यकी आधार-शिला है ।

अब यह जाननेकी बात है कि उस विजातीय द्रव्यका क्या होता है । मैं इस द्रव्यको विजातीय इस लिए कहता हूँ कि यह देहकी जातिसे भिन्न है । शरीर उस द्रव्यको सदैव बाहर निकालनेका प्रयत्न करता है और केवल उन्हीं द्वारोंसे जो प्रकृतिने इस कार्यके लिए नियत कर रखे हैं । वह फिर साँसके रास्ते फेफड़ोंसे सीधा निकलकर आसपासके वायुमण्डलमें मिल जाता है । आँतें उसे उदरसे बाहर निकाल देती हैं । अथवा पहले पहल वह रक्तमें ही मिल जाता है—और फिर वहाँसे पसीना, पेशाब और वायुके रूपमें त्वचा, गुर्दे और फेफड़ोंके रास्ते बाहर निकल जाता है ।

इस प्रकार शरीर अत्यन्त कौशलके साथ हमारी हमारे पापोंके फलोंसे रक्षा करता रहता है । अतः, हमको उससे अधिक काम नहीं

लेना चाहिए । यदि हम उक्त द्रव्यको निकालनेका अधिक कार्य शरीर-पर डालेंगे तो वह अपने कामको पूरी तरह नहीं कर सकेगा; बल्कि उसे उस दुर्द्रव्यको अपने भीतर ही स्थान देना पड़ेगा । परन्तु इस दुर्द्रव्यसे शरीरकी किसी क्षतिकी भी पूर्ति नहीं होती, बल्कि उससे शरीरकी ही क्षति होती है । क्योंकि उससे रक्तके संचारका अवरोध होता है, जिससे पाचनशक्ति बिगड़ जाती है । इस प्रकार दूषित द्रव्य शनैः शनैः अनेक स्थानोंमें, विशेषकर मलको निकालनेवाले मार्गोंके आसपास इकट्ठा होने लगता है, क्योंकि वह उसी मार्गपर चला करता है ।

बस, जहाँ एक बार दुर्द्रव्यकी जड़ जमी कि वह तेजीके साथ बढ़ने लगती है । आहार-विहारमें तत्काल संशोधन करनेसे ही हम इससे बच सकते हैं ।

फिर शरीरके रूपमें अन्तर पड़ने लगता है । परन्तु आरम्भमें इस अन्तरको कोई जाननेवाला ही मात्तूम कर सकता है । शरीर इस दशामें रोगग्रस्त तो होता ही है, चाहे रोगकी अवस्था मन्द या गुप्त हो और पीड़ा न देती हो । रोगका विकास शरीरमें इतना धीरे धीरे होता रहता है कि जिसे यह होता है उसे तनिक भी मात्तूम नहीं होता । बहुत समय बीतनेपर अपनी दशामें एक अप्रिय परिवर्तन मात्तूम होने लगता है । फिर उसे न पहले जैसी भूख लगती है, न उसका शरीर पहले जैसा परिश्रम कर सकता है और न वह अधिक समय तक किसी कामपर अपना ध्यान ही जमा सकता है । उसकी दशा तबतक भी सद्य रहती है जबतक शरीर दूषित पदार्थको निकालनेका कार्य करता रहता है । अर्थात् आँतें, गुर्दे, फेंफड़े अपना अपना काम करते रहते हैं और त्वचामेंसे गर्म पसीना निकलता रहता है । इन यन्त्रोंके शिथिल होते ही उसकी बैचैनी बढ़ने लगती है ।

पहले कहा जा चुका है कि विकृत पदार्थ शरीरसे मल निकालने-वाले मार्गोंके आसपास इकट्ठा हुआ करता है। वहाँसे शीघ्र ही उसका संचार दूरके भागोंमें विशेषकर शरीरके ऊर्ध्व भागकी ओर होने लगता है। गर्दनमें वह स्पष्ट दिखाई पड़ता है। जिस मार्गसे विजातीय पदार्थ अपनी यात्रा करते हैं, उसमें भी रूपान्तरके चिह्न स्पष्ट मालूम पड़ जाते हैं और साथ ही गर्दनको यदि मोड़ा जाय तो उसमें तनाव भी दिखाई पड़ता है जिससे यह पता चल जाता है कि विजातीय द्रव्य किस ओरसे ऊपरकी ओर चढ़ा है।

द्रव्य-संचयके परिणामोंका वर्णन करनेसे पहले यह बता देना आवश्यक है कि वर्तमान कालमें रोगोंकी उत्पत्तिके पूर्ण विकासका आरम्भसे अवलोकन करना प्रायः असम्भव है। क्योंकि मनुष्य इस समय संसारमें दूषित द्रव्यके भारको धारण किये हुए ही भूमिष्ठ होते हैं। बालकोंके शैशवावस्थाके रोगोंमें प्रायः मृत्यु हो जानेका भी यही मुख्य कारण होता है। यथार्थमें व्याधियाँ शरीरको शोधन करनेकी प्रणाली हैं, जिसके द्वारा शरीर विकृत पदार्थको अपने अन्दरसे निकालनेका यत्न किया करता है। इसका विशेष वर्णन अगले व्याख्यानमें किया जायगा।

विजातीय द्रव्यका विशेषकर उदरमें संचय होना प्रारम्भ होता है, फिर धीरे धीरे समस्त शरीरमें फैल जाता है और अवयवोंकी स्वाभाविक वृद्धिको रोकता है।

यदि किसी अवयवकी कुछ वृद्धि हो भी जाय परन्तु उसकी पूर्ण वृद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि जहाँ कहीं शरीरमें विजातीय द्रव्य होता है वहाँ पोषक पदार्थोंके लिए जगह घिर जाती है। इसके अतिरिक्त उन स्थानोंमें रक्तका संचार भली भाँति न होनेसे पोषणका कार्य यथेष्ट

रूपसे नहीं होता। अतएव वे अवयव छोटे ही रह जाते हैं, जिनमें विजातीय द्रव्य भरा होता है।

यह द्रव्य भले ही बहुत समय तक शान्त और निकम्मा पड़ा रहे, परन्तु अनुकूल कारणोंके मिलते ही वह अपने रूपको सहजमें बदल लेता है। यह द्रव्य विशेषकर उन कणोंसे बना होता है जो घुल जाने-वाले और अलग अलग हो जानेवाले होते हैं अथवा पिस जा सकते हैं और फिर दूसरा रूप धारण कर लेते हैं—और उन तत्त्वोंसे बना होता है जिनमें उद्वेग हो सकता है।

उद्वेग-क्रिया तो हमारे शरीरमें प्रायः ही होती रहती है, उसपर हमें अच्छी तरह विचार करना चाहिए।

उद्वेगकी दशांमें बहुत बारीक जीवाणु उत्पन्न हो जाते हैं और वे उद्वेगजनक पदार्थमें बड़ा परिवर्तन कर देते हैं, जिससे उस पदार्थका आकार बहुत बढ़ जाता है।

उद्वेगसे गर्मी पैदा होती है और जितना भी अधिक उद्वेग होगा उतनी ही गर्मी भी बढ़ती जायगी। दो वस्तुओंकी परस्पर अथवा शरीरके साथ रगड़ होनेपर गर्मी पैदा होती है। इसी प्रकार स्वयं उद्वेगजनक क्रियासे और उद्वेगकारक पदार्थोंमें रूपान्तर होनेसे भी गर्मी होती है।

ठीक हालतोंमें उद्वेगकी हरएक क्रिया अपने ही रास्तेपर लौटाई जा सकती है और यही ढंग उद्वेगसे पैदा हुए स्वरूपोंके समस्त परिवर्तनोंका भी है। यह एक ऐसा विषय है कि जिसकी ओर अबतक किसीका भी ध्यान नहीं गया था। यह देखिए कि बर्फ पिघलकर किस तरह पानी हो जाता है और फिर गर्मीकी अधिकता और वायुसे आप बनकर अदृश्य हो जाता है। फिर मेघ बनकर हमारी आँखोंका

विषय बनकर जल, बर्फ और उपल रूपमें वर्षाद्वारा पृथ्वीपर आता है और नदी नालोंमें बहने लगता है, जिसे हम फिर ठंड देकर बर्फके रूपमें जमा ले सकते हैं। यह सब लौट-फेर केवल गर्मीके तारतम्यसे हुआ करता है। अर्थात् गर्मीकी वृद्धि जलकी दशामें यह सब तब-दीली कर देती है। फिर ठंडकी अधिक मात्रा उन सब हालतोंको उलट देती है। शरीरमें विजातीय द्रव्यकी भी इसी प्रकार प्रगति होती है और फिर विलोम विधि उसी क्रमसे उसे लौटाकर उसे शरीरसे बाहर निकाल देती है।

यह पक्ष गौण है कि इन उद्वेगजनित सूक्ष्म जीवोंका क्या गुण और स्वभाव है। किन्तु यह जानना आवश्यक है कि उनकी वहाँपर वृद्धि हो सकती है जहाँ उनके अनुकूल भूमि होती है; अर्थात् जहाँ वे वस्तुयें हैं, जिनमें शीघ्र उद्वेग होनेवाला है या हो सकता है।

जहाँ ऐसे पदार्थ विद्यमान होते हैं, वहाँ उनमें उद्वेग उत्पन्न करनेके लिए केवल उपयुक्त ऋतु या और किसी उत्तेजक कारणके मिलनेभरकी कसर रहती है। मानव-शरीरमें तो इस उद्वेगको उत्पन्न करनेके लिए केवल जरासे निमित्तकी आवश्यकता रहती है। क्योंकि वहाँ विजातीय द्रव्यका खमीरी तत्त्व पहलेसे ही प्रचुर परिमाणमें प्रस्तुत रहता है। उद्वेगको पैदा करनेवाले विशेषकर निम्नलिखित कारण हुआ करते हैं। जैसे ऋतुका परिवर्तन, (जो कि ठंडके नामसे प्रसिद्ध है) उद्वेगजनक पदार्थोंका आहार, (जो कि गुरुपाकी होनेके कारण दीर्घ कालतक पक्काशयमें पड़े सड़ते रहते हैं) क्रोध, भय, मानसिक विकार और किसी प्रकारका आघात आदि।

अनुभव बताता है कि उद्वेग-क्रिया सदैव पेड़से आरम्भ होती है और प्रायः दस्त हो जानेसे शान्त हो जाती है। किन्तु जब पेटमें कब्ज

होता है तब शरीर उद्वेगजनक पदार्थको निकालनेमें शीघ्र सफल नहीं होता और उद्वेग बना रहता है। विशेषकर उन भागोंमें जहाँ विजातीय द्रव्य अधिक संचित हैं।

उस समय मनुष्यकी दशा नीचे चित्रमें दिखाई बोतलके समान होती है। बोतलके निचले भागमें तो निकलनेको कोई मार्ग होता नहीं, इस लिए उद्वेगजन्य पदार्थ ऊपरको; अर्थात् बोतलके मुँहकी ओर निकलना शुरू होता है। ठीक इसी प्रकार उद्वेगजन्य पदार्थका प्रभाव प्रथम हमारे शरीरके ऊपरी भागमें हुआ करता है, जिसके कारण हमारे सिरमें दर्द होता है। उद्वेग गर्मी पैदा करता है और उसीके कारण हमारे रक्तमें गर्मी बढ़ जाती है। इसी दशाका नाम ज्वर है। ज्वर तभी हो सकता है जब शरीरमें विजातीय द्रव्य मौजूद हो और उसके निकलनेके सब मार्ग रुक गये हों। अर्थात् (१) जब कि आँतोंने अपना काम छोड़ दिया हो। (२) मूत्रकी कमी हो। (३) शरीरके मसाम (रोमछिद्र) बन्द हों। (४) श्वासकी गति मन्द हो।



इन सब बातोंसे हमें ज्वरकी बहुत सरल व्याख्या मिल गई; जो कि बहुत दिनोंकी परीक्षा और अनुभवसे सत्य सिद्ध हुई है। शरीरमें चाट्ट उद्वेग-क्रियाका नाम ही ज्वर है। अब हमें ज्वरके लक्षणोंका अच्छी तरह बोध हो सकता है। मानवशरीरके बाहर उद्वेग-क्रिया जिस प्रकार होती हुई प्रायः देखी जाती है उसका ठीक ठीक चित्र शरीरके भीतर कल्पित करना ही उसको सम्यक् प्रकारसे समझनेका सर्वोत्तम उपाय है। यदि हम नवीन मद्यको बोतलमें कुछ दिनोंतक बन्द रहने दें, तो उसमें एक प्रकारका परिवर्तन दिखाई पड़ेगा, जिसको साधारणतया उद्वेग कहा जा सकता है। हम उद्वेगके विषयमें केवल इतना ही जानते हैं कि यह किसी वस्तुके विच्छेद अथवा क्षयकी अवस्था है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि इस दशामें छोटे छोटे कृमि (Bacilli) पैदा हो जाते हैं। परन्तु यह ध्यान रहे कि ये कृमि केवल बाहरसे ही आकर नहीं मिल जाते हैं, बल्कि वस्तुमें परिवर्तन होनेसे स्वतः उत्पन्न भी हो जाते हैं। अतएव यों कह

(१) पाश्चात्य आयुर्वेद-विज्ञान कृमि-सिद्धान्त (Germ theory) पर कायम है। उन्होंने उत्पात्तिक्रम कृमिसे माना है। रोगका हेतु भी वे कृमिको ही मानते हैं और शरीरकी उत्पात्ति भी कृमिसे ही बताते हैं, इत्यादि। इन कृमियोंकी अनेक जातियाँ हैं। ये आँखसे नहीं दिखाई पड़ते। किन्तु सूक्ष्मदर्शक यन्त्रोंसे (Microscope) दिखाई पड़ते हैं। इस जल-चिकित्साके आचार्य लुई कोहने महोदयने यह सिद्ध किया है कि ये कृमि उद्वेग-क्रियामें प्रादुर्भूत होते हैं और उद्वेग शरीरस्थ आहारके पचन होनेसे जाग्रत होता है। इन कृमियोंसे शरीर बनता है, जो जीवका अधिष्ठान है। शरीरमें क्रियाका होना शरीरका स्वामाविक धर्म है। इस क्रियामें ज्ञानशक्तिका संयोग होनेपर उसको जीवात्मा कहते हैं। क्योंकि चिकित्साशास्त्र केवल शरीरसे सम्बन्ध रखता है, इस लिए क्रियाशक्तिक्र यहाँ जीवन नामसे प्रतिपादन किया गया है। और शेष ज्ञानशक्तिका प्रतिपादन हमारे वेदान्त शास्त्रमें किया गया है।

लीजिए कि वे स्वतः वस्तुका परिवर्तित स्वरूप हैं। उद्देग अथवा रासायनिक क्रियासे वस्तुका स्वाभाविक रूप बदल जाता है। इन कृमियोंकी सृष्टि खान-पानसे होती है जिसका पाचन-कालमें उद्देग-क्रियाके द्वारा रूपान्तर होता है। अर्थात् कृमि उस आहारसे उत्पन्न होते हैं जो पाचनकी उद्देग-क्रियासे परिवर्तित होता है। इस प्रकार हम स्वभावतः इस परिणामपर पहुँचते हैं कि किन्हीं नियमोंके अनुसार निरन्तर होने-वाले परिवर्तनका नाम ही जीवन है और बिना उस विधिके जिसका मैंने उद्देगके नामसे उल्लेख किया है, उसकी कल्पना होनी भी असम्भव है।

उद्देगके बाहरी लक्षण निम्नलिखित हैं:—

प्रथम उद्देगजनक पदार्थ द्रव पदार्थसे अलग होकर बोतलकी पेंदीमें जाकर जम जाता है। उस समय यदि बोतलको हिलाया जाय या ऋतुमें परिवर्तन हो जाय, तो बोतलकी तलीका पदार्थ चल-विचल हो जाता है और फैलनेकी चेष्टा करता है। फैलनेकी दशामें वह ऊपरको चढ़ता है, उसकी मात्रा उद्दिग्गपदार्थके परिमाण तथा मौसमकी हालतपर अवलम्बित है।

अब हमको उद्देगके हेतुओंपर विशेषरूपसे विचार करना चाहिए। यह बात हर कोई जानता है कि मद्य या आसव-अरिष्टको बोतलोंमें बन्द करके तहखानेमें इस अभिप्रायसे रक्खा जाता है कि उनमें जहाँतक हो उद्देग उत्पन्न न होने पावे। तहखानेकी गर्मी, ग्रीष्म और शरद्-ऋतुमें एकसी रहती है। वहाँके वातावरणमें सहसा कोई अन्तर नहीं पड़ता। अत एव उसमें तीव्र उद्देग होनेके प्रधान कारणका अभाव रहता है। इसी प्रकार मनुष्य-शरीरमें भी ग्रीष्मऋतुमें बहुत जल्दी उद्देग हो जाता है।

हम देखते हैं कि दक्षिणमें और गर्म देशोंमें तरह तरहके भयंकर ज्वर हुआ करते हैं, लेकिन शीतप्रधान देशोंमें सदैव मन्द व्याधियाँ (Chronic) बनी रहती हैं । इसका प्रधान कारण यह है कि उष्णताप्रधान देशोंमें अत्यन्त शीघ्रतासे और अधिक परिमाणमें गर्मी घटती बढ़ती रहती है । ऐसे देशोंमें दिनमें थर्मामेटरका पारा १००° फा० अंशपर रहता है, परन्तु रात्रिमें ४०° फा० अंशपर उतर आता है । इसके विपरीत उत्तरीय प्रदेशमें रात्रि-दिनके ताप-मानमें कदाचित् २२° अंशसे कुछ ही अधिक अन्तर पड़ता हो, बल्कि कम ही रहता है । हमारे देश (जर्मनी) में ज्वरका प्रकोप बहुधा वसन्त ऋतुमें हुआ करता है, क्योंकि यहाँ दिन-रातके ताप-मानमें उन दिनों सबसे अधिक अन्तर रहता है । प्रायः मनुष्योंको इसपर आश्चर्य होगा कि वचपनमें क्यों तीव्र व्याधियाँ हुआ करती हैं और वृद्धावस्थामें क्यों प्रायः मन्द व्याधियाँ होती हैं । इसका कारण केवल यही है कि उक्त ऋतु-भेदके नियमोंको प्रबल शैशव-शक्तिके द्वारा विशेष बल प्राप्त होता है जो कि इतनी अधिक होती है कि स्वास्थ्यसंपादनके लिए और शरीरका संशोधन करनेके लिए (अर्थात् किसी तीव्र रोगके द्वारा शरीरसे दूषित पदार्थको निकालनेके लिए) उसको शरीरमें उत्तेजना लानेके लिए किसी बाह्य कारणकी आवश्यकता नहीं पड़ती ।

जो दशा बेतलमें होती है, वही दशा मनुष्य-शरीरमें भी होती है । शरीरमें भी उद्वेगजनक द्रव्य अधोभागमें ही संचित होता है । फिर ऋतुपरिवर्तन, बाह्य आघात, मानसिक उद्वेग आदि किसी कारणसे वह विचलित हो जाता है । यहाँ भी उसकी गति ऊपरको होती है । उद्वेग-जनक पदार्थ फैलनेकी चेष्टा करते हैं और त्वचापर दबाव डालते हैं । जबतक त्वचाके छिद्र बन्द रहते हैं तबतक दबावमें वेग रहता है,

जिसके कारण रगड़ होती है और उससे गर्मी पैदा हो जाती है। यही हमारे सुपारीचित ज्वर-सन्तापकी व्याख्या है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ज्वरकी दशामें मनुष्यके चेहरे-पर तमतमाहट क्यों आ जाती है; अर्थात् शरीरकी त्वचा जो रबड़के समान घटने बढ़नेकी शक्ति रखती है उद्वेगजनक पदार्थके संवेगसे दबाव खाती है—और जितना अधिक संवेग होता है, उतना ही त्वचामें तनाव होने लगता है। जब त्वचाका तनाव पूर्ण अवधि तक पहुँच जाता है और उसमें अधिक समाई नहीं रहती, तब ज्वर भी अन्तिम सीमातक पहुँच जाता है और रोगीकी दशा बड़ी नाजुक हो जाती है। क्योंकि उद्वेगजनक द्रव्य उस समय भी फैलनेकी चेष्टा करता है और बाहर निकलनेमें असमर्थ होनेके कारण उसे अपना घर भीतर ही बनाना पड़ता है। शरीर उस समय भीतर ही भीतर जलने लगता है—और इसका अन्तिम परिणाम मृत्युके सिवा और कुछ नहीं होता। परन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब कि त्वचाके रन्ध्र बन्द हों। यदि किसी प्रकार वे छेद खुल सकें तो फिर कोई भय नहीं। क्योंकि उस समय उद्वेगजनक पदार्थको बाहर निकलनेका मार्ग मिल जाता है और वह पसीनेके द्वारा शरीरसे बाहर निकल जाता है। इससे शरीरके भीतरी भागको शान्ति मिल जाती है और दाह और तनाव दूर हो जाता है।

यह बतानेकी तो आवश्यकता ही नहीं कि विजातीय द्रव्यसे पूरित मनुष्य-शरीर और मद्यकी बोतलमें पूरी समानता नहीं हो सकती। बोतलमें द्रव्यके निकलनेके लिए मार्ग खुला रहता है, वह जिधर चाहे उधर फैल सकता है। जबतक वह चारों ओरकी दीवार तक न पहुँचे उसके लिए कोई रुकावट नहीं है। किन्तु मनुष्यके शरीरमें स्थान स्थान-

३७ रोग कैसे उत्पन्न होता है ?

पर रुकावटें मौजूद हैं। प्रत्येक अवयव उसके मार्गमें विक्षेप डालता है और उसके संचारको रोकता है। तब वह द्रव्य उस अवरोधी अवयव-पर प्रहार और उससे संघर्ष करता है। उस समय यदि उसको निकलनेका मार्ग न दिया जाय अथवा उसकी गतिको निवृत्त न किया जाय तो वह उस अवयवमें ताप उत्पन्न करके उसका नाश कर देता है। शरीरके जिस अंगपर भी उसका विशेष आघात होता है, वह आघात उसी अंगकी व्याधिके नामसे पुकारा जाता है। जैसे अजीर्ण, क्षय, जलोदर, यकृद्विकार, हृदोग आदि। परन्तु प्रत्येक व्यक्तिके लिए वह अवयव जिसपर आघात पहुँचा है, दुर्द्रव्यके उस मार्गपर अवलम्बित है, जिसके द्वारा उद्वेगजनक द्रव्य फैला है। वह मार्ग वास्तवमें दुर्द्रव्यके संचय-स्थान और उसके ढंगपर अवलम्बित है।

यह मैं आगे चलकर बताऊँगा कि बन्द मसामोंको खोलनेकी तरीका क्या है ? इससे पहले मैं एक और लक्षणकी ओर आपका ध्यान दिलाता हूँ। ज्वर आनेसे पहले हमें कितने ही दिन, सप्ताह अथवा महीनों पहलेसे एक और लक्षण दिखाई पड़ता है जो प्रत्यक्षरूपसे उक्त लक्षणों (ज्वर-सन्ताप) के सर्वथा विरुद्ध है। वह कुछ सर्दी या ठंडसी माद्धम होते रहना है। इसकी व्याख्या भी सरल है। जब विजातीय द्रव्यका संचय इतना अधिक हो जाता है कि उसके कारण शरीरके सीमान्त भागोंमें रक्तका संचार अच्छी तरह नहीं होने पाता, और वह भीतरी भागोंमें जम जाता है, तब उससे भीतरी ऊष्माकी वृद्धि होती रहती है और हथेली पंजों आदिमें गर्म खून न पहुँच सकनेके कारण ठंड सी माद्धम हुआ करती है।

दूषित द्रव्यका संचय उस समय तक होता रहता है जब तक उक्त कारणोंमेंसे कोई—जैसे ऋतुपरिवर्तन, आघात या मानसिक विकार—

उपस्थित होकर उद्वेग उत्पन्न न कर दे। व्यक्तियोंकी अवस्थाओं में भेद होनेके कारण इसमें समयकी कोई अवधि नियत नहीं हो सकती। संचित द्रव्य रक्त-संचार और पोषणके कार्यमें बाधा डालता है। रक्त-वाहिनी शिरायें भी कुछ न कुछ अवरुद्ध हो जाती हैं। विशेषकर उनके अति सूक्ष्म भाग अवरुद्ध हो जाते हैं और इसी लिए बाहरी त्वचा तक रक्तका संचार नहीं हो पाता। हाथ पाँवके ठंडे होनेका यही कारण है और इसी लिए कभी कभी सारे शरीरमें ठंडका असर हो जाता है। इस तरहकी ठंड ज्वरकी सूचना देती है और उसकी उपेक्षा करना भारी भूल है। यदि उसका तुरन्त उचित उपाय कर दिया जाय तो “न रहे बाँस न बजे बाँसुरी” इस उक्तिके अनुसार जड़ कट जानेसे ज्वर उत्पन्न ही न हो सकेगा।

ऊपर उद्वेगके स्वभावका निरूपण करते हुए मैंने यह बतलाया था कि सब प्रकारकी उद्वेगजन्य क्रियामें सूक्ष्म जीव (Bacilli) आपसे आप उत्पन्न हो जाते हैं। ज्वरमें भी यही होता है। इस प्रकार बेसिलार्डके जटिल प्रश्नका भी हमें बहुत सरल उत्तर मिल गया। जब शरीरके द्रव्यमें उद्वेग-क्रिया होती है तब कृमि स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। वे उद्वेगके ही कारण उत्पन्न होते हैं, अतः जब उद्वेग शान्त होकर शरीर स्वस्थ हो जाता है तब वे भी स्वतः नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् उसी समय जब कि उद्वेग-क्रियाका प्रत्यावर्त्तन होता है।

इस लिए यह कहना व्यर्थ है कि बिना विजातीय द्रव्यके यों ही इन कृमियोंसे (Bacilli) कोई संसर्ग-दोष उत्पन्न हो जाता है। यह उपयुक्त प्रश्न नहीं है कि कृमियोंको किस प्रकार नष्ट किया जाय। बल्कि यह विचारना चाहिए कि उद्वेगके हतु अर्थात् विजातीय द्रव्यको किस तरह निकाला जाय। ऐसा करनेपर वे सूक्ष्म जीव जिन्होंने अन्न

पुरुषोंको भयभीत कर रक्खा है स्वयं नष्ट हो जायेंगे । किसी आगामी व्याख्यानमें संसर्गजन्य दोष अर्थात् छूतके रोगोंका विस्तारसे वर्णन किया जायगा ।

अब मैं अपने कथनको और अधिक स्पष्ट करनेके लिए नीचे कुछ साधारण दृष्टान्त देता हूँ । मान लीजिए, घरके किसी कमरेको कुछ दिन बिना झाड़े-बुहारे छोड़ दिया जाय और वहाँ प्रतिदिन गर्द, कूड़ा जमा होने दिया जाय, तो थोड़े ही दिनोंमें उस कमरेमें अनेक प्रकारके कीड़े, मकोड़े, मच्छर आदि उत्पन्न हो जायेंगे और उसमें रहनेवालोंको इतना कष्ट देंगे कि उनको नष्ट करनेका पूरा प्रयत्न करना पड़ेगा । यदि उन जन्तुओंको प्राचीन प्रणालीसे नष्ट करनेकी चेष्टा की जायगी तो बहुत सारे जीव मर तो अवश्य जायेंगे पर उससे स्थितिमें कोई स्थायी परिवर्तन न होगा । कृमियोंको उत्पन्न करके उनका पोषण करनेवाला वास्तविक हेतु कूड़ा है, जिसमेंसे नये झुंडके झुंड बराबर निकलते रहेंगे । यदि हम उस कमरेको झाड़-बुहारकर साफ कर दें तो बिलकुल हालत ही बदल जायगी । यदि सदैव सफाईके नियमोंका पालन किया जायगा तो कृमियोंके आहारका अभाव होनेसे हम उन कीड़ोंसे हमेशाके लिए छुटकारा पा जायेंगे ।

दूसरी मिसाल—प्रीष्मद्भुतमें जंगलके किसी दलदलके किनारेका ध्यान बाँधिण । आप देखेंगे कि वहाँ मच्छरोंका कितना जोर है । उनको नष्ट करनेके लिए विषप्रयोग सर्वथा बृथा है । यदि इस क्रियासे लाखों करोड़ों मच्छर मर जायेंगे, तो असंख्य नये मच्छर दलदलसे बराबर निकलते भी रहेंगे । दलदल स्वतः इस प्रकारके कीड़ोंका पालन-भूमि है । हमको प्रथम दलदलके मिटानेकी चेष्टा करनी चाहिए, जिससे उन जीवोंका स्वतः विनाश हो जाय । यह सब जानते हैं कि पहाड़ोंके

शुष्क शिखरोंपर मच्छर नहीं होते । यदि कोई मनुष्य उन जीवोंके एक समुदायको पकड़कर पहाड़पर ले जाय और वहाँ उनके पालनेकी चेष्टा करे, तो वे जन्तु जो बड़े परिश्रमसे वहाँ पहुँचाये गये थे, तत्काल उड़कर अपनी जन्मभूमि दलदलमें चले आयेंगे । क्योंकि शुष्क पर्वत उनके रहनेके लिए अनुकूल स्थान नहीं है ।

तीसरे दृष्टान्तसे यह विषय और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है । आपको विदित है कि उष्णता-प्रधान देशों (Tropics) में—जहाँ अधिक गर्मीके कारण नाना प्रकारके जीवोंकी उत्पत्ति साधारण उष्ण और शीत-प्रधान देशोंकी अपेक्षा अधिक होती है—प्रकृतिने हिंसक और मांसाहारी जीवोंकी अधिक सृष्टि की है । उनको नष्ट करनेके लिए चाहे कितना हो प्रयत्न क्यों न किया जाय, परन्तु उनकी सृष्टिमें कमी नहीं हो सकती । इस प्रकार आप देखते हैं कि ऐसे मांसाहारी पशुओंकी वहीं अधिक उत्पत्ति होती है जहाँ जीवोंकी विशेष उत्पत्तिके कारण गन्दगी विशेष होती है । यदि सलामतीका यह उपाय नहीं किया जाता तो वे मृत पशु अपनी दुर्गन्धसे शीघ्र वायुको दूषित कर देते, जिससे वह स्थान वहाँके प्राणियोंके रहने योग्य नहीं रहता । इससे यह स्पष्ट है कि मुख्य मुख्य मांसाहारी जीव गर्म देशोंमें क्यों रहते हैं, और ठंडे उत्तरी ध्रुवोंमें क्यों नहीं अपना घर बनाते जहाँ कि घास-पात खाकर जीने-व ले बारहसिंघा हिरन भी नहीं रह सकते ।

यदि हम इन अयनवृत्तस्थ (Tropics) मांसाहारी जीवोंको नष्ट करना चाहें, तो हमको चाहिए कि प्रथम उनकी स्थितिके कारणको नष्ट करें, अर्थात् छोटे छोटे पशुओंके समुदायको । ऐसा करनेसे हिंसक पशु स्वयं नष्ट हो जायेंगे । इसके अलावा और सब उपाय व्यर्थ होंगे । परन्तु जीव जो जितने छोटे होते हैं उनका विनाश बड़े जीवोंके विनाशकी

४१ रोग कैसे उत्पन्न होता है ?

अपेक्षा उतना ही अधिक दुस्तर होता है। इसका समुचित उदाहरण बेसिलाई जीव हैं। विषप्रयोगके द्वारा उनका विनाश करना व्यर्थ है। उनकी उत्पत्तिके कारणका विनाश करनेसे ही उनका विनाश हो सकता है। अर्थात् शरीरसे विजातीय द्रव्यको निकाल देनेसे।

इन उदाहरणोंसे यह प्रमाणित होता है कि प्रकृति देवी महा-शक्तिका रूप धारण करके किस प्रकार विराट्का कार्य करती है और बिल्कुल उसी रीति तथा उन्हीं नियमोंके द्वारा छोटे मापपर प्राण-शक्तिके रूपसे कार्य करती है। रोगकी दशाओं भी उसके किसी नियममें कोई अन्तर नहीं पड़ता। जिस तरह सूक्ष्म कृमि, मच्छर, हिंसक और मांसाहारी पशुओंकी स्थिति अनुकूल दशापर अवलम्बित है, ठीक उसी प्रकार ज्वर भी अपनी अनुकूल दशाके बिना नहीं रह सकता। अर्थात् शरीरमें विजातीय द्रव्यकी स्थितिके बिना ज्वर कभी नहीं हो सकता। जहाँ यह दुर्द्रव्य होता है वहींपर किसी कारणसे उद्वेग होने लगता है। इसीको ज्वर कहते हैं।

जब हमें यह ज्ञात हो जायगा कि ज्वर क्या वस्तु है, तब उसकी चिकित्सा ढूँढ़ निकालना कुछ कठिन न होगा। त्वचाके बन्द छिद्रोंको—जिनके ऊपर उद्वेगका प्रभाव पड़ता है—खोल देना चाहिए। यह कार्य शरीरमें पसीना लानेसे भलीभाँति हो सकता है।

जब शरीरसे पसीना निकलने लगेगा, उसी समय उद्वेगजन्य द्रव्यको निकलनेका मार्ग मिल जायगा और त्वचाका तनाव और ज्वरका ताप कम हो जायगा।

परन्तु केवल पसीना आनेसे रोगका कारण नष्ट नहीं होगा, क्योंकि उद्वेग प्रत्येक दशामें संचित द्रव्यके कुछ अंशमें ही होता है, शेष भाग जो उत्तेजित नहीं हुआ है, नित्य नवीन उपचयके द्वारा बढ़ता रहता है और

ज्वरका कारण बनता रहता है, जो कि फिरसे फूट निकलनेके लिए अवसर ताकता रहता है। इस लिए हमारा कर्तव्य यह होना चाहिए कि जो द्रव्य शरीरके भीतर छिपा हुआ है उसको बाहर निकाल दें। इस कार्यको सिद्ध करनेके लिए मैंने उदर-स्नान और मेहन-स्नानकी विधि निकाली है, जिनका वर्णन आगे किया जायगा। उनके द्वारा शरीर विजातीय द्रव्यको निकालनेकी चेष्टा करता है।

इसके साथ ही ऐसी वस्तुयें और ऐसी आदतें छोड़ देनी चाहिए, जिनसे शारीरिक कार्यमें किसी प्रकारकी बाधा पहुँचती है। रोगीको काफी आराम मिलना चाहिए। उसको कोई किताब सुनाकर या बात चीत करके छेड़ना नहीं चाहिए। रास्तोंका कोलाहल भी रोगीके लिए अच्छा नहीं है। उसके कमरेमें दिनमें अधिक प्रकाश नहीं आना चाहिए। रात्रिमें भी अधिक प्रकाशकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु स्वच्छ वायुके आने जानेका काफी प्रबन्ध रहना चाहिए।

जब विजातीय द्रव्य शरीरसे प्रचुर परिमाणमें निकल जायगा, तब ज्वरका कारण स्वयं निवृत्त हो जायगा और फलतः रोग आप ही शान्त हो जायगा।

इस व्याख्यानका निचोड़ यह है कि बीमारीकी हालतमें शरीरकी आकृतिमें परिवर्तन हो जाता है। वह परिवर्तन विजातीय द्रव्यके कारण होता है। शरीरमें विजातीय द्रव्यके होनेहीका नाम रोग है। यह द्रव्य उन चीजोंसे बनत है जिनकी शरीरको कुछ आवश्यकता नहीं है और जो केवल पाचनशक्तिके विकृत होनेसे शरीरमें पड़ी रह जाती हैं। विजातीय द्रव्य उत्सर्ग मार्गोंके समीपमें संचित होता है, फिर बादक़े सारे शरीरमें फैल जाता है, विशेषकर जब उसमें उद्वेग उत्पन्न होता है। जबतक शारीरिक अवयव उसको निकालते रहते हैं, तबतक

शरीरकी दशा सदा रहती है। परन्तु जब वे अवयव शिथिल हो जाते हैं तब अनेक उपद्रव उत्पन्न होने लगते हैं। विजातीय द्रव्यका संचय पीड़ा देनेवाला नहीं होता। यह क्रिया मन्द और गुप्तरूपसे दीर्घ काल-तक शरीरमें अदृश्य रूपसे होती रहती है।

विजातीय द्रव्यके इकट्ठे होनेसे जो व्याधियाँ होती हैं, वे पीड़ाहित और गुप्त होती हैं। वास्तवमें वे ही मन्द और स्थायी व्याधियाँ कहलाती हैं।

विजातीय द्रव्य रासायनिक प्रक्रिया हुआ करती है; इसी लिए वह उद्वेगका प्रधान कारण और बेसिलाईकी जन्मभूमि है। उद्वेग पैडूमें आरंभ होता है, क्योंकि वहाँपर ही विजातीय द्रव्य अधिक भागमें रहता है। परन्तु वह शीघ्र ही ऊपरको फैलने लग जाता है। उस समय रोगीकी दशा बदल जाती है, उसको कष्ट होने लगता है और ज्वर हो जाता है। इन लक्षणोंके होनेसे पीड़ा और प्रदाह हो जाता है और उसको व्याधि कहा जाता है।

इन समस्त युक्तियोंसे यह सारांश निकला कि सम्पूर्ण रोगोंका एक ही मूल कारण है और रोग भी केवल एक ही है, जो कि अनेक रूपोंमें दिखाई पड़ता है। अतएव हमको भिन्न भिन्न रोगोंके रूपमें भेद समझना चाहिए, न कि भिन्न भिन्न रोगोंमें। यहाँ यह सूचित कर देना अनुचित न होगा कि रोगोंमें बाह्य आघात (चोट आदिका लगना) रोगके नामसे निर्दिष्ट नहीं किया गया है। इसका आगे त्रण और क्षतोंकी चिकित्सामें निरूपण किया जायगा।

इस प्रकार यह रोगोंकी एकताका सिद्धान्त निरूपण किया गया है, जिसका मैं उक्त अनुभूत युक्तियोंद्वारा समर्थन और प्रचार करता हूँ।

मैंने वह रास्ता बता दिया है जिससे मैं इस सिद्धान्तपर पहुँचा हूँ कि रोग एक है, जिसे बहुत लोग तो मेरा दुस्साहस ही समझेंगे।

विचार और उपपत्तियोंके द्वारा तो अब हम इस सिद्धान्तपर पहुँच गये हैं, जो रोगकी चिकित्साके लिए सारभूत है, परन्तु क्या मैं इस सिद्धान्तको अमलमें क्रियाके द्वारा भी ठीक उतार ले जाऊँगा ?

विज्ञानकी दृष्टिमें केवल यही एक प्रमाण है कि प्रयोग करके देख लिया जाय । इस लिए यह प्रश्न भी तभी हल हो सकता है जब कि भिन्न भिन्न रोगोंकी एक ही चिकित्सा की जाय और यदि मेरा कहना ठीक है तो उसमें समानरूपसे सफलता प्राप्त होगी, यह प्रमाण मैं दे चुका हूँ और बराबर दे रहा हूँ । पुस्तकके अन्तमें जो चिकित्साओंकी रिपोर्टें दी गई हैं उनसे यह बात साफ हो जाती है ।

यह तो किस तरह हो सकता है कि सभामें सब प्रकारके रोगियोंको लाकर उनकी चिकित्सा आपके सामने की जाय जिससे कि उनके रोगकी दशामें, उनके स्वरूपमें तथा बलमें जो अन्तर होता चले उसे आप देख सकें । यहाँ तो केवल यही सम्भव है कि अगले व्याख्यानमें रात दिनके प्रचलित और भयावह रोगोंपर आपका ध्यान दिलाऊँ । उनका कारण समझाकर उनकी चिकित्सा निश्चय करूँ । साथ ही अपने प्रयोगोंका हाल सुनाऊँ, जिससे आपको यह मादूम हो जाय कि भिन्न भिन्न व्याधियाँ अपने एक ही मूल कारणसे किस प्रकार सम्बन्ध रखती हैं ।

अगले व्याख्यानमें बाल्यावस्थाकी व्याधियोंका विवेचन किया जायगा ।

मेरे अगले व्याख्यानका विषय वह होगा जिसे लोग बचपनकी श्रीमारियाँ कहते हैं



बचपनके रोगोंकी प्रकृति, उद्गम, उद्देश्य, चिकित्सा और उनकी एकता ।

ख़सरा, सुख़्ख़ार, कण्ठावरोध, शीतला,
काली खाँसी, कण्ठमाला ।

प्रिय सज्जनो,

शरीरमें विजातीय द्रव्यके होनेका नाम रोग है ।

पिछले व्याख्यानमें जो बहस की गई थी उससे हम इस नतीजेपर पहुँचे थे कि यह दुर्द्रव्य शरीरमें या तो जन्मसे ही होता है अथवा बादको शरीरमें हानिकारक पदार्थोंके पहुँचनेसे उत्पन्न हो जाता है । शरीर उसको आँतों, फेफ़ड़ों, गुर्दों और त्वचाके द्वारा बाहर निकालनेका प्रयत्न करता रहता है—और जब उसकी चेष्टा पूरी नहीं उतरती तब जहाँ कहीं उसे अवसर मिलता है अपने भीतर ही उसको इकट्ठा कर देता है । इस प्रकारसे शरीरके रूपमें अन्तर पड़ने लगता है, जो कि गर्दन और चेहरे जैसे तंग स्थानोंमें भली भाँति दीख पड़ता है ।

इसे स्पष्ट करनेके लिए हमें उद्वेगकारी द्रव्यकी बोतलपर—जिसका वर्णन पहले हो चुका है—फिर ध्यान देना चाहिए । जब तक बोतल खुली रहती है तबतक उद्वेगकारी रसको निकलनेका मार्ग मिलता रहता है । यदि उस बोतलके मुँहपर एक रबड़की टोपी चढ़ा दी जाय जिससे भीतरकी हवा बाहर न निकल सके तो आप देखेंगे कि रबड़

आहिस्ता आहिस्ता सख्त होती जायगी। उद्वेगकारी पदार्थको फैलनेके लिए अवकाश चाहिए। तनावकी अधिकता रबड़की टोपीको फैला देगी। यह दृष्टान्त मनुष्यके शरीरसे और भी अधिक मेल खा जायगा। यदि हम कौंचकी बोतलकी जगह एक ऐसी बोतलकी कल्पना कर लें



जिसकी दीवार रबड़की तरह फैलनेवाली हो और द्रव्य उसमें दीखत हो, तो फिर आप देखेंगे कि तनावका सारी बोतलपर क्या और किस-प्रकार प्रभाव पड़ता है। बोतलके स्वरूपका अन्तर उद्वेगकारी पदार्थके दबावपर अवलम्बित होगा। यही दशा मनुष्य-शरीरकी भी है। अन्तर केवल यह है कि इसका भीतरी भाग स्वतन्त्र और खुला हुआ नहीं है, बल्कि अवयव उसको घेरे हुए हैं। उनका या तो भेदन हो अथवा वे रास्तेसे बच जावें। क्योंकि वे उद्वेग-प्रक्रियाके मार्गमें विघ्न हैं। शरीरमें उद्वेगका उत्पत्तिस्थान पेड़ है—और बोतलमें उसकी तली है। अन्य सब बातें रूपान्तर-प्रक्रियाकी दोनों जगह एकसी हैं।

शरीरके भीतर विजातीय द्रव्योंमें परिवर्तन हुआ करता है। उसमें उद्वेग होता है और उससे उत्पन्न हुआ विकार सोरे शरीरमें फैलनेकी चेष्टा करता है। उद्वेगसे दाह उत्पन्न होता है, जिससे सारा शरीर उत्तेजित हो जाता है। इसी दशाका नाम ज्वर है। अब यदि उद्वेग खासकर भीतरी भागोंमें ही होता है, तो दाह भी भीतर ही विशेष होता है और बाहरी भाग ठंडे रहते हैं। यह दशा बाहरी ज्वरकी अपेक्षा अधिक खतरनाक है। हम जानते हैं कि ठंड सदैव ज्वरसे पहले होती है और यह आवश्यक है कि इस ठंडकी दशाको ज्वरके रूपमें परिवर्तन कर दिया जाय। अर्थात् भीतरी ज्वरको बाहर निकाल दिया जाय और उद्वेगकारी द्रव्यको त्वचाके ऊपर ले आया जाय। यदि हम इसमें सफल नहीं होते तो ज्वरसे कोई भयानक रोग उत्पन्न हो जाता है, अथवा मृत्यु हो जाती है। क्योंकि ऐसी दशामें यह कहना चाहिए कि भीतरी अवयव जलकर भस्म हो जाते हैं। दैवात् यदि इस दशाको पहुँचनेसे पहले ही उद्वेग शान्त हो गया तो शरीरमें विजातीय द्रव्यका भार बहुत अधिक बढ़ जायगा।

बाल-रोगोंका निरूपण करनेसे पहले यह आवश्यक था कि इस मर्मकी ओर आपका ध्यान फिर आकर्षित करके इस विषयको अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया जाय। अब हम अपने मुख्य विषयकी ओर बढ़ते हैं।

बाल-रोगोंसे हमारा अभिप्राय अनेक प्रकारके उन ज्वरसम्बन्धी रोगोंसे है जो कि प्रायः बचपनमें हुआ करते हैं। मैं आपको यह बात दिखलाऊँगा कि किस प्रकार इन सब रोगोंकी जड़ एक ही है। बस, आवश्यकता यह है कि इन सब रोगोंकी एकताको अच्छी तरह समझ लिया जाय। प्रत्येक रोगका निदान अलग अलग नामोंसे करनेकी हम

कुछ आवश्यकता नहीं समझते । बल्कि ऐसा करना और भी भ्रामक होगा । ये रोग भी केवल उसी समय प्रकट हो सकते हैं जब कि शरीरमें उद्वेगके लिए यथेष्ट दुर्द्रव्य विद्यमान हो । प्रायः बालक ऐसे दुर्द्रव्यको लिए हुए ही संसारमें जन्मते हैं । अतः प्रत्येक बालक बाल्यावस्थाके इन रोगोंमेंसे किन्हींमें फैस जाता है । यह मैं पहले बता चुका हूँ कि बालकोंमें वृद्धोंकी अपेक्षा तीव्र रोग (Acute) अधिक होनेका कारण क्या है ।

परन्तु “ प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनम् वरम् । ” इस उक्तिके अनुसार रोगका भी पहलेसे ही रोक देना अच्छा है । यह बात मैं आपको एक दृष्टान्तद्वारा समझाता हूँ । जैसे कहींपर कोई नगर या ग्राम विनष्ट न हो जाय, इस भयसे वहाँ बारूद या और कोई भड़कने-वाली वस्तु नहीं रहने दी जाती । क्योंकि चाहे कितना ही सावधान क्यों न रहा जाय, परन्तु चिनगारी लगनेका खटका सदा बना रहता है । इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यको अपने शरीरके सम्बन्धमें भी सावधान रहना चाहिए । हमको उसमें कभी दूषित द्रव्य नहीं भरना चाहिए । क्योंकि उसका स्वभाव भयङ्कर रूपसे फूट निकलनेका है । बल्कि उस दुर्द्रव्यको भी जो शरीरमें पहलेसे मौजूद है शरीरसे बाहर निकाल देनेका प्रयत्न करना चाहिए । यह सच है कि दुर्द्रव्यके फूट निकलनेसे सदैव प्राणभय नहीं होता, परन्तु तो भी उससे कभी न कभी प्राणोंपर आ बनती है, मुख्यकर उस समय जब कि उद्वेगको निकलनेका कोई रास्ता नहीं मिलता ।

अब मैं बाल्यावस्थाकी व्याधियोंका निरूपण करूँगा । इसके लिए प्रचलित नामोंसे ही मैं काम लूँगा । उन नामोंसे हमको और तो कोई लाभ नहीं है, रोगोंका पता भर चल जायगा ।

हम यह जानते हैं कि बालकोंकी अनेक पीड़ायें भिन्न भिन्न रूपमें प्रकट होती हैं और उनसे थोड़ी बहुत हानि होनेका भी भय लगा रहता है। इससे प्रत्येक दशामें उनका सरल और ठीक उपाय निश्चय कर लेना हमारे लिए सहज काम नहीं है। मैं आपको यह स्पष्ट रीतिसे दिखानेका प्रयत्न करूँगा कि इन सब व्याधियोंमें अन्तर क्यों दिखाई पड़ता है और उनकी चिकित्सामें किस प्रकार सफलता प्राप्त हो सकती है। किन्तु सबसे पहले मैं आपको यह स्मरण दिलाना चाहता हूँ कि रोगोंमें चाहे कितनी ही विभिन्नता क्यों न हो तथापि उनमें केवल दो ही प्रधान लक्षण होते हैं—अर्थात् सरदी और गर्मी। इसके स्मरण रखनेसे ही आप मेरी विभिन्न व्याधियोंकी व्याख्याको समझ सकेंगे।

खसरा—एक बालकका जिसके खसरा निकल रही हो, ध्यान कीजिए। हम देखते हैं कि उसको बेचैनी है, निद्रा नहीं आती, उसकी त्वचा गर्म और शुष्क है। साधारणतः यह कहा जाता है कि—“ बालकको ज्वर आ गया है। ” परन्तु प्रारम्भमें यह निदान नहीं होता कि यह क्या रोग है। केवल इस कारणसे कि और बालकोंके भी खसरा निकल रही है, हमेशा सन्देह इसकी ओर भी वही होता है। किन्तु तो भी हम उसकी चिकित्सा तुरन्त आरम्भ कर सकते हैं। क्योंकि हमारा ज्वरका सिद्धान्त उसकी चिकित्सा-विधिको भी बहुत सुगम कर देता है।

ज्वर केवल निम्नलिखित विधिसं शमन हो सकता है। हमको त्वचाके रन्ध्र खोल देने चाहिए, जिससे शरीरमें पसीना आ जाय। फिर किसी शीतल विधिके द्वारा हमको उसकी गर्मी निकाल देनी चाहिए। पसीना निकलते ही ज्वर कम हो जायगा।

इस तरकीबसे बहुतोंके तो ख़सरा निकलेगी ही नहीं, अर्थात् यह कहिए कि विजातीय द्रव्य किसी ऐसे स्वरूपमें बदलकर निकल जायगा कि उसका इस प्रकार निकलना किसीको मादूम ही न पड़ेगा। शरीर उसको मल, मूत्र, पसीना और साँसके रूपमें बाहर निकाल देगा। यदि यह उपाय उचित समयपर चूक जाता है, तो ख़सरा निकल आती है और त्वचापर लाल दाने पैदा हो जाते हैं। जितना खुलकर उसका निकास होगा, अर्थात् जितनी तेज़ीसे उद्वेग-जन्य विजातीय द्रव्य त्वचाकी राह निकल जायगा, उतना ही बालकके लिए प्राणभय कम होगा। इसके विपरीत जितना कम निकास होगा, उतना ही अधिक भय उस गर्मीसे है जो शरीरके भीतर रुक गई है, वह उस भागको जला डालेगी। ऐसे समय बहुत सम्भव है कि फेफड़ोंमें प्रदाह होकर बालक मर भी जाय। लेकिन बालककी मृत्यु इस लिए नहीं होती कि उसके ख़सरा निकली थी; बल्कि इस लिए होती है कि उसका निकास अच्छी तरह नहीं हो सका।

ख़सराकी ठीक चिकित्सा करनेके लिए हमें प्रथम उत्सर्ग-मार्गोंको अर्थात् त्वचाके रन्ध्र, गुदों और आँतोंको खोल देना चाहिए—और जबतक आन्तरिक दाह पूरी तरह निवृत्त न हो जाय, तबतक शरीरको ठंडा करते रहना चाहिए। ऐसा करनेसे पाचन-शक्ति भी ठीक हो जायगी।

उदर-स्नान और मेहन-स्नान ठंड पड़ुँचाकर दुर्द्रव्यको निका-लते हैं। माता यदि बालकको रात्रिके समय अपने पास सुलावे और अपने शरीरकी गर्मीसे उसको गर्मी पड़ुँचावे तो पसीना सुगमतासे आ जायगा। अथवा बालकको खूब गुदगुदे विस्तरपर लिटाकर रज़ाई, कम्बल आदि गरम वस्त्रोंसे अच्छे प्रकार ढक दिया जाय। किन्तु दिन हो अथवा रात, स्वच्छ हवा आनेके लिए खिड़की या रोशनदान अवश्य

खुले रखने चाहिए । यदि इस तरह काम न चले तो स्टीम-बाथ दे दिया जाय । इसके लिए मेरा बनाया हुआ कौंच बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है । कौंचके अभावमें वाष्प-स्नान दूसरी तरहसे भी ले सकते हैं । वाष्प-स्नानके बाद उदर-स्नानके द्वारा शरीरको ठंड पहुँचाना आवश्यक है ।

जब बालकको पसीना आ जायगा, तो उसकी दशा बहुत सुधर जायगी । यदि ज्वर फिर आ जाय तो उदर-स्नान और मेहन-स्नान द्वारा ठंड पहुँचाना चाहिए । फिर मुलायम बिस्तरेपर लिटाकर उसको ऐसी भड़क देनी चाहिए जिससे कि पसीना आ जाय । यह ठंड और गर्मी पहुँचानेकी प्रक्रिया जब जब ज्वर लौट आवे तब तब बराबर करनी चाहिए ।

जब कि उसका वेग मुख्यकर सिर आँख या और किसी प्रधान अवयवकी ओर विशेष रूपसे हो तब हमको सबसे पहले उस अवयवको स्थानीय बाष्प देकर वहाँका वेग दूर कर देना चाहिए । त्वचामें पसीना आते ही उस अवयवको तुरन्त शान्ति मिल जायगी और उद्वेगके कारण उसके नष्ट होनेका भय जाता रहेगा । इस प्रकार प्रत्येक स्थानीय वाष्पके बाद उदर अथवा मेहन-स्नानद्वारा शरीरको ठंड और शान्ति पहुँचानी चाहिए ।

अब यदि आप ज्वर और ख़सराकी इस व्याख्यापर विचार करेंगे, तो आपको माझ्म हो जायगा कि इस व्याधिका कारण भी शरीरमें केवल विजातीय द्रव्यकी अधिकता ही है । जो दुर्द्रव्य अबतक वहाँ गुप्त रूपसे निकम्मा पड़ा था उसमें अब किसी कारणसे उद्वेग पैदा हो गया है । इस तरह ज्वर पैदा हुआ और व्याधिने ख़सराका रूप धारण कर लिया । अब आपने समझा होगा कि ख़सरा

शरीरमें ठीक उसी रीतिसे होती है जैसे कि और कोई ज्वर होता है । आगे चलकर आपको यह भी बतलाऊंगा कि और सब व्याधियाँ भी उसी एक कारणसे किस प्रकार उत्पन्न होती हैं ।

सुख बुखार—इसमें भी बिल्कुल वही लक्षण मिलते हैं, जो कि ख़सरा में होते हैं । इसमें केवल ज्वरका वेग प्रचण्ड होता है, जिससे माता पिताको अधिक चिन्ता हो जाती है, जो उचित ही है ।

सुख बुखारमें भी त्वचापर लाल लाल धब्बे पड़ जाते हैं और उनका रंग लाल होनेके कारण ही व्याधिका यह नाम पड़ा है । धब्बे आरम्भमें छोटे होते हैं; परन्तु धीरे धीरे बढ़कर एक दूसरेसे मिल जाते हैं । परन्तु इनका निकास उतना अधिक नहीं होता जितना कि ख़सराका । ये शरीरके किसी किसी भागमें निकलते हैं, विशेषकर सिर, छाती और पेटपर । लेकिन पैरोंपर इसका प्रभाव प्रायः नहीं होता । वे प्रायः ठंडे रहते हैं, जब कि और शरीर तीव्र ज्वरसे तपता रहता है । रक्त-ज्वरका प्रभाव सिर और दिलपर विशेष होता है । बालकोंको इस रोगमें प्रायः आँख और कानकी पीड़ा हुआ करती है । अब इन लक्षणोंको समझ लेना सहज है । यहाँपर भी वही बात है । उद्वेग पाया हुआ दूषित द्रव्य पेटसे चलकर सिर और गर्दनकी ओर ऊपरको चलता है और तब ऊपरके भागोंमें पहलेसे इकट्ठे हुए विजातीय द्रव्योंमें तीव्र उद्वेग पैदा होने लगता है । त्वचाका वह भाग जिसपर लाल धब्बे पड़कर दुर्द्रव्य निकलता है जितना तंग होता है उतना ही ख़तरा अधिक होता है ।

किन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि हम रोगीको शीघ्र और वास्तविक सहायता पहुँचानेके लिए क्या उपाय कर सकते हैं । सबसे प्रथम हमको इस बातपर ध्यान देना चाहिए कि रोगीकी आँखों और कानोंको

कोई स्थायी हानि न पहुँच जाय। इसका उपाय यह है कि सिरको अच्छे प्रकारसे भाप देकर त्वचाके रन्ध्र खोल दिये जायँ। (पूर्ण और आंशिक वाष्प-स्नानकी विधि आगे बताई गई है।) पसीनेसे अच्छी तरह भीग जानेपर सिरके रन्ध्र खुल जाते हैं, पीड़ा दूर हो जाती है और पहला भय जाता रहता है। परन्तु सिरको ऐसा आंशिक वाष्प-स्नान देनेकी प्रायः कई बार आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि पीड़ाका दौरा जल्दी जल्दी होता है। वास्तवमें यदि उद्वेगकारी द्रव्यको निकालनेके लिए कोई तरकीब न की जायगी, तो पीड़ाका दौरा बराबर होता रहेगा। अतएव पेड़ूको उदर-स्नानके द्वारा ठंडा करना चाहिए, जिससे कि दुर्द्रव्य गुदों, आँतों और त्वचाके द्वारा निकल जाय। इसमें सन्देह नहीं कि रोगीकी पाचन-शक्ति ज्वरके आरम्भहीसे बिगड़ रही होगी; बल्कि उसके भी बहुत पहलेसे वह साम्यावस्थामें न रही होगी, भले ही इसपर माता-पिताने ध्यान न दिया हो। ज्वर कोष्ठकी झिल्लीसे बहनेवाले स्रावोंको सुखा देता है। कोष्ठमें खुश्की आ जाती है, जिससे वह अपने पाचन-कार्यको यथाविधि नहीं कर सकता है और कब्ज हो जाता है। पाचन-शक्तिपर सिञ्चन और मर्दनका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। इससे अल्पकालमें ही आँतें अपना काम करने लगती हैं, जिससे रक्त-ज्वर जल्दी अच्छा हो जाता है। परन्तु रक्त-ज्वरकी चिकित्सामें धैर्य और उत्साह दोनों बने रहने चाहिए। इनके बिन सफलता असंभव है। इससे यह सिद्ध होता है कि इसमें दूषित द्रव्य ख़सराकी अपेक्षा कहीं अधिक होता है।

अब आप यह समझ सकते हैं कि रक्त-ज्वरका कारण भी वही विजातीय द्रव्यका उद्वेग है, जो शरीरमें ज्वर पैदा करता है। अन्तर-केवल इतना है कि इस ज्वरमें उद्वेगकारी द्रव्य अधिक होनेके कारण

ज्वरका वेग अधिक होता है और उद्वेग ऊपरको दूरतक फैलनेकी कोशिश करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस रोगका भी वही सामान्य हेतु है, जो कि और सब ज्वरोंका है। इसको स्पष्ट करनेके लिए मैं अपनी चिकित्सामें आये हुए रक्त-ज्वरके दो रोगियोंका कुछ हाल सुनाता हूँ।

लिपजिग नगरके एक शिल्पकारकी कन्या और पुत्रको—जिनकी अवस्था क्रमशः ७ और २ वर्षकी थी—रक्त-ज्वर हो गया। उनके नियमित डाक्टरने कहा कि यह रोग बहुत कष्टसाध्य है। इसकी चिकित्सामें सम्भव है कि ६ या ८ सप्ताह लग जायँ। किमी समय उस मनुष्यने अपने व्यवहारमें लानेके लिए मेरा एक स्टीम-कौंच खरीदा था। दैवात् इस समय उसको डाक्टरी चिकित्सापर, कुछ भरोसा न हुआ। अतः अपने बालकोंके लिए उसने मुझसे परामर्श लिया। बालकोंको देखकर मैंने उसको यह भरोसा दिया कि मेरी चिकित्सासे रोग एक सप्ताहमें जाता रहेगा। मेरी चिकित्सा बिल्कुल बही थी, जो ऊपर कह चुका हूँ। मैंने उन बालकोंको प्रतिदिन एक वाष्प-स्नान दिया, जिसके बाद ७०° से ७२° फा० अंशके जलमें उदर-स्नान कराया। जिस समय ज्वरका फिर वेग हुआ, उस समय फिर उदर-स्नान कराया गया। प्रारम्भमें यह शीतोपचार प्रायः दो दो घंटोंमें करना पड़ा। साथ ही उनके पथ्यपर भी विशेष ध्यान रखा गया; क्योंकि मसालेदार और उत्तेजक मांसके पदार्थ ज्वरको बढ़ाकर चिकित्साके मार्गमें कौंटोंक काम करते हैं। इस कारण मैंने उनको केवल चौकर मिली आटेकी रोटी, दलिया और कच्चे या उबाले हुए फल दिये और वह भी केवल उस समय जब कि उन्हें सच्ची भूख लगती थी। जैसा कि मैंने कहा था, वे दोनों बालक एक सप्ताहमें ही चंगे हो गये, जिससे उनके माता

पिताको बड़ी खुशी हुई। डाक्टर साहबको भी जो कि पहले यह कहते थे कि इतनी शीघ्र चिकित्सासे गुर्देमें किसी व्याधिके हो जानेकी आशंका है, यह मानना पड़ा कि वे बिल्कुल नीरोग हैं।

डिफ्थीरिया—एक प्रकारका कण्ठरोग। इस रोगका नाम प्रत्येक माता-पिताके लिए भयङ्कर है। क्योंकि इस भयङ्कर रोगमें रोगीको बड़ा संकट भोगना पड़ता है। पूर्वोक्त व्याधियास इसके बाह्य लक्षण कुछ दूसरे होते हैं। परन्तु ज्वरका होना इसके साथ भी लज्जमी है। हाँ, कभी कभी ज्वर प्रत्यक्षमें बहुत हल्का होता है। मुख्यकर बचपनमें जब कि बालक रोग-शय्यापर बेहोश पड़े रहते हैं और उन्हें केवल साँस लेनेहीमें तकलीफ होती है। रोगकी यह दशा वास्तवमें बहुत बुरी है। इस दशामें ज्वरका भीतरी वेग बहुत होता है। त्वचाकी क्रिया शिथिल, आँतों और गुर्देकी क्रिया मन्द हो जाती है। तथापि उद्वेगकारी द्रव्यका प्रहार बाहरकी ओरको होता है; क्योंकि भीतर उसे अवकाश नहीं मिलता। यह दशा अत्यंत भयंकर होती है। यदि शरीर दूषित द्रव्यको ख़सरा और रक्त-ज्वरकी भाँति इस रोगमें भी त्वचाद्वारा निकाल संके, तो तुरन्त भय जाता रहता है। परन्तु जहाँपर ज्वरका अन्तर्वेग विशेष होता है, वहाँ ख़तरा भी अधिक होता है। जब हम ज्वरको त्वचापर लानेमें असफल होते हैं तब आरोग्यकी आशा नहीं रहती। उस समय केवल कण्ठ ही एक मार्ग रह जाता है, जिसकी ओर उद्वेगकारी द्रव्य तेजीसे जाता है और उसीसे दम घुटकर बालक कालका प्राप्ति बन जाता है।

जब कि इस प्रकारका भय उपस्थित हो तब प्रथम कर्त्तव्य यह है कि स्थानिक चिकित्सा करके कण्ठके मार्गको खोल दिया जाय, चाहे वह थोड़ी देर ही खुल रहे। इसके लिए डिफ्थीरियामें शीघ्र लाभदायक

और श्रभावशाली उपाय बाष्प-विधि है । इससे सब कष्ट दूर हो जाता है और साक्षित हुआ दुर्द्रव्य निकल जाता है । यद्यपि इतनेसे कोई विशेष लाभ नहीं है तथापि क्षाणिक शान्तिसे हमको दुर्द्रव्यकी जड़ काटनेके लिए समय मिल जाता है । इस दूषित द्रव्यकी जड़ हमारे पेड़में है । आप यह देखकर चकित होंगे कि मेरी शीतोपचार-विधिसे कण्ठकी दशा कितनी शीघ्र बदल दी जाती है, विशेषकर मेहन-स्नानका ऐसा विलक्षण प्रभाव पड़ता है कि कण्ठमें उत्पन्न हुए अधिमांसके अङ्कुर कुछ ही स्नान लेनेसे जाते रहते हैं । संवेगके कारण कण्ठमें एक और भी परिवर्तन होता है । वह यह कि वहाँ कुछ सूजन और प्रदाह उत्पन्न हो जाता है । यह सूजन और प्रदाह अधिमांस (बदगोश्त) की अपेक्षा कहीं अधिक भयदायक है । डिफ्थीरिया होनेसे पूर्व प्रायः रोगीके जोड़ों अर्थात् घुटनों या कन्धोंमें पीड़ा हुआ करती है । इन स्थानोंकी तीव्र वेदना तो मनुष्य दीर्घ काल तक भी सहन कर सकता है, किन्तु कण्ठकी पीड़ाको नहीं सह सकता । इस लिए कण्ठके विकारको शमन करनेके लिए तुरन्त प्रयत्न करना चाहिए । परन्तु ऐसा कभी नहीं करना चाहिए कि बढ़े हुए अधिमांसके अङ्कुरोंके दूर होते ही पेड़की चिकित्सा छोड़ दी जाय । चिकित्सा उस समय तक नियमित रूपसे जारी रहनी चाहिए जब तक कि शौच सरलतासे न आने लगे और पाचन-क्रिया ठीक न हो जाय । उस समय तक रोगीको रोगमुक्त न समझना चाहिए । जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है त्वचा दुर्द्रव्यके निकलनेका एक बहुत उत्तम मार्ग है । इसका मुख्य धर्म यह है कि इसके समीप जो दूषित द्रव्य संचित होता है, उसे यह बाहर निकाल देती है ।

ऊपर हमने एक ऐसी बोटलकी कल्पना की थी, जिसकी दीवार खड़की तरह फैलनेवाली हो । जब तक वह बन्द रहती है तब तक

उद्वेगजन्य द्रव्यको निकालनेका मार्ग नहीं मिलता । इससे तनाव और फैलाव होने लगता है । यदि उस बोतलकी दीवारमें त्वचाके रन्ध्रोंके समान सुईसे बारीक छेद कर दिये जायँ, तो उद्वेगकारी रस उनके रास्ते बाहर निकल जायगा और बोतल अपने पहले रूपमें आ जायगी । त्वचाकी बिल्कुल यही दशा है । पसीना उस विजातीय द्रव्यके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है, जिसको कि उद्वेग-क्रिया बाहर निकालती रहती है । पाचन भी उद्वेगकी एक क्रिया है, अतएव बीमारीसे बचे रहनेके लिए त्वचाको अपना काम ठीक तरहसे करते रहना चाहिए । स्वस्थ मनुष्योंकी त्वचा चिकनी और गर्म होती है, किन्तु रूक्ष और ठंडी त्वचाका होना रोगका निश्चित लक्षण है ।

डिफ्थीरियाके रोगियोंकी त्वचा प्रायः अत्यन्त निकम्मी होती है, उसको कर्मठ बनानेकी बहुत आवश्यकता है । इस रोगकी दशामें भी नीरोग माताके लिए बालकको अपने पास सुलानेमें कोई भय नहीं है । इससे बालकको पूरा लाभ होगा । विशेषकर जब कि आँतें मलके निकालनेमें शिथिल हो जाती हैं तब शरीर त्वचासे मल निकालनेका काम लिया करता है । जिस समयसे बालककी त्वचामें रूखापन आने लगे, यदि उसी समयसे माता अपने शरीरकी गर्मीसे उसे पसीना लानेमें सहायता दे और उसकी त्वचाके रन्ध्रोंको खोल दे, तो सम्भव है कि उसे डिफ्थीरियाका रोग न हो ।

केवल उसी समय कृत्रिम उपायोंसे पसीना लाना चाहिए—जब कि और किसी विधिसे पसीना न आता हो और तब बालकोंको वाष्प देना चाहिए । अब आप स्वयं विचार सकते हैं कि डिफ्थीरिया रोगकी उत्पत्ति भी ठीक वैसे ही होती है, जैसे कि और व्याधियोंकी । अन्तर केवल बाहरी लक्षणोंमें होता है । जो मनुष्य स्थूलदर्शी हैं, केवल

उनको यह भ्रम हो सकता है कि भिन्न भिन्न व्याधियोंके कारण भी अलहदा होते हैं। एक चिकित्साकी रिपोर्टसे—जो मेरे चिकित्सालयमें हुई थी—यह विषय अधिक स्पष्ट हो जायगा।

मुझे एक समय एक स्त्रीने बुलाया, जिसके ५ वर्षके पुत्रपर डिफ्थीरियाका भयङ्कर आक्रमण हुआ था। मैंने प्रथम उस रोगीको एक बाष्प-स्नान दिया। उस समय वहाँ मेरा कौंच तो मौजूद था नहीं, अतः मैंने अपना काम चलानेके लिए एक युक्ति निकाली। हमने लड़केको एक साधारण बेंतकी बुनी हुई कुर्सीपर बैठा दिया और उसके नीचे एक वर्तनमें कोई पाँच सेर खोलता पानी रख दिया। दूसरे वर्तनमें उससे कुछ दूरपर खोलता हुआ जल भरकर उसके पैरोंके नीचे रख दिया। वर्तनके ऊपर दो लकड़ियाँ रखकर उनके ऊपर उसके पैर टेक दिये और उसके सोंर शरीरको कम्बलसे ढक दिया, जिससे कि भाप बाहर न जा सके। जब पसीना अच्छी तरह निकल चुका तब उसको ७२ फा० डिग्रीके जलमें उदर-स्नान कराया गया और पेडूको तबतक धोया गया जबतक कि सिरका दाह शमन न हो गया। आरम्भमें साँस लेनेमें जो कष्ट होता था, वह भी शनैः शनैः जाता रहा। साथ ही यह भी आवश्यकता हुई कि रोगीको तीन तीन घंटोंके बाद आध आध घंटेका एक मेहन-स्नान भी कराया जाय और यह क्रम रातको भी रक्खा जाय, जिससे फिर ज्वरका प्रादुर्भाव न हो। जबतक बालक बीमार रहा तबतक स्वच्छ वायुके लिए कमरेकी एक खिड़की भी रातदिन खुली रक्खी गई। स्नानोंके लगातार जारी रखनेसे हमको प्रत्येक बार ज्वरके शान्त करनेमें सफलता प्राप्त हुई। फलतः इस चिकित्सा-विधिसे पहले ही दिन सम्पूर्ण भय निवृत्त हो गया। इस प्रकार चिकित्सा होती रही। पाँच दिनमें रोगी चंगा हो गया। इस तरह मेरी चिकित्सा-विधिसे दारुण डिफ्थी-

रिया रोग भी बिल्कुल जाता रहा । उधर स्थूलदर्शी चिकित्सक-सम्प्रदाय अभीतक उसकी चिकित्सा ही ढूँढ़ रहा है ।

शीतला (Small Pox)—प्रायः शीतला जैसा कि लोगोंने आम तौर पर समझ रक्खा है उससे कहीं अधिक बार निकलती है । यह सच है कि सरकारी रिपोर्टसे इसका पता नहीं चलता, क्यों कि प्रत्येक मनुष्य जो कि थोड़ीसी भी प्राकृतिक चिकित्साको जानता है, वह नियमानुसार पुलिसको सूचना देनेकी जल्दी नहीं करता । क्योंकि वह समझता है ऐसा करना अपने आपको और अपने घरवालोंको बे-मतलब झंझटमें डालना है । यदि ठीक चिकित्सा की जाय तो शीतला एक साधारण बेखटक बीमारी है । शीतलाके भेद अनेक हैं । जैसे— मोतिया, कुसुम्बी, खसरा, झालरा, बड़ी माता (चेचक), त्रिवेणी आदि । पूर्वकालमें सब फूट निकलनेवाली बीमारियाँ माताके नामसे पुकारी जाती थीं । इसमें कोई सन्देह नहीं कि बड़ी माता सबसे अधिक भयानक होती है; क्योंकि इसमें ज्वरका वेग बहुत तीव्र होता है—और इलाजके बिगड़ते ही मौतका खटका लगा रहता है । वे रोग जिनकी चिकित्सामें गड़बड़ होनेसे शीघ्र मृत्यु हो जाती है, उन रोगोंकी ओपक्षा अधिक भयङ्कर समझे जाते हैं, जिनका नाश दीर्घकाल तक कष्ट पानेके बाद होता है । परन्तु वास्तवमें ये लम्बी बीमारियाँ जिनमें आरोग्य होना सम्भव है ठीक इलाज होते हुए भी बड़ी कठिनातासे अच्छी होती हैं और इनका इलाज बहुत दिनों तक करना पड़ता है । चेचकका इतना भय फैलनेका कारण केवल यह है कि लोग उसका ठीक इलाज नहीं जानते, और उसके लिए उनको टीका निकालना पड़ा । यदि वे इस रोगकी ठीक चिकित्सा समझते होते, तो टीकेकी ओर उनका ध्यान भी न जाता ।

शीतला जब भर जाती है तब ठीक पहचानमें आती है, क्योंकि प्रारम्भमें यह अन्य व्याधियोंके समान होती है । उस समय तीव्र ज्वरके सिवा और कुछ दिखाई नहीं पड़ता । फिर शनैः शनैः मटरकी बराबर लाल दाने निकल आते हैं, जैसे कि खसरामें । वे बढ़ते बढ़ते दाखके बराबर हो जाते हैं, जिनका आधा भाग शरीरके भीतर और आधा बाहरको निकला हुआ होता है । दानोंके बीचमें एक काला दाग होता है । ये माताके दाने बढ़ते बढ़ते या तो सारे शरीरमें फैल जाते हैं अथवा किसी एक ही भागपर होते हैं । इसका कारण यह है कि शरीरमें विजातीय द्रव्य अलहदा अलहदा स्थानोंमें इकट्ठा होता है, उसीके अनुसार उद्वेग रास्ता पकड़ता है । जब इस रोगका जोर मुँहपर अधिक होता है तब रोगीकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो जाती है । उसमें ठीक चिकित्सा न होनेसे मुँहपर शीतलाके दाग रह जानेका भय रहता है ।

यह कोई इत्तिफाकिया बात नहीं है कि किसी रोगीके एक अङ्गमें और दूसरेके दूसरे अङ्गमें माता अधिक होती है या सिरपर ही उसका जोर अधिक होता है, जिससे कि अनेक रोगियोंका चेहरा तो दागोंके कारण बुरा हो जाता है लेकिन उनके बाकी जिस्मपर कहीं कहीं ही दाग पड़ते हैं । इन सबका कारण आप खड़की टोपी चढ़ी हुई बोतलके दृष्टान्तसे समझ लीजिए । शरीरमें जहाँ जहाँ विजातीय द्रव्यका संचय अधिक होता है, वहाँ वहाँ उद्वेग भी बहुत होता है और शीतलाके दाने भी वहीं अधिक निकलते हैं । यदि शरीरके किसी छोटे अवयवमें और अवयवोंकी अपेक्षा विजातीय द्रव्य अधिक होता है, तो वहाँपर ही शीतलाका अधिक जोर होता है । इसका फल यह होता है कि मनुष्यके एक कानसे दूसरे कानतकका स्थान, अर्थात् पूरा मुखमण्डल

शीतलके दागोंसे खुदरा हो जाता है और अन्य भागोंमें कहीं कहींपर दाग पड़ते हैं। सिर शरीरका आखिरी स्टेशन है, इस लिए जब कि उद्वेगकारी राशियाँ चलती हैं तब वे वहाँ जाकर रुक जाती हैं। हमने बोतलके प्रसङ्गमें कहा था कि जिस बोतलपर खड़की टोपी चढ़ा होती है उसमें उद्वेग पाया हुआ द्रव्यकी ऊपरकी ओर टोपीतक आकर रुक जाता है। ठीक इसी प्रकार सिरमें उद्वेगकारी द्रव्यकी गतिमें रुकावट होती है और वहाँ रुकनेसे उसका वेग भी सिरमें अधिक हो जाता है।

जब शीतला पूर्ण रूपसे निकल आती है, तब प्राणनाशका भय तो जाता रहता है। क्योंकि प्रायः वे ही रोगी मरते हैं, जिनकी देह विजातीय द्रव्यको निकालनेमें असमर्थ होती है। क्योंकि कभी कभी ऐसा भी होता है कि माताके दाने मृत्युके बाद प्रकट होते हैं। इस हालतमें यह कहना ठीक होगा कि रोगीकी मृत्यु इस कारण नहीं हुई कि उसके शीतला निकली थी, बल्कि इस लिए हुई कि उसके शीतला नहीं निकल सकी। रोगी सदैव तीव्र ज्वरमें मरते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस व्याधिमें भी ज्वर बहुत होता है और यह देखा जाता है कि शीतला निकलनेसे पहले सदैव रोगीको बहुत तीव्र ज्वर होता है। शरीरके तप्त होनेपर दानोंमें इतनी खुजलाहट और दाह होती है कि रोगी शरीरको खुरच डालता है। इसका फल यह होता है कि वे दाने पकनेसे पहले फूट जाते हैं, जिनसे दाग बनकर शकल खराब हो जाती है। इसपर पूर्वकालमें भी अधिक ध्यान दिया जाता था और रोगीके हाथ पाँव बाँध दिये जाते थे, जिससे वह खुजा न सके। जर्मनके एक प्रसिद्ध ग्रन्थमें यही विधि बताई गई है। हा! बेचारे रोगियोंको कितना दारुण दुःख भोगना पड़ता है।

परन्तु हम चेचकको एक बड़ा सहज युक्तिसे अच्छा कर सकते हैं, जिससे दाग भी नहीं पड़ने पाते और न कोई अन्य उपद्रव ही होने पाता है। हम खुजलीको भी उसी सरल उपायसे रोक देते हैं, जो कि और ज्वरोंका उपाय है, अर्थात् पहले त्वचाके रन्ध्र खोल देने चाहिए, जिससे कि पसीना आ जाय। फिर उद्वेगवाही स्रोत अर्थात् पेटपर शीतोपचार करना चाहिए। मद्य और बीयरमें उतना ही उद्वेग कम होता है, जितनी कि उनको गरमी कम पहुँचती है। शरीरमें उद्वेगजन्य द्रव्य भी प्रकृतिके उसी नियमका पालन करता है। गरमीकी अधिकता उद्वेगको बढ़ाती है और ठंड उसका शमन करती है।

यह एक ऐसी व्याधि है जिसमें बहुत ध्यान देने और सावधान रहनेकी आवश्यकता है; क्योंकि इसमें शरीर बहुत उत्तेजित होता है। परन्तु मेरी चिकित्सा-विधि इस व्याधिके सब भयोंको दूर कर देती है, और यह निश्चय है कि इस चिकित्सासे मनुष्यको बहुत शीघ्र आराम हो जाता है। असफलता केवल तभी होती है जब कि शरीरमें विजातीय द्रव्य इतना भरा हो कि त्वचाके काम करनेपर भी शीघ्रतासे बाहर न निकल सके, अर्थात् शरीर इतना निर्बल हो कि उसे बाहर न निकाल सके। लेकिन यह तभी होता है जब कि चिकित्सा बिलम्बसे आरम्भ की जाय। इस कारण मेरा बारम्बार यह आग्रह है कि ज्वरके उत्पन्न होते ही उसका समाधान करना चाहिए। यह इन्तिज़ार करनेकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं है कि व्याधि क्या स्वरूप धारण करती है।

अब आपको विदित हो गया कि हमारे पास इस भयानक रोगकी भी बिल्कुल वही चिकित्सा है जो कि और सब व्याधियोंकी है। परन्तु

यह तभी सम्भव है जब यह बात ध्यानमें आ जाय कि इस व्याधिका भी वही हेतु है जो कि और व्याधियोंका है । अर्थात् विजातीय द्रव्यसे शरीरका भरा होना । और यह है भी ठीक । आजकल पहलेकी भाँति खसरा और रक्त-ज्वर शीतलाकी श्रेणीमें नहीं गिने जाते, और शीतलाकी संख्या प्रत्यक्ष रूपमें घट भी गई है, अतएव हमारे लिए यह असम्भव हो गया है कि हम उस समयका चित्र खींच सकें, जब कि यह व्याधि हमारे लिए एक भयंकर महामारीके समान थी । इस समय हमारे सामने रोगोंकी एकताका सिद्धान्त है और उनकी चिकित्साका विधान है । इसलिए हमको स्वभावसे ही इस व्याधिका वैसा भय नहीं है; और मुखाकृति-विज्ञानकी सहायतासे वर्षों पहले हम यह जान सकते हैं कि शरीरमें जहाँ विजातीय द्रव्यका भार अधिक होता है वहाँ शरीरके संशोधनके लिए शीतला आदि कोई न कोई व्याधि अवश्य प्रकट होती है । एक बार मेरी चिकित्सामें जो शीतलाके रोगी आये, उनका वृत्तान्त आपको सुनाता हूँ ।

एक शिल्पकारके ३ बालक—जिनकी अवस्था क्रमशः ७—९ और १४ वर्षकी थी—शीतला रोगसे बीमार हुए । उस शिल्पकारको भी पहले यह रोग हो चुका था, इस कारण वह इस रोगके कष्टको भली भाँति समझता था । वह तुरन्त समझ गया कि मेरे बालक कैसी घोर विपत्तिमें फँस गये हैं । साथ ही उसको यह भी विचार हुआ कि यदि अधिकारी वर्गको इसकी तनिक भी खबर लग गई तो न जाने उसको सकुटुम्ब क्या क्या यातना भोगनी पड़ेगी । इस लिए उसने चुपचाप मुझसे उन बालकोंकी चिकित्सा आरम्भ करा दी । उसने केवल वाष्प-स्नान और उदर-स्नानका प्रयोग किया । उस समय बालकोंकी हालत बहुत ही खराब हो रही थी और उनकी त्वचा काले काले दानोंसे भर

रही थी। इस अवस्थाको औरोंसे छिपानेके लिए उसने बालकोंके मुँह और हाथोंको राखसे रंग दिया था, जिससे कि वह वर्तमान स्वास्थ्यरक्षाविधायक सरकारी नियमोंके बन्धनसे बचा रहे। केवल चार वाष्प-स्नान और १० उदर-स्नान (७१° फ़ैरनहाइटके जलमें) देनेसे ज्वरका वेग इतना कम हो गया कि व्याधिका सम्पूर्ण भय जाता रहा और खाल उतरने लगी। फिर अनुतेजक आहार और स्वच्छ वायुसे उनकी चिकित्सामें विशेष सहायता मिलती रही। वाष्प-स्नान और शीतोपचारके जारी रखनेसे उन बालकोंको थोड़े ही दिनोंमें इतना लाभ हो गया कि वे उठने बैठने और कुल चलने फिरने लगे। पूर्ण आरोग्य लाभ होनेके लिए लगभग एक सप्ताह तक चिकित्सा और की गई। हर्षकी बात यह है कि उन बालकोंमेंसे किसीके भी शीतलाका कोई दाग नहीं पड़ा। यद्यपि उसके घरमें सब बालकोंके कई कई बार टीका लग चुका था, परन्तु फिर भी वे तीनों बालक मातृके आक्रमणसे न बच सके। इन कारणोंसे यह विदित होता है कि शीतलाकी ठीक ठीक चिकित्सा समझनेपर उससे किसी प्रकारका भय नहीं रहता और टीकेका लगवाना निष्फल जान पड़ता है। सरकारी नियमोंके बन्धनको—जिनको वे लोग इस रोगके फ़ूट निकलनेपर जारी करते हैं—वह मनुष्य और भी अनादरकी दृष्टिसे देखता है। शीतलाका टीका लग जानेपर मनुष्योंको यह विश्वास हो जाता है कि अब उनके शीतला नहीं निकलेगी। जो हो, इस समय मुझे टीकेके विषयमें आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं है। टीकेके द्वारा विजातीय द्रव्यको कृत्रिम रीतिसे रुधिरमें प्रविष्ट किया जाता है। आश्चर्य है कि मनुष्य प्रकृतिसे इतना विमुख कैसे हो गया। परन्तु जहाँ विद्याकी कमी है, वहाँ मनुष्य जादूमें विश्वास करने लगता है। बालकोंके पालनके

सम्बन्धमें मैंने जो पुस्तक लिखी है, उसमें टीकेके सम्बन्धमें विस्तारके साथ लिखा गया है ।

काली खाँसी (हब्बा डब्बा)—यद्यपि काली खाँसी इतनी भयानक नहीं मानी गई है जितना कि डिफ्थीरिया और शीतला रोग, तथापि अनेक बालक इस रोगसे नाना प्रकारके कष्ट भोगते हैं और अन्तमें मर जाते हैं । इस विषयमें मैं यह कहूँगा कि प्रत्येक प्रकारकी खाँसीको किसी न किसी दारुण व्याधिका लक्षण समझना चाहिए । क्योंकि मनुष्य न तो खाँसनेवाला जीव है और न थूकनेवाला । खाँसी उस समय तक नहीं उठती जब तक विजातीय द्रव्यकी प्रगति ऊपरकी ओरको न हो और नीचेका प्राकृतिक मार्ग रुका हुआ न हो, या जब कि त्वचा अपने कार्यको पूरे तौरपर न करती हो, अथवा आँतें और गुर्दे अपने अपने कार्यमें शिथिल न हो गये हों ।

जिन बालकोंको यह रोग होता है, उनमें उद्वेगके भी लक्षण विद्यमान होते हैं, अर्थात् उनको ज्वरकी हरातर रहती है । बाहर निकलनेके लिए दूषित द्रव्य कण्ठ और सिरकी ओर मार्ग ढूँढ़ता है । हालाँ कि वहाँ कोई उत्सर्ग-मार्ग (द्रव्यके निकलनेका रास्ता) नहीं है । अब यहाँ यह जानना आवश्यक है कि खाँसी उठनेके समय रोगीको पसीना आता है या नहीं । यदि खाँसते समय पसीना आता है, तो बिना किसी चिकित्साके रोगीको आराम हो सकता है—और यदि पसीना नहीं आता और रोगीका मुँह नीला पड़ जाता है, तो ऐसी खाँसीसे, यदि उसकी उपयुक्त चिकित्सा शीघ्र न की गई तो, अवश्य मृत्यु हो जाती है । अन्तमें प्रायः आँख, नाक, कान आदिसे खून आने लगता है; क्योंकि विजातीय द्रव्य किसी न किसी मार्गसे बाहर निकलना चाहता है । इस दशामें सब सहायता निष्फल हो जाती है । यदि उचित समयके भीतर

सहायता मिल जाती है, तो रोग चाहे कितना ही भयंकर क्यों न हो शमन हो जाता है।

इस व्याधिकी भी वही चिकित्सा है। उसके सिवाय कुछ हो भी नहीं सकती; क्योंकि रोगकी प्रकृति भी वही है। सबसे प्रथम हमारा यह कर्त्तव्य है कि तुरन्त पसीना लानेका उपाय करें। फिर यह प्रयत्न करना चाहिए कि जो विजातीय द्रव्य शरीरमें अपना रास्ता ऊपरको कर रहा है, उसको नीचे लाकर उत्सर्ग-मार्गोंके द्वारा (त्वचा और मल-मूत्र आदिके रास्तोंसे) बाहर निकाल दें। शरीरमें जो उत्सर्ग-मार्ग नियत हैं, उन्हींके द्वारा उसको स्वाभाविक रीतिसे बाहर निकाल देना चाहिए। हमारा मतलब ऊपर जिक्र किये स्नानोंके द्वारा ही पूरा हो सकता है। स्नानके द्वारा जैसे ही पसीना निकलना शुरू होगा वैसे ही खाँसीमें भी कमी होने लगेगी और पाचन-क्रियाके ठीक हो जानेपर खाँसी बिलकुल जाती रहेगी। रोग दूर होनेके लिए कोई समय नियत नहीं है, सम्भव है खाँसी कुछ सप्ताहों या कुछ दिनोंमें ही जाती रहे। यह समझना कि उसमें दो या तीन मास लेंगे, भूल है।

इससे यह साफ़ ज़ाहिर है कि काली खाँसी भी बिलकुल उसी तरह पैदा होती है, जिस तरह कि और और व्याधियाँ। अर्थात् शरीरके विजातीय द्रव्यमें उद्वेग होनेपर ही ज्वर होता है। इस व्याख्यानसे आपको यह निश्चय हो गया होगा कि सारे तीव्र ज्वरोंके द्वारा शरीरकी यह कोशिश होती है कि विजातीय द्रव्यको अपनेसे (जो कि उसके रहनेका स्थान नहीं है) बाहर निकाल दिया जावे जिससे स्वास्थ्य प्राप्त हो। अतएव हमें इन तीव्र ज्वरोंका स्वागत करना चाहिए। वास्तवमें यह शरीरकी स्वास्थ्यलाभकी क्रियामें जोखिम या आनबानका समय है। यदि विजातीय द्रव्यको निकाल बाहर करके रोगकी सच्ची चिकित्सा हो जाय,

तो वह (रोग) शरीरके लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होता है । अपने अभिप्रायको स्पष्ट करनेके लिए आपकी सेवामें दूसरा दृष्टान्त रखता हूँ ।

शरीरमें ज्वरकी उपमा तूफानसे दी जा सकती है । जैसे तूफान आनेसे पहले हवा वज्रनदार, गीली और आसावरोधक हो जाती है, वैसे ही तीव्र ज्वरसे पहले ठंड और बेचैनी माद्धम पड़ती है । हम कहते हैं हवा वज्रनदार है और हमें सुस्तीसी माद्धम होती है । उस समय ऐसा अनुभव होता है कि तूफानसे ही हमारी रक्षा होगी; इसको शांत करनेकी शक्ति उसीमें है । बेचैनी और घुटन बढ़ते बढ़ते उस दशाको पहुँच जाती है, जैसी कि तूफान आनेसे पहले होती है । हमको उस समय आनेवाले तूफानसे भय माद्धम पड़ने लगता है, परन्तु वास्तविक भय तब होता है जब कि तूफान ऊपर आ जाता है; किन्तु उसके दूर होनेपर भय भी दूर हो जाता है । इसके बाद एक प्रकारकी नवीनता और शीतलता उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् प्रकृतिमें नव-जीवनका संचार हो जाता है । वायुगत विजातीय द्रव्यकी उद्वेग-क्रिया (उफान) को तूफान कहते हैं, जिसके द्वारा वायु अपनेमें छिपी हुई अदृश्य वाष्पको—जो कि यहाँ मानो विजातीय द्रव्य है—निकालनेका प्रयत्न करती है । इस लिए तूफान वायुको स्वच्छ करनेवाली एक प्रक्रिया है । उद्वेगसे वाष्पके रूपमें भी परिवर्तन होता है । भाप प्रथम तो अदृश्य रहती है, फिर सरदी गर्मीके फेरसे मेघके रूपमें बदल जाती है और अन्तमें वर्षा और ओलोंके रूपमें पृथ्वीपर आ पड़ती है ।

ज्वरका भी बिलकुल यही क्रम है । जब ज्वर आता है तब शरीर संकटमें पड़ा जान पड़ता है और जब वह दूर हो जाता है तब संकट दूर होकर प्राणोंमें स्वास्थ्यरूप नव-जीवनका संचार होता है । इन

बातोंसे आपको मादूम होगा कि उक्त दोनों अवस्थाओंमें, अर्थात् दूफान और ज्वरमें भय आरम्भमें ही होता है—और दोनों दशाओंके निवृत्त हो जानेपर नव-जीवन और चैन मादूम पड़ता है। इस डरावनी रीतिसे ही नव-जीवन और आरोग्यकी प्राप्ति होती है। जिसका कारण पहली अवस्थामें तो भाप भरकर वायुका गुरु होना और दूसरी दशामें शरीरका अनुपयोगी अथवा दूषित द्रव्यसे भर जाना है। यह दृष्टान्त आपको युक्तिपूर्वक निश्चय करा देगा कि प्रकृतिमें सर्वत्र एक ही नियम कार्य कर रहा है।

इस रोगकी चिकित्सा जो मेरे चिकित्सालयमें हुई, उसका वृत्तान्त भी मैं आपको सुना देना चाहता हूँ।

लिपजिग नगरमें एक भद्र पुरुषके पुत्रको, जिसकी आयु ४ वर्षकी थी, जुलाई सन् १८८९ में काली खाँसी हुई। अगस्तके आरम्भमें रोग पूर्ण अवधिको पहुँच गया। फिर उसकी २ वर्षकी कन्याको भी यह रोग हो गया। उसको भी १० दिन तक रोग खूब बढ़ता रहा। इस बीचमें दोनों बालक किसी तरहका आहार तक नहीं कर सके। अन्तमें उनके माता पिता जो प्राचीन प्रणालीके अनुसार बड़े यत्नसे उनका इलाज कर रहे थे, मेरे पास आये और उन्होंने मुझसे चिकित्सा करनेको कहा। मैंने चिकित्सा प्रारम्भ कर दी। छोटी लड़की इतनी कमजोर हो गई थी कि खड़ी भी न हो सकती थी। मैंने यह निश्चय किया कि इनको प्रतिदिन चार मेहन-स्नान कराकर नरम बिछौनेपर लिटा दिया जाय अथवा एक आतप-स्नान दे दिया जाय, जिससे कि पसीना आ जाय—और शीघ्र हजम होनेवाला तथा अनुत्तेजक आहार दिया जाय। उन दिनों मौसम अच्छा रहनेसे आतप-स्नान प्रतिदिन लिया जा सका, जिसने मेहन-स्नानके साथ साथ आश्चर्यजनक फल

दिखाया। इस प्रकार इस उत्तम चिकित्साद्वारा कुछ ही सप्ताहोंमें दोनों बालक खतरसे पार हो गये और दो मासके भीतर ही बिल्कुल चंगे हो गये। पथ्यके सम्बन्धमें यह एक विचित्र बात थी कि कन्या नमक, मीठा या घीके बिना बनी हुई जईकी लप्सीको बिल्कुल नहीं छूती थी, जिससे कि उसको विशेष लाभ हो सकता था, किन्तु कच्चा दूध और चाकलेट खाती थी। इससे यह आवश्यक है कि बालकोंको बचपनसे ही सादा भोजन करनेकी आदत डाली जाय। यह भी असम्भव था कि उस कन्याको उसकी माताके पास सुलाया जाता, जो कि पसीना लानेका सर्वोत्तम उपाय होता। आदतके कारण वह अपनी छोटीसी पलंगीरीके लिए इतनी रोती चिल्लाती थी कि विवश होकर उसे पलंगीरीपर ही लिटाना पड़ता था। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्यके शरीरकी गर्मी पसीना लाने और शांति देनेके लिए सबसे अच्छा साधन है। उच्छ्वासकी वायुके बुरे परिणामके संबंधमें चिन्ताकी आवश्यकता नहीं है। निम्न पशु हमारे लिए सर्वोत्तम आदर्श हैं। वे अपने निर्बल और रोगी बच्चोंको ताकतवर बनानेके लिए अपने शरीरसे गरम करते हैं। रोग होनेके पहलेसे ही बालकोंको मातृके हृदयसे लगकर शयन करनेका अभ्यास होना चाहिए, जिससे बीमारीकी हालतमें उन्हें कोई नई बात न मालूम हो। यहाँ रोगी और नीरोग ये दोनों शब्द केवल समान्य अर्थमें प्रयोग किये गये हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि यदि बालक वास्तवमें नीरोग होगा तो वह बुद्धियुक्त पालन-पोषणसे कभी रोगी नहीं हो सकता।

कण्ठमाला (Scrofula)—उन रोगोंमें है जिनमें ताप नहीं बढ़ता और इसी लिए साधारणतया इसकी गणना ज्वरोंमें नहीं की जाती। परन्तु वास्तवमें यह बीमारी ज्वरोंमें ही गिनी जानी चाहिए। यह व्याधि

भी वैसी ही भयंकर है जैसी कि ऊपरकी और व्याधियाँ । बल्कि किसी किसी अंशमें यह उनसे भी अधिक खतरनाक है । यह व्याधि उन गुप्त और लम्बी व्याधियोंमेंसे है जो कि पैतृक परम्परासे प्राप्त होती हैं । शरीरमें इतनी शक्ति नहीं होती कि वह ज्वरको प्रकट कर सके । जैसा कि मैं पहले व्याख्यानमें कह चुका हूँ, यह रोग प्रायः समशीतोष्ण और ठंडे देशोंमें हुआ करता है । इसके बाहरी लक्षण ये हैं— सिरका बड़ा होना, मुखका चौकोर होना, नेत्रोंमें जलन, शरीरका फूलना, टाँगोंका निर्बल होना, हाथ पाँवका विकृत होना, मनकी सुस्ती आदि आदि । परन्तु इन लक्षणोंमेंसे हम रोगीमें एक अथवा कई लक्षण पाते हैं । सबके सब लक्षण एक रोगीमें कदाचित् ही पाये जाते हैं । इन लक्षणोंके साथ साथ रोगीके हाथ-पाँव ठंडे रहते हैं और उसे ठंड लगती रहती है । इसी ठंडके कारण यह व्याधि भयंकर हो जाती है । इससे यह साबित है कि शरीरके सिरे या छोरके भागोंमें दुर्द्रव्यके भर जानेसे उनकी बहुत कुछ शक्ति नष्ट हो जाती है और साथ ही उनकी अपने काम करनेकी क्षमता भी जाती रहती है जिससे यह पता चलता है कि शरीरके भीतर क्षय करने-वाली गर्मी मौजूद है ।

इस व्याधिकी बनावट इस प्रकार समझनी चाहिए । शरीरके सिरे विशेषकर बालके समान बारीक रक्तवाहिनी शिराओंके सिरे विजातीय द्रव्यके भर जानेसे इस प्रकार रुक जाते हैं जैसे नालियोंमें कीचड़ भर जानेसे पानी रुक जाता है । इसलिए त्वचा तक रक्तका संचार नहीं होने पाता और रोगीको ठंड प्रतीत होने लगती है ।

यह कोई तीव्र व्याधि नहीं है; क्योंकि इसमें कोई विशेष व्यथा नहीं होती । केवल शारीरिक दशा देखकर हम यह जान जाते हैं कि

यह मनुष्य बीमार रहता है। अब तक किसीको यह ठीक पता नहीं चला कि यह रोग किस प्रकार होता है और इसमें क्या बात होती है। और यह तो बिलकुल ही नहीं मालूम कि इसकी चिकित्सा क्या है। प्रायः यह समझा जाता है कि यह रोग जल-वायुके परिवर्तनसे दूर हो जाता है, इस कारण रोगीको यदि वह समर्थ होता है तो देशान्तरमें या किसी नदीके किनारे भेज दिया जाता है। किन्तु इससे उसको पूर्ण लाभ नहीं होता, चाहे रोगमें कमी भले ही हो जाय।

हमारे अनुभवके अनुसार कण्ठमालाका रोगी जन्मसे ही विजातीय द्रव्यसे परिपूर्ण होता है। यह द्रव्य विशेषकर शरीरके छोरों य सिरोंकी तरफ दबोचा जाता है, अतएव उसके जोरसं सिरका गोल आकार शनैः शनैः नष्ट होकर चौखूँटा हो जाता है।

यहाँ उद्वेगकारी रससे भरी उस बोललका फिर स्मरण कीजिए। जिसके मुँहपर खड़की टोपी चढ़ी हुई है और जिसका वर्णन इस व्याख्यानके पूर्वमें हो चुका है, जैसे वह टोपी उद्वेगजन्य द्रव्यके भर जानेसे फैलती है, उसी प्रकार कण्ठमालाके रोगीका शरीर भी फैलता है हम मुखाकृति-विज्ञानकी सहायतासे प्रारम्भहीमें इस रोगकी सूक्ष्मसे सूक्ष्म चेष्टाको पहचान सकते हैं। परन्तु इस परिज्ञानके लिए यह आवश्यक है कि हम शरीरकी साम्यावस्थासे परिचित हों। यह विषय मेरी मुखाकृति-विज्ञान नामक पुस्तकमें विस्तारके साथ वर्णन किया गया है

हाथ-पैरोंके विकृत होनेका भी यही कारण है। त्वचा अपने काममें कुछ शिथिल हो जाती है और अपने नीचे संचित हुए दुर्द्रव्यको नहीं निकाल सकती। इस कारण रक्तकी गति रुक जाती है और जैसा पहले कहा जा चुका है प्रायः हाथ-पैर ठंडे रहते हैं।

फलतः भीतरी अवयवोंमें गर्मी अधिक बढ़ जाती है जो तबियतमें बेचैनी पैदा कर देती है। यह बात कण्ठमालाके रोगियोंमें थोड़ी बहुत अवश्य होती है। वास्तवमें यह ज्वरकी गुप्त अर्थात् मन्द अवस्था है। यदि यह दूर नहीं की जाती तो इस मूल व्याधिसे अनेक भयानक व्याधियोंकी उत्पत्ति हो जाती है, जिनका शमन होना कण्ठमालासे भी अधिक कठिन है। इसमें असावधानता करनेसे प्रायः क्षयरोग हो जाता है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि कण्ठमाला किसी अधिक शोचनीय व्याधिका पूर्वरूप है।

परन्तु हम इसे आराम किस प्रकार कर सकते हैं? इसके लिए प्रथम हमको यह करना चाहिए कि ठंडको गर्मीमें और मन्द दशाको तीव्र दशामें परिवर्तन कर दें। भीतरी ज्वरको बाहर लानेके लिए यह आवश्यक है। आगे चलकर हमको फिर ज्वरसे काम पड़ेगा, इसलिए हमारा चिकित्सा-क्रम भी तदनुसार ही होना चाहिए, जैसा कि और ज्वरोंमें रहता है। हमको चाहिए कि उत्सर्ग-मार्गोंको खोल दें, जिनके द्वारा उद्वेगकारी द्रव्य शनैः शनैः निकल जाय। हमको उसी उपायका अवलम्बन करना चाहिए जिससे कि हमारा पहले परिचय हो चुका है। अर्थात् आँतों, गुदों और त्वचाको अपना अपना काम करनेके लिए प्रेरित करना चाहिए। इस उपायसे त्वचामें शनैः शनैः गर्मी बढ़ने लगती है और वह कभी कभी बहुत गर्म हो जाती है। परन्तु यह गर्मी तभी तक रहती है जब तक कि पसीना नहीं निकलता। पसीना निकलनेके बाद त्वचा फिर साम्यावस्थामें आ जाती है। इस उपायसे जो लाभ होता है वह आरम्भमें स्थायी तो नहीं होता, किन्तु धैर्य और उत्साहपूर्वक कार्य करनेसे यही उपाय रोगका समूल नाश कर देता है। यह कहना असम्भव है कि रोगके समूल नाश होनेमें

कितना समय लगेगा। इस रोगके शमन होनेमें दिन तो क्या कभी कभी महीने और साल लग जाते हैं। तब प्रायः बिलकुल लाभ नहीं होता जब शरीरमें जीवनी-शक्तिकी कमी हो जाती है।

दूसरे व्याख्यानमें मैं यह प्रतिपादन कर चुका हूँ कि रोगियोंमें ठंड भी उसी तरह उत्पन्न होती है जिस तरह कि प्रबल दाह। यही बात कण्ठमालाके रोगमें होती है। रोगकी दो हालतें जो कि एक दूसरीसे बिलकुल अलग हैं, एक ही तरह पैदा होती हैं, परन्तु आगे चलकर उनके रूपोंमें अन्तर पड़ जाता है। जैसा कि तितली और उसके पर निकलनेसे पहलेकी हालतमें यद्यपि स्वरूपभेद होता है, परन्तु वह जीव एक ही है, केवल रूपान्तर हो जाता है। यही बात भिन्न भिन्न रोगोंमें समझनी चाहिए। यदि हमें कोई बिना परवाली और परवाली तितलीमें भेद बताता है, तो हम उसकी हँसी उड़ाते हैं। पर आश्चर्य तो इस बातका है कि हमने रोगोंके सम्बन्धमें इसी प्रकारकी युक्ति-हीन धारणाओंको हृदयमें स्थान दे रक्खा है, अर्थात् रोगोंकी एकताको अभी तक नहीं जान पाया है।

मैं अब अपनी चिकित्सा-शालामें हुई एक कण्ठमालाके रोगीकी चिकित्साका वृत्तान्त सुनाता हूँ। एक बालकके दो वर्षकी अवस्थामें कण्ठमाला हुई। रोगके कारण वह पाँच वर्षकी अवस्था तक भी पैरों न चल सकता था। वह अपनी छोटी गाड़ीमें लकड़ीकी तरह निकम्मा पड़ा रहता था। उसके पिताने उसकी अच्छे अच्छे डाक्टरोंसे चिकित्सा कराई; परन्तु सब निष्फल सिद्ध हुई। जिन ओषधियोंका प्रयोग किया गया उनसे हानिके सिवा लाभ कुछ न हुआ। अन्तमें डाक्टरोंने यह कह दिया कि रोग असाध्य है, यह बालक कभी पैरों न चल सकेगा। उसके लिए सब प्रकारकी ओषधियाँ, बिजलीके स्नान तथा

अन्य सब प्रकारके उपचारोंका प्रयोग किया गया, परन्तु फल कुछ न निकला। क्योंकि डाक्टरोंने यह न समझ पाया था कि यह कण्ठमाला रोग है क्या बला। पाँच वर्षका हो जानेपर वह बालक चिकित्साके लिए मेरे पास लाया गया। उसकी पाचन-शक्ति जिसकी ओर किसीने भी ध्यान नहीं दिया था बहुत बिगड़ी हुई थी। शरीर तना हुआ, सख्त और गौंठोंसे भरा हुआ था। मेरी चिकित्साके प्रभावसे पहले सप्ताहमें ही पाचन-शक्ति कुछ सुधर गई, जिससे उसके अरोग्यकी आशा बैंधी। फिर प्रतिसप्ताह धीरे धीरे शिराओंकी शुद्धि होने लगी। यहाँतक कि ६ सप्ताहमें रोगी बिना किसी सहारेके खड़ा होने लगा। उसका शरीर डील-डौलमें बहुत कुछ घट गया। उसमें वैसी कठोरता भी न रही और बहुतसी गौंठें भी जो कि हाथसे मालूम पड़ती थीं जाती रहीं। ६ महीने बाद उस बालकका सिर जो कि बहुत बड़ा था घटकर ठीक हो गया। रोगी इतने समयमें पूर्ण नीरोग हो गया और स्वस्थ बालकोंकी तरह दौड़ने-कूदने लगा तथा प्रसन्नचित्त रहने लगा।

अब मेरे विचारमें और व्याधियोंका उल्लेख करनेकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, तथापि कुछ रोगोंके नाम बतलाता हूँ, जिससे कि सर्व साधारणको यह मालूम हो जाय कि कनवर, पित्ती, ददौरा, कंठ-रोग, ऐंठन, अतिसार, गंज आदि रोगोंकी उत्पत्तिका भी कारण एक ही है। इन रोगोंमें थोड़ा बहुत ज्वर अवश्य रहता है, इस लिए इन सबकी चिकित्सा भी एक ही प्रकारसे होना उचित है।

इन सब व्याधियोंमें हमें दोमेंसे एक लक्षण अवश्य मिलता है—या तो बढ़ी हुई गर्मी या बढ़ी हुई ठंड। जैसा कि पहले सिद्ध हो चुका है ये दोनों लक्षण ज्वरका पता देते हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि दोनों एक ही चिकित्सासे अच्छे हो सकते हैं। इस बातका

मैं हजारों रोगियोंपर अनुभव कर चुका हूँ । सम्पूर्ण व्याधियोंका मूल कारण शरीरका विजातीय द्रव्य है । अर्थात् व्याधि एक ही है, परन्तु वह भिन्न भिन्न रूपोंमें प्रकट होती है । अतएव सार रूपसे उनकी एक ही चिकित्सा होना आवश्यक है । व्याधिके अनेक रूप जैसा कि पहले कहा जा चुका है स्वास्थ्यकी प्राप्तिके लिए शरीरके किये प्रयत्न हैं । अतएव उनको दबाकर छिपा नहीं देना चाहिए, जैसा कि औषध-व्यवसायी डाक्टरोंकी चिकित्सामें किया जाता है । बल्कि शरीरको इस कार्यमें सहायता देनी चाहिए कि वह शोधन-क्रियाके द्वारा बहुत शीघ्र और निर्विघ्न रीतिसे आरोग्य प्राप्त कर ले । केवल इसी उपायसे शरीर नीरोग हो सकता है । यदि रोगको दबा या छिपा दिया जायगा, तो यह निश्चय है कि वह शनैः शनैः अनेक भयंकर और असाध्य रूप धारण करके स्वास्थ्यकी 'इति श्री' कर देगा । क्योंकि उस अवस्थामें दूषित द्रव्य शरीरमें निश्चेष्ट नहीं रहेगा, उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहेगा ।

अब मैं पथ्यके विषयमें कुछ कहना चाहता हूँ । आहार ऐसा होना चाहिए कि जिससे विजातीय द्रव्य शरीरमें न पहुँचे और उद्वेगको और न बढ़ा सके । चूँकि शरीरमें एक तीव्र क्रिया हो रही है, इस लिए पाचन-शक्तिके ऊपर विशेष भार न पड़े, इसपर सदा ध्यान रखना चाहिए । रोगीको बहुत थोड़ा भोजन देना चाहिए और यदि वह स्वयं खाने पीनेको कुछ न माँगे तो उसे प्रेरणा करके खिलनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

अब मैं संसर्ग-दोष (दूत) की थोड़ीसी टीका जोड़ना चाहता हूँ ।

किसी प्रकारकी भी तीव्र व्याधि (ज्वर) तब तक कदापि उत्पन्न नहीं हो सकती, जब तक कि विजातीय द्रव्यके भारके रूपमें वह

शरीरके भीतर दीर्घकाल तक मन्द अवस्थामें न रह चुकी हो। इस कारण मन्द अवस्थायें सबसे अधिक भयङ्कर हैं। इस प्रकारकी दुरवस्थायें उन माता-पिताओंके द्वारा प्राप्त होती हैं, जो स्वयं विजातीय द्रव्यसे भरे हुए हैं। उक्त द्रव्य सन्तानमें परम्परासे बराबर चला आता है। हम देखते हैं कि जैसे बालकोंके रूप रंग और मनोवृत्ति आदि उनके माता-पिताके रूप रंग और मनोवृत्तिके अनुसार होते हैं, वैसे ही विजातीय द्रव्यका भाग भी उन्हें मिलता है। विशेषकर यह द्रव्य माताके द्वारा प्राप्त होता है। बहुधा सन्तानमें भी वैसे ही आकार विकार पाये जाते हैं, जैसे कि माता पितामें होते हैं।

अब तक लोगोंकी यही धारणा है कि छूत तीव्र व्याधियोंके द्वारा लगती है, परन्तु जैसा कि मैं कह चुका हूँ कि माता पिताके द्वारा सन्तानमें विजातीय द्रव्यका पहुँचना ही रोगका प्रविष्ट होना है, और यही छूत है। इस विजातीय द्रव्यका पहुँचना ही तीव्र व्याधिके कारणका उत्पन्न होना है, जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ। बालकोंके रोगोंकी उत्पत्तिका निर्णय माता-पितासे प्राप्त हुए विजातीय द्रव्यके द्वारा भली भाँति हो सकता है।

अब प्रश्न यह है कि तीव्र व्याधियाँ एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यको लग सकती हैं या नहीं? इसका उत्तर 'हाँ' और 'न' दोनोंमें होना सम्भव है। जो मनुष्य पूर्ण स्वस्थ हैं, अर्थात् जिनके शरीरमें विजातीय द्रव्य नहीं है, उन्हें छूतसे कोई बीमारी नहीं लग सकती, चाहे वे कितने ही बेसिलाई आदि कृमियोंको निगल जायँ अथवा साँसे पी जायँ। परन्तु वे लोग जिनके शरीरमें विजातीय द्रव्य है उनमें ये कृमि उद्वेगका हेतु बन जाते हैं, विशेष करके तब जब कि

तापमान अनुकूल होता है। यदि विजातीय द्रव्य थोड़े परिमाणमें हैं तो छूतका डर भी कम है।

तीव्र व्याधियोंकी हालतमें विजातीय द्रव्य निरन्तर उद्विग्न रहकर शरीरसे बाहर निकलता रहता है। यह दशा विशेषकर उस समय होती है जब कि रोगीको आराम होने लगता है, अर्थात् जब वह शरीरमेंसे विजातीय द्रव्य उत्सर्ग-मार्गोंसे निकालने लगता है। बस, छूतका भय उन आराम होते हुए मनुष्योंकी ओरसे अधिक होता है। अब छूत किस प्रकार लगती है, इस बातको मैं एक सुपरिचित उदाहरण-द्वारा समझानेकी चेष्टा करूँगा।

यदि हम सहजमें उद्विग्न होनेवाले किसी पदार्थमें जैसे काँजी या आसवमें उद्वेग पैदा कर दें और फिर उस दशामें ही उसे उद्विग्न होनेवाले किसी पदार्थमें जैसे कि गुँधे हुए आटे या दूध आदिमें, मिला दें, तब यदि वह काफी उष्ण होगा तो उसमें भी शीघ्र उद्वेगकी अवस्था उत्पन्न हो जायगी। इसी प्रकार जब खमीर जो कि उद्वेगहीका फलस्वरूप है, दूधमें या गुँधे हुए आटेमें मिलाया जाता है तो वह उनमें भी उद्वेग पैदा कर देता है। हम कहा करते हैं कि रोटीमें खमीर उठता है या दूध जमता है। तीव्र व्याधियोंमें भी इसी प्रकारकी प्रक्रिया होती है। उद्वेग पाया हुआ विजातीय द्रव्य रोगीके श्वास या शौच आदिके द्वारा निकलकर वायुमें मिल जाता है। यही विजातीय द्रव्य यदि किसी ऐसे मनुष्यके शरीरमें पहुँच जाय जिसमें विजातीय द्रव्य पहलेसे मौजूद है और वह वहाँ रुक जाय, अर्थात् तुरन्त न निकल सके, तो यह उसके शरीरमें वैसा ही कार्य करेगा जैसा कि दूधमें जामन। अतएव दूसरे शरीरमें भी उसी प्रकारका उद्वेग उत्पन्न हो जाता है और फिर उससे वही रोग उत्पन्न

होता है जो उस शरीरमें था जिससे कि वह विजातीय द्रव्य आया है। छूतकी यह समस्त प्रक्रिया वास्तवमें एक प्रकारका टीका है, जो उद्दिष्ट विजातीय द्रव्यका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें स्वाभाविक रूपसे लगता है। परन्तु यह द्रव्य जामनका काम तभी दे सकता है, जब कि इसको दूसरे शरीरमें छिपा हुआ विजातीय द्रव्य काफी परिमाणमें मिल जाय। इस प्रकारसे केवल उन्हीं मनुष्योंको तीव्र व्याधिकी छूत लगनेका भय है जिनका शरीर विजातीय द्रव्यसे लबालब भरा हुआ है, या दूसरे शब्दोंमें जिनको रोग होनेवाला है। अबतक मनुष्योंको यह भी पता नहीं कि यह रोगकी प्रवृत्ति क्योंकर होती है। दूषित द्रव्यका प्राकृतिक टीका और कृत्रिम टीका—जो कि सुईसे लगाया जाता है—इन दोनोंमें अन्तर केवल द्रव्य और उसकी मात्राका है। होमियोपैथी सिखाती है कि विष अपनी अत्यंत मंद अवस्थामें सबसे अधिक प्रभाव डालते हैं, इसी लिए उद्देगको प्राप्त होता हुआ दूषित द्रव्य भी अपनी स्वाभाविक दुर्बल अवस्थामें—जब कि उसको अनुकूल भूमि मिल जाती है—अधिक प्रभावशाली हो जाता है। एलोपैथिक ओषधियोंकी मात्राओंमें वैक्सीनका विष, अन्यान्य ओषधियोंकी भाँति जीवनी-शक्तिपर घातक प्रभाव डालता है, अर्थात् शरीरकी उस शक्तिको शिथिल कर देता है जिसके द्वारा वह विजातीय द्रव्यको किसी तीव्र व्याधि (अर्थात् निसर्गक्रिया—ज्वर) के द्वारा बाहर निकाला करता है। केवल इतना ही नहीं, बल्कि यह दूषित द्रव्यको भी बढ़ाता है—और उसमें अत्यन्त मन्द अवस्था उत्पन्न कर देता है। यह निश्चय है कि टीकेके प्रचारसे मन्द व्याधियोंकी बहुत वृद्धि हो गई है। ज्वरकी अन्य सब ओषधियोंका (जैसे—कुनैन, एन्टी पाइरिन, एन्टी फेब्रीन, मार्षिया आदिका) भी ऐसा ही प्रभाव होता है। ये स्वास्थ्य उत्पन्न करने-

बाली दैहिक शक्तिको क्षीण और नष्ट ही नहीं कर देती हैं बल्कि विजातीय द्रव्यके उद्वेगको भी कम कर देती हैं या बिल्कुल रोक देती हैं, परन्तु उसको निकालती कभी नहीं। इसी कारण, आजकल ऐसी ऐसी दारुण व्याधियाँ होने लगी हैं, जिनका पूर्वकालमें सर्वथा अभाव था। जैसे—स्नायु-विकार, पागलपन, उपदंश, क्षय, कण्ठमाला इत्यादि। शरीर विजातीय द्रव्यसे दिन दिन भरता जाता है और वह इस योग्य नहीं रहता कि किसी तीव्र शोधन-क्रियाके द्वारा उसको बाहर निकाल सके। इस तरह दूषित द्रव्यका भार अपनी पूर्ण अवधि तक पहुँच जाता है और फिर उसका परिहार असम्भव हो जाता है। बस, फिर उन ओषधियोंको जो तुरन्त दमन करती हैं, जैसे—कुनैन, एन्टी फेब्रीन, एन्टी पाइरिन, फीनिस्टीन आदिको डाक्टर लोग ज्वरमें बहुत उपयोगी समझने लगते हैं। परन्तु मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि ये ओषधियाँ स्वास्थ्यको बिल्कुल नष्ट कर देती हैं। इसीके सम्बन्धमें नीचे एक और युक्ति दी जाती है।

हम यह जानते हैं कि डाक्टरी विद्या नित्य नयी ओषधियोंकी खोजमें लगी रहती है; क्योंकि पुरानी ओषधियाँ कुछ लाभ नहीं पहुँचातीं। उस अन्ध विश्वासको स्मरण कीजिए, जो क्षयके टीकेमें उस समय तक था जबतक कि उससे एक भी रोगी अच्छा नहीं हुआ था। ऐसा तमाशा कभी किसीने नहीं देखा होगा। आरम्भमें हर नई ओषधि जीवनी-शक्तिको निर्बल कर देती है, किन्तु उसके अधिक सेवनसे शरीर शनैः शनैः इतना निकम्मा हो जाता है कि उसमें प्रतिरोध करनेकी शक्तिका अत्यन्त अभाव हो जाता है। उस दशामें उस ओषधिका भी उसपर कोई प्रभाव नहीं होता; क्योंकि जिसपर प्रभाव होता है या जो प्रभावको ग्रहण करती है वह जीवनी-शक्ति

ओषधिके सतत व्यवहारसे नष्टप्राय हो जाती है। फिर ऐसी नवीन और अत्यन्त प्रबल ओषधिकी खोज की जाती है जो कि जीवनी-शक्तिको और भी क्षीण करे। जब विजातीय द्रव्यका उद्वेग किसी प्रकार भी नहीं रुकता तब परिणाम यह होता है कि रोगी मर जाता है। इस विषयको एक दूसरे दृष्टान्तद्वारा मैं बिल्कुल स्पष्ट कर दूँगा।

कोई मनुष्य जब तमाखू पीना आरम्भ करता है तब उसे पहले अपने कोष्ठसे उस समय तक युद्ध करना पड़ता है, जब तक कि कोष्ठ तमाखूके विषैले प्रभावसे बेखुबर नहीं हो जाता। प्रारम्भमें कोष्ठ विषके प्रभावसे अपनी रक्षा करनेमें काफी समर्थ होता है, परन्तु फिर शीघ्र ही उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है। अन्तमें वह बिल्कुल बेसुध हो जाता है। उस समय हमको कोष्ठपर पहले जैसा नशेका प्रभाव डालनेके लिए पहलेकी अपेक्षा अधिक प्रबल विषवाले तमाखूकी आवश्यकता पड़ती है।

जो लोग तमाखू पीना आरम्भ करते हैं और उसको एकाएक सहन नहीं कर सकते, वे यह अनोखी बात कहा करते हैं कि मेरा कोठा अभी बहुत निर्बल है, इस लिए मुझको उसका अभ्यास धीरे धीरे करना चाहिए, अभी मैं उसे सहन नहीं कर सकता। परन्तु यह बिल्कुल ही उल्टी बात है। जब आमाशय तमाखूका विरोध नहीं करता तब यह सिद्ध होता है कि आमाशयमें पहले जैसी स्वाभाविक शक्ति नहीं रही और वह अब सर्वथा परास्त हो गया है।

शरीर जब कि इस प्रकारके गुप्त विजातीय द्रव्यसे भर जाता है, तब दुर्द्रव्य निकालनेके निमित्त उसे सतेज करनेके लिए बाहरसे किसी बहुत अधिक तेज उत्तेजनाकी अपेक्षा रहती है; क्योंकि शरीरकी क्रिया-शक्ति क्षीण हो जाती है। मैं पहले यह बता चुका हूँ कि यह उत्तेजना

जिसकी कि आवश्यकता दुर्द्रव्य निकालनेके लिए होती है कहाँसे प्राप्त होती है। साधारणतः वह ऋतु-परिवर्तनसे प्राप्त होती है, जिससे उसका समीपका या सीधा सम्बन्ध होता है। इसी कारण जिस वर्ष शरद-ऋतुमें अधिक शीत होता है, उस वर्ष शीतकालके बीतनेपर प्रायः भयङ्कर महामारियाँ हुआ करती हैं।

इस विषयमें मैं दो एक उदाहरण और भी दूँगा। यदि एक आस-वकी बोटल अँधेरे और ठंडे तहखानेमें रक्खी जाय तो उसमें आसानीसे उद्वेग उत्पन्न नहीं होगा, परन्तु यदि उस बोटलको धूपमें या गरम स्थानमें रख दिया जाय तो उसमें तुरन्त उद्वेग होने लगेगा, चाहे बोटलमें कैसी ही दृढ़ डाढ़ क्यों न लगी हो। यह उद्वेग न तो बेसिलिडसे पैदा होता है, न माईक्रोब्ससे; किन्तु रेशनी और गर्मीसे पैदा होता है। साथ ही आसवके बाह्य स्वरूपमें भी परिवर्तन होता है। उसका पहला स्वच्छ रूप गँदला हो जाता है। अब यदि उसमें बेसिलिड विद्यमान हैं तो वे उद्वेगसे ही पैदा हुए हैं।

हमारे भी हम यही बात देखते हैं। आज यदि परम सुहावनी धूप निकल रही है, तो कल बादल घिर आते हैं। प्रत्येक मनुष्य यह बात जानता है कि पानीकी भाप—जो कि वायुमंडलमें अदृश्य रूपसे भरी रहती है—ऋतु-परिवर्तनके कारण जम जाती है और हम देखते हैं कि ठंड अपनी भिन्न भिन्न मात्राओंसे उसे ओस, कुहरा, वर्षा, ओला, बरफ आदि बना देती है। इसके पहचाननेमें भी हमें कुछ कठिनाई नहीं पड़ती कि वे जलके ही नाना रूप हैं।

गरम देशोंमें जहाँ दलदल होती है, वहाँ उद्वेगजनक द्रव्य निकलकर वायुमें इतना मिल जाता है कि यदि उस स्थानपर विजातीय द्रव्यसे पूरित शरीरवाला कोई व्यक्ति थोड़ी देर भी खड़ा रहे तो वह

वायु उसको ज्वर उत्पन्न कर देगी। दलदलका उद्वेगकारी द्रव्य शरीरमें रहनेवाले विजातीय द्रव्यपर गुँधे हुए आटेमें खमीरका काम करके उद्वेग (ज्वर) उत्पन्न कर देता है। सब तरफसे रुके हुए गन्दे पानी भी ऐसा ही असर पैदा करते हैं, परन्तु उतना तीव्र नहीं। यह अन्तर पहाड़ोंकी स्वच्छ झीलेंमें जिनकी कि पथरीली तली उद्वेग पैदा नहीं करती और दूसरे कीचड़भरे तालाबोंमें साफ़ जाहिर है।

कभी कभी यह तालाब अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल रहते हैं, परन्तु ऋतुके परिवर्तनसे इनमें उद्वेग पैदा हो जाता है, जो कि तलीमेंसे उठकर सारे तालाबको गँदला कर देता है, जिससे यह हर कोई पहचान सकता है कि इस तालाबकी तली कैसी है। कीचड़की तलीपर और रुके हुए पानीमें ऋतु-परिवर्तनसे प्रायः उसी प्रकारका उद्वेग होता है जैसा कि दलदलके पानीमें। फिर वह और वस्तुओंमें उद्वेग उत्पन्न करनेके लिए जामनका काम करता है। यदि ग्रीष्म और शरद-ऋतुमें होनेवाली अवस्थाओंकी तुलना की जाय, तो यह उद्वेग-क्रिया प्रत्यक्ष दिखाई पड़ सकती है। जाड़ोंमें दलदलपर भी ठहरा पानी कुछ अधिक स्वच्छ होता है; क्योंकि ठंड उद्वेगका अवरोध करती है, परन्तु गर्मीमें वह बहुत गन्दा और गँदला हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि जब किसी संसर्ग (छूत) की सम्भावना ही नहीं है, तो महामारी आदि भयङ्कर व्याधियाँ हो कैसे जाती हैं; क्योंकि हम देखते हैं कि जो रोग आज यहाँ होता है वहाँ कल दूसरी जगह हो जाता है।

यदि शरीरमें विजातीय द्रव्य न हो तो किसी भी महामारीका होना असम्भव है। देखनेसे मालूम होता है कि महामारियाँ प्रतिवर्ष हुआ करती हैं। यद्यपि ये इतनी अधिक नहीं फैलतीं, जितना कि सन्

१८९० के आरम्भमें इन्फ्लूएंजा फैला था। परन्तु यह कौन नहीं जानता कि प्रतिवर्ष किसी न किसी समय खसरा, रक्त-ज्वर, डिफ्थीरिया, काली खाँसी, शीतला, इन्फ्लूएंजा आदि व्याधियोंका प्रकोप हो ही जाता है। इसका कारण यह है कि जनतामें—जिसका आहार-विहार तथा रहन-सहन प्रायः समान है—विजातीय द्रव्यका भार भी गुण और परिमाणकी दृष्टिसे बहुत कुछ समानता रखता है। अब यदि दुर्द्रव्यको छेड़नेवाला एकसा ही कारण बन जाता है, अर्थात् यदि मौसमकी तबदीलीसे शरीरकी जीवन-शक्तियोंपर बाहरसे मौसमका एक सा प्रभाव पड़ जाता है, तो ये (जीवन-शक्तियाँ) भी विजातीय द्रव्य निकालकर स्वास्थ्य-रक्षामें एकहीसा प्रयत्न (ज्वर) करने लग जाती हैं। आरम्भमें और यदि विजातीय द्रव्यका भार अधिकांश मनुष्योंमें एक सा होगा, तो एक ही समयमें उन सब मनुष्योंपर एक ही प्रकारका प्रभाव पड़ेगा। इसीका नाम महामारी है। परन्तु भूल जानेकी बात नहीं है कि महामारिमें भी प्रत्येक व्यक्तिके रोगके सब लक्षणों और रोगकी अवधिमें बिल्कुल समानता नहीं होती, कुछ न कुछ अन्तर रहता है। जब एक महामारी जैसा कि हम इन्फ्लूएंजामें देख चुके हैं आज यहाँ और कल वहाँ होती है तो उसका कारण केवल ऋतु ही होता है। ऐसी व्याधियाँ आँधीके तुल्य होती हैं; क्योंकि आँधी भी महामारीकी तरह आज एक स्थानमें तो कल दूसरेमें प्रकट हुआ करती है। जब कि कोई महामारी एक जगह उत्पन्न हो जाती है तब प्रचारका बाकी काम संसर्ग (छूत) दोष करता रहता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

महामारियाँ पहलेकी तरह अब नहीं फैलतीं। इसका कारण केवल यही है कि समस्त चिकित्सकोंने मनुष्योंकी जीवनी-शक्तियों

अतिशय निर्बल बना देनेकी शिक्षा प्राप्त कर ली है। इस लिए महामारिरूप शरीरके शोधक-कार्योंमें शरीरकी आवश्यक शक्तियाँ तभी इकट्ठी होती हैं जब कि उनपर कोई विशेष दबाव पड़ता है। इसका परिणाम जनतामें अति प्रबल, गुप्त और मन्द व्याधियोंका अधिकतर प्रसार होना है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वह समय शीघ्र ही आयगा जब कि इस बातको सब लोग मंजूर करेंगे।

इन सब बातोंका सारांश यह है कि (१) मन्द व्याधियोंके आनेका (अर्थात् माता-पितासे सन्तानमें) रास्ता केवल विजातीय द्रव्य है। जो कोई इसको रोकना चाहे उसका प्रथम कर्तव्य है कि वह विजातीय द्रव्यको अपने भीतरसे निकाल दे। यह रास्ता रोग फैलानेके लिए सबसे बुरा है; क्योंकि इसकी पहुँच दूर तक है। परन्तु किसी तीक्ष्ण रोगकी छूत लगना तभी सम्भव है जब कि उसकी ओर अपनी भी प्रवृत्ति हो।

शरीर गुप्त विजातीय द्रव्यसे कितना भरा हुआ है, यह बात मुखाकृति-विज्ञानके द्वारा जानी जा सकती है।

(२) तीव्र व्याधियोंकी छूत लगनेकी दशामें उद्विग्न द्रव्य प्रायः वायुके द्वारा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें पहुँच जाता है, परन्तु यदि दूसरे शरीरमें विजातीय द्रव्य (अर्थात् रोगकी स्वाभाविक प्रवृत्ति) विद्यमान न हो, तो छूत लगना असम्भव है। क्योंकि रोगोत्पत्ति सदैव इस द्रव्यके उद्देगसे ही होती है। इस कारण रोगीके कमरेमें स्वच्छ वायुका होना पहली शर्त है। यह तभी संभव है जब कि घरकी खिड़कियाँ खोल दी जायँ अथवा वायुके सञ्चारका और कोई काफी प्रबन्ध कर दिया जाय। सब प्रकारकी सुगन्धित और कृमिनाशक ओषधियाँ—

जिनका कि बहुधा वायुको स्वच्छ करनेके लिए व्यवहार किया जाता है—विजातीय द्रव्यको नष्ट नहीं करती, बल्कि वायुको और दूषित कर देती हैं। साथ ही वे हमारे स्वास्थ्यकी द्वारपाल नासिकाकी प्राण-शक्तिको भी अत्यन्त शिथिल कर देती हैं, जिससे वह रोगीके शरीरसे निकलती हुई साँसकी दुर्गन्धका अनुभव नहीं कर सकती। यह वस्तुयें भी ऊपरकी ओषधियोंके समान ही हानिकारक हैं। वायुमें रहनेवाले उद्वेगकारी कृमियोंको विषद्वारा नष्ट करनेके लिए चाहे कितना ही उद्योग किया जाय उससे कुछ लाभ न होगा; क्योंकि शरीरमें उद्वेग उत्पन्न करनेके लिए बहुत थोड़े दुर्द्रव्यकी आवश्यकता होती है। अतएव विषैले पदार्थोंके द्वारा वायुकी शुद्धि करना व्यर्थ है। उपयुक्त चिकित्सा वही है जो शरीरका शोधन करती है और विजातीय द्रव्य, अर्थात् रोगके लिए अनुकूल द्रव्यको बाहर निकाल देती है। उसे आप जानते ही हैं; अर्थात् उदर-स्नान, मेहन-स्नान और वाष्प-स्नान। अनेक रोगियोंकी चिकित्सा करते समय मुझे उनके दुर्गन्धित प्रश्वासकी वायु ग्रहण करनी पड़ी। दूसरे समय जब मैंने मेहन-स्नान लिया तब मेरे शरीरमेंसे वैसी ही दुर्गन्ध निकली, परन्तु वह उतनी तीव्र नहीं थी। इससे सिद्ध होता है कि शरीरकी जीवनी-शक्ति स्नान लेनेसे इतनी तीव्र हो जाती है कि रोगकारक विषको शरीरसे बाहर निकाल फेंकती है।

(३) यही सरल उपाय सब महामारियोंमें द्रूतसे हमारी रक्षा करता है; क्योंकि विजातीय द्रव्य शरीरसे निकल जाता है और बिना उसके किसी व्याधि या महामारीका होना असम्भव है।

इससे यह सिद्ध है कि रोगका शरीरमें आना और उससे दूसरोंको झूतका लगना तभी सम्भव है जब कि शरीरमें विजातीय द्रव्य मौजूद

हो। इसके बिना कोई रोग नहीं होता और रोगके बिना छूत नहीं लग सकती। परन्तु शरीरमें विजातीय द्रव्यकी स्थितिसे अभिप्राय उसकी आन्तरिक मलिनतासे है। जो मनुष्य केवल बाहरसे ही नहीं; किन्तु भीतरसे भी शुद्धि करना जानता है, उसको छूत आदिका कुछ भय नहीं रहता। केवल यह शुद्धि ही रोग-निवृत्तिका एक मात्र उपाय है। जो मनुष्य यह समझते हैं कि रोगके भिन्न भिन्न स्वरूपोंके भीतर अनेक नये कारण छिपे हुए हैं, वे भ्रममें पड़ें हुए हैं। उन्हें इस बातका ध्यान नहीं कि प्रकृति बार बार एक ही वस्तुको अत्यधिक भिन्न भिन्न रूपोंमें दिखाया करती है। यह हम तितलीकी पंखदार और कृमि अवस्थामें, अथवा जलकी वर्षा, बरफ, ओला, ओस और कुहरेकी दशाओंको देखकर भली भाँति जान सकते हैं।

इस विषयको समझनेके बाद रोकनेवाली तरकीबोंको काममें लानेका विचार भी अत्यन्त दया पैदा करता है, जो कि डाक्टरोंमें तीव्र व्याधियों—जैसे कि डिफ्थीरिया, शीतला, विषूचिका आदि—के संसर्ग-दोषसे बचनेके लिए की जाती हैं। हम देखते हैं कि मकानोंको किस तरहसे खाली कराकर उनमें किसीको नहीं जाने दिया जाता और सारे कमरोंमें कार्बो-लिक एसिड तथा दूसरे निरुपयोगी जीवाणुनाशक द्रव्योंकी बदबू भर दी जाती है, जो कि संसर्ग-दोष दूर करनेके लिए उपयोगी समझी जाती है। समाचारपत्रोंमें यह पढ़कर तो धीरज ही छूट जाता है कि जहाज अकारण सप्ताहों और कभी कभी महिनों तक केरण्टाइनमें संसर्ग-दोषको दूर करनेके लिए रक्खे जाते हैं। कोई भी मनुष्य जो मेरे समान रोगियोंकी चिकित्सा करनेमें लगा रहा है यदि वह आँखोंसे अन्धा नहीं है तो छूतके भयका एक विचित्र चित्र खींच देगा। मैंने उन बालकोंको

जो डिफ्थीरिया, रक्त-ज्वर, खसरा, शीतला आदि रोगोंसे ग्रस्त थे अपने भाई-बहनोंके साथ एक शय्यापर शयन करते देखा है। गार्हस्थ्य दुर-वस्थाके कारण विवश होकर उनको ऐसा करना पड़ता था, परन्तु उनको कोई संसर्ग-दोष नहीं हुआ। कारण, उनमें रोग उत्पन्न होनेके लिए पहलेसे स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं थी, अर्थात् वे विजातीय द्रव्यसे रहित थे, जो कि रोगकी वृद्धिके लिए खादके समान है। इसके अतिरिक्त मैंने एक दूसरे कुटुम्बमें यह देखा कि एक बालकके रोगग्रस्त होनेपर क्रमसे उस घरके सब बालक रक्त-ज्वर, डिफ्थीरिया, शीतला आदि रोगोंमें फैस गये। यद्यपि रोगसे सुरक्षित रहनेके लिए डाक्टरोंके मतानुसार उस घरमें विषघ्न ओषधियोंका बराबर व्यवहार होता रहा, तथापि छूतसे उनकी रक्षा न हो सकी। इन अवस्थाओंके पूर्व ही मैंने उनके माता-पिताओंको यह सूचना दे दी थी कि यद्यपि इस समय एक ही बालक रोगी हुआ है, परन्तु दूसरे बालकोंको भी रोग हो जानेका डर है। क्योंकि मैंने मुखाकृति-विज्ञानके द्वारा यह निदान कर लिया था कि उनमें रोगकी प्रवृत्ति विद्यमान है। इससे आपको विदित हो सकता है कि डाक्टरोंके लिए महामारी आदि सांसारिक व्याधियोंका रोक देना कितना असम्भव है। हमको इस बातकी प्रतीतिके लिए प्रकृति देवीका आश्रय लेना चाहिए। वनमें हम कभी कभी किसी ऐसे पुराने वृक्षकी जड़ देखते हैं जिसे कीड़ों-मकोड़ोंने खा लिया है और उसके पास ही दूसरे नव-पल्लवलसित हरे-भरे वृक्षको देखते हैं, जो कि तरुण पुरुषके समान ऊपरको सिर उठाये निर्भय खड़ा है और अपने समीपके घोर शत्रुओंसे जरा भी भयभीत नहीं होता। यदि नवीन वृक्षमें भी कीड़े मकोड़े लग गये होते और दूषित रस भरा होता, तो यह वृक्ष भी कीड़ों मकोड़ों और सौंपकी छत्री आदिसे न बचा

होता । परन्तु उसकी शाखायें बलपूर्वक निकलती हैं, कोई कीड़ा-मकोड़ा उसको हानि नहीं पहुँचा सकता । उसमें कोई साँपकी छत्री नहीं जम सकती; क्योंकि उसमें इन सब वस्तुओंकी उत्पत्तिके लिए उपयुक्त रसका अभाव है ।

ईश्वर ऐसा करे कि मैंने संसर्ग-दोषके विषयमें जो कुछ उल्लख किया है उसके भावको प्रत्येक मनुष्य भली भाँति समझ जाय, जिससे कि डाक्टरोंके फैलाये भ्रम और उनकी झूठी शिक्षाका असर जाता रहे । ऐसा होनेसे ही महामारीके होनेपर जनता व्याकुल न होगी; किन्तु धैर्य, शान्ति और साहससे उसकी चिकित्साका समुचित प्रबन्ध कर सकेगी ।



वातव्याधि, आमवात (गठिया), राँगन, शरीरका टेढ़ापन, लँगड़ा और लुँजापन, हाथ पाँवोंका ठंडा और सिरका गर्म रहना

इन सबका हेतु और चिकित्सा

वातव्याधि आजकल इतनी अधिक फैल रही है कि उसे सुनकर आप विस्मित होंगे, परन्तु मुझे इसकी चिकित्सा में कितनी सफलता प्राप्त हुई है, यह जानकर आपको हर्ष होगा। प्राचीन काल में केवल बूढ़े मनुष्यों और विशेषकर पुरुषोंको ही यह रोग हुआ करता था, परन्तु आजकल इस रोगके लिए स्त्री, पुरुष अथवा अवस्था आदि किसीका भी कोई नियम नहीं रहा है। बालकोंको तो और भी अधिक शिकायत रहने लगी है। यह निस्सन्देह कहना पड़ेगा कि वर्तमानकाल में असंख्य ओषधियों और चिकित्साओंका आविष्कार होनेपर भी यह रोग बढ़ गया है—

“ मरज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की। ”

शरीरके किसी भी भागपर इसका प्रभाव पड़ सकता है। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जिसको यह वात-व्याधिका कष्ट टाँग, बाँह, कंधे, सिर या दाँतोंमें कहीं न कहीं, कभी न कभी, न हुआ हो। इनमें सबसे भयदायक वह पीड़ा है जो कि सन्धियों (जोड़ों) या शिराओंमें होती है।

लोग यह विचार नहीं करते कि यह रोग क्यों होता है । बस यही कह देते हैं कि ठंड लग गई है । वास्तवमें यह आश्चर्यकी बात है कि इस आविष्कारक सदीके विद्वानोंने किसी भी ऐसी ऋतुका आविष्कार नहीं किया जिसमें बालक, जवान, या बूढ़े किसीको भी ठंडसे हानि न पहुँच सके । परन्तु इस ठंड लग जानेके सम्बन्धमें अभी मुझे विशेष रूपसे कहना है । मान लीजिए, जाड़ेके दिनोंमें तरीके समय एक पल्टन बाहर भेजी गई । उसमें सब मनुष्य छाँटकर एक सी तन्दुरुस्ती और बराबर उम्रवाले लिये गये । लौटते समय उनपर ठंडका भिन्न भिन्न प्रकारसे असर हुआ । किसीको खाँसी, किसीको जुकाम, किसीके दाँतोंमें दर्द और किसीको वात-व्याधि हुई; कुछ तन्दुरुस्त रहे या उनको कोई छोटी शिकायत हुई होगी जो अब नहीं रही—जैसे कि सिरका दर्द । इन सबका आरोप ऋतुपर डाला जाता है और यह कहना ठीक भी मादूम होता है; क्योंकि इसका कारण उनका जङ्गलकी खुली वायुमें रहना ही प्रतीत होता है । परन्तु उनका कारण विपरीत स्थानोंमें ढूँढ़ा जाता है । संसारमें इससे ज्यादा गलत नतीजा शायद ही कहीं और निकाला गया हो । वही ऋतु एक ही समयमें किसी मनुष्यकी तो तन्दुरुस्ती बढ़ाती है और किसीको बीमार कर देती है ।

वास्तवमें सैकड़ों बरससे रोगियोंको इस चिकित्साके सिद्धान्तसे जो कि स्थिर नहीं है कुछ लाभ नहीं पहुँचा, बल्कि इसके विपरीत इससे वात-व्याधिका प्रचार विशेष हो गया ।

वात-व्याधिका प्रायः शरीरके एक ही ओर या एक ही टाँग या बाँह अथवा कन्धेपर प्रभाव पड़ता है । मेरे विचारमें इसी बातसे यह सिद्ध होता है कि ऋतुका वास्तवमें कुछ दोष नहीं है; क्योंकि फिर यह सम्भव

९१ वात-व्याधिका हेतु और चिकित्सा

नहीं कि जब ऋतुका दोनों टाँगों या दोनों बाहोंपर एक सा प्रभाव पड़ रहा हो, तो फिर एक ही टाँग या बाँहपर वात-व्याधिका आघात हो। कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक मनुष्य हवादार खिड़कीकी ओर अपनी दाहनी बाँह करके बैठता है, परन्तु उसकी बाँई बाँहमें वात-पीड़ा हो जाती है—यद्यपि वह हवासे दूर और सुरक्षित थी। इस लिए यदि हम वात-व्याधिसे बचना चाहते हैं जिसमें अबतक सफलता प्राप्त नहीं हुई है तो हमको चाहिए कि उसके कारणपर बहुत ध्यानसे विचार करें।

प्रथम हमको यह देखना चाहिए कि इस रोगमें और और व्याधियोंके कौन कौन लक्षण मिलते हैं।

यदि हम किसी वातग्रस्त रोगीको ध्यानसे देखें तो मादूम होगा कि उसे ज्वर भी होता है और जिन भागोंमें पीड़ा होती है उनमें कुछ सूजन और दाह भी होता है। उसकी पाचन-शक्ति भी बिगड़ जाती है। फिर हमें यह भी मादूम होगा कि दाह—खासकर नसोंकी वात-व्याधिमें—शरीरके खास खास स्थानोंपर सदा रहता है। ये लक्षण कारणोंके एक ढग अधिक समीप पहुँचा देते हैं। परन्तु फिलहाल हम केवल तीन लक्षणों अर्थात् ज्वर, सूजन और पाचनपर विचार करेंगे—और यह तलाश करेंगे कि ये क्यों उत्पन्न हुए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है गठियोंमें सदा किन्हीं नियत भागोंहीमें पीड़ा हुआ करती है। आश्चर्यकी बात तो यह है कि गठियोंमें मुझे प्रधान पीड़ा सिवाय जोड़ोंके नीचेके और किसी स्थानमें नहीं मिली; अर्थात् घुटनेके ऊपर कभी नहीं, बल्कि सदैव घुटनेके नीचे मिली। इस बातको केवल आकस्मिक न समझना चाहिए,

बल्कि इसके भीतर कोई न कोई मर्मकी बात अवश्य छिपी हुई है ।

ऊपर कहा जा चुका है कि विजातीय द्रव्य शरीरमें प्रायः उस ज्वरके विना हुए भी फैलता है जिसके द्वारा कि वह शरीरसे निकल जाता है । उस दशांमें शरीर विजातीय द्रव्यसे शनैः शनैः परिपूर्ण हो जाता है । वास्तवमें यह लक्षण जवान आदमियोंमें प्रायः होता है, विशेषकर ठंडे देशोंमें । उन देशोंमें जहाँ गर्मीमें कुछ कमी हुई कि दुर्द्रव्य अपने स्रोतकी ओर लौटने लगता है । यह हमको मात्तूम है कि गर्मी पिंडोंको फैलाती है और ठंड सिकोड़ती है । यह प्राकृतिक नियम मनुष्य-शरीर-पर भी लागू है । ज्वरकी अवस्थामें यह फैलावट प्रत्यक्ष दीखती है । इसके विपरीत ठंडके कारण जूतों और दस्तानोंके भी हाथ पाँवोंमें सिकुड़न प्रतीत होती है । यह संकोच उनमें भरे हुए विजातीय द्रव्यपर दबाव डालता है, जिससे उसमें गति होने लगती है और वह अपने स्वाभाविक उद्गमस्थान (पेड़) की ओर वापिस जाने लगता है । परन्तु जब वह सन्धियोंके पास पहुँचता है तब जोड़ोंके हलन-चलनके द्वारा उसकी गतिमें रुकावट हो जाती है । इस लिए वह विजातीय द्रव्य वहाँ इकट्ठा होता रहता है । वस, अवरोधवश वहाँ दबाव पड़नेसे सूजन हो जाती है जिसके कारण तीव्र पीड़ा होती है और चूँकि दुर्द्रव्य पीछेको वापिस आता होता है, इसलिए पीड़ा हमेशा सन्धियोंके नीचे अर्थात् घुटनों और कन्धों आदिके नीचे हुआ करती है ।

यदि हम पूर्वोक्त पलटनके उदाहरणपर फिर विचार करें तो हम समझ जायेंगे कि रोगका वास्तविक कारण शरीरके भीतर ही मौजूद है । ऋतु-प्रभाव तो शरीरमें केवल प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देता है, अर्थात्

९३ वात-व्याधिका हेतु और चिकित्सा

विकारयुक्त मन्द अवस्थाको तीव्र और संतप्त अवस्थामें बदल देता है । इस प्रकार रोगके लक्षण शरीरके केवल उन भागोंपर ही प्रकट होते हैं, जिनमें कुछ विजातीय द्रव्य मौजूद होता है ।

हमको अब यह साफ़ पता लग गया कि आम-वात या गठिया कैसे होता है । यदि हमारे पास कोई रोगी चिकित्साके लिए आये, तो उसे जहाँ तकलीफ़ है केवल उसी अङ्गकी स्थानिक चिकित्सा करना ही काफी नहीं है; हाँ, कष्टको दूर करने, दूषित द्रव्यको ढीला करने और उसके निकलनेके मार्गको खोल देनेके लिए स्थानिक वाष्प देना चाहिए । परन्तु आरोग्य प्राप्त करनेके लिए समस्त विजातीय द्रव्यको धीरे धीरे उत्सर्ग-मार्गोंकी ओर लाकर बाहर निकालना होगा ।

इसमें सन्देह नहीं कि यह केवल आम-वातके लिए ही नहीं, किन्तु समस्त वात-व्याधियोंके विषयमें सत्य है । जब कभी यह कन्धे, कमर, करबट, गर्दन या सन्धियोंमें पैदा होती है, तो केवल विजातीय द्रव्यकी रगड़से होती है—वहाँ विजातीय द्रव्यके लिए अवश्य कोई प्रतिरोध होता है । शरीरमें उद्वेग पाये द्रव्यका अवरोध अवश्य होता है; क्योंकि उद्वेगकी गति वहाँ बोटलके समान बे-रोक-टोक नहीं हो सकती । शरीरमें सर्वत्र रगड़ या संघर्षका होना अनिवार्य है; क्योंकि गुर्दे, कोष्ठ, हृदय, फेफड़े और सन्धियाँ आदि अवयव उसके मार्गमें रुकावट डालते हैं । उसकी चालमें यदि तेज़ी होती है तो दर्द हो जाता है । परन्तु यह स्पष्ट है कि विजातीय द्रव्यका स्पर्श, संग्रह और अवस्थिति अवयवोंमें होती है, जिससे उन अवयवोंका रूप परिवर्तित हो जाता है और वे रुग्ण हो जाते हैं ।

सब प्रकारकी पीड़ाओंमें वात-व्याधि, (किसी रोग विशेषके नामसे

मतलब नहीं है) तीव्र वेदना, दाह और दबाव ये केवल संघर्षसे होते हैं और संघर्ष केवल गतिसे ही होता है ।

मुझे वात-व्याधिके कारणके सम्बन्धमें सबसे प्रथम यही बात आपसे कहनी थी ।

इस सिद्धान्तको प्रमाणित करनेके लिए मैं अपने विस्तृत अनुभवमें आये हुए अनेक रोगियोंमेंसे दो एकका उदाहरण दूँगा, जिससे यह चिकित्सा-विधि आपकी समझमें आ जाय ।

इस वर्षके प्रारम्भमें एक स्त्रीने मुझे बुलाया । उसके पतिसे मालूम हुआ कि वह वात-व्याधिसे पीड़ित है । उसकी दाहनी टाँग, कुछ ऊपरके जोड़, कमर और गर्दनमें अधिक व्यथा थी । उस स्त्रीने मुझसे पूछा कि आप इस रोगकी क्या चिकित्सा करेंगे ? अबतक इसको दूर करनेके जो उपाय किये गये हैं, उनसे कुछ भी लाभ नहीं हुआ । ऐसी बातें सुननेकी मानो मुझे आदत पड़ चुकी थी ।

मैंने पहले तो यह पूछा कि पीड़ा होनेका कारण क्या था, फिर यह कहा कि मेरे विचारके अनुसार टाँग, कमर, गर्दन या जाँघ आदिको गद्दे, तकिये, रज्जई आदि गरम वस्त्रोंमें लपेटकर चिकित्सा करना व्यर्थ है । समस्त पीड़ाएँ, जिनको आप भोग रही हैं, आन्तरिक ध्वरके लक्षण हैं । इस लिए हमको उष्णताका प्रयोग न करना चाहिए, बरन् रोगकी जड़में जाकर भीतरी गर्मीको शमन करना चाहिए । ऐसा करनेपर आपको इस चिकित्साका लाभ तत्काल विदित हो जायगा । यह स्त्री इतनी अशक्त थी कि हाथ पैर तक नहीं हिला सकती थी, इस कारण हमने टबका बिल्कुल उसके पलंगके पास लगाकर रख दिया और तीन आधमियोंने उठाकर उसे पानीमें बिठा दिया । मैंने एक दाईकी मार्फत उसे एक मेहन-स्नान दिलवाया । वह रोगिणी जो अबतक

९५ वात-व्याधिका हेतु और चिकित्सा

पीड़ाके मारे हाय हाय कर रही थी, १५ मिनटके भीतर ही चुप हो गई। मैंने पूछा, तुम एकदम चुप क्यों हो गई? उसने उत्तर दिया कि मेरी पीड़ामें कमी है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह चिकित्सा ठीक थी। उसकी कमर, जॉघ और गर्दनमें पीड़ा उसी कारणसे होती थी, जिसका कि मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ—और वह इसी उपायसे दूर हो सकती थी। थोड़े दिनोंमें ही वह खी बिना सहारे पलंगसे उठने, बैठने और स्वतः स्नान करने योग्य हो गई। फिर कुछ ही सप्ताहोंमें अपना काम-काज करने और चलने फिरने लगी।

अब दूसरा उदाहरण सुनिए—एक दिन एक वृद्ध मनुष्य मुझसे आकर मिला। वह तीव्र वात-रोगसे ग्रस्त था और महीनोंसे चिकित्सा करा रहा था, परन्तु उसे कुछ लाभ न हो रहा था। उसने पूछा कि क्या तुम मेरी भी चिकित्सा कर सकते हो? मैंने मुखाकृति-विज्ञानके द्वारा उसकी परीक्षा करके कहा कि अभी रोग असाध्य नहीं हुआ है। उसकी बाँई टाँगमें दर्द था। पहले रोगीकी तरह उसकी चिकित्सा भी आरम्भ की गई। दो ही स्नानोंसे रोगीको इतना लाभ हुआ कि जहाँ वह गाड़ीमें आया था, वहाँ पैदल ही घरको चला गया। अब इस मर्मको खोजना चाहिए कि उसके बाँयें पैरमें ही पीड़ा क्यों थी और दाहनेमें क्यों नहीं थी।

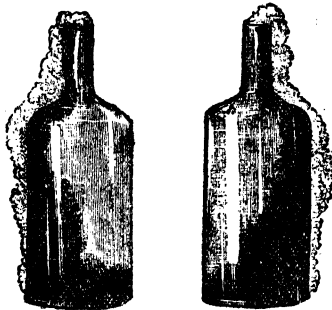
इसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित व्याख्यानसे हो जायगा।

ज्वरके व्याख्यानमें बोलतका दृष्टान्त देकर मैंने शरीरके एक पार्श्वमें विजातीय द्रव्यकी स्थिति समझाई थी। आशा है कि अब आप बिना समझाये ही स्वतः यह भलीभाँति समझ गये होंगे कि शरीरके जिस भागमें विजातीय द्रव्यका संचय होता है रोग उसी भागमें हुआ करता है। अब प्रश्न यह है कि इस विजातीय द्रव्यकी उत्पत्ति कहाँसे

हुई ? क्योंकि शरीर तो दुर्द्रव्यको यथासम्भव दूर ले जानेकी चेष्टा करता होगा जिससे कि दुर्द्रव्यके लिए और अधिक स्थान खाली मिल सके । वास्तवमें द्रव्य बिलकुल एक ही ओर संचित हो, ऐसा नियम नहीं है । बल्कि उसका प्रारम्भ अधिकतर एक ओरसे होता है और वह तब तक उसी ओर स्थित रहता है जब तक कि वहाँ पूर्ण रूपसे भर नहीं जाता । फिर वहाँसे शरीरके दूसरे भागकी ओर चल पड़ता है । किन्तु यह उस पहले पार्श्वमें दीर्घकालतक अधिक परिमाणमें रहता है । इसके एक ओर संप्रह होनेका कारण बिलकुल यांत्रिक है; क्योंकि द्रव्य आकर्षण शक्तिके नियमका पालन करता है । यह आपको कुछ ही दृष्टान्तोंके द्वारा बिलकुल स्पष्ट हो जायगा । यदि हम कौचकी दो बोतलें केवल साफ पानी भरकर और डाट लगाकर बन्द कर दें और रातभर उन्हें रक्खा रहने दें, तो प्रातःकाल हम देखेंगे कि उनमें कोई अन्तर नहीं है और न यह मात्तूम होगा कि बोतलें किस करबटसे पड़ी रही हैं । पर यदि हम उक्त पानीमें थोड़ीसी मिट्टी मिलकर उसी विधिसे बोतलोंको बन्द करके फिर रातभर पड़ा रहने दें, तो अगले दिन प्रातःकाल हमें उनमें अन्तर दिखाई पड़ेगा । बोतलोंपर थोड़ा ध्यान देनेसे ही यह तुरन्त विदित हो जायगा कि वे किस करबटसे पड़ी रही हैं; क्योंकि जिस करबटसे वे पड़ी रही होंगी, उधर उनमें कीचड़ जम गई होगी और पानी उसके ऊपर तैर रहा होगा । तीसरी रातको यदि उस कीचड़में किसी शीघ्र उद्वेगकारी पदार्थका जामन दे दिया जाय तब प्रातःकाल तो उनकी बाहरी हालत वैसी ही दिखाई देगी, परन्तु उन्हें खोलकर यदि किसी गरम स्थानमें रख दिया जायगा तो बोतलोंके अंदर कीचड़के भागमें उद्वेग उत्पन्न होने लगेगा । उद्वेगजन्य वस्तु ढफन्कर उस ओरको बहती हुई निकलेगी, जिस ओर बोतल पड़ी

९७ वात-व्याधिकाहेतु और चिकित्सा

रही थी । (देखो चित्र नं० १ और २) यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि वह वस्तु बोतलके एक ही भागमें कार्य करती है; क्योंकि वह सदैव उस पार्श्वमें होकर उफनेगी जिधर वह पड़ी रही है ।



चित्र नं० १

चित्र नं० २

बोतलकी कीचड़में जामनके बिना भी अपने आप उद्वेग उत्पन्न हो सकता है, किन्तु इसके लिए उपयुक्त मौसम चाहिए और उसके लिए हमें बहुत दिनोंतक प्रतीक्षा करनी पड़ती है । यदि आप यह कल्पना कर लें कि उद्विग्न द्रव्य अच्छी तरहसे एक ऐसी बोतलमें बन्द है जिसकी दीवाल विशेष स्थितिस्थापक है, तो यह दृष्टान्त मानव-शरीरसे और भी अधिक समानता रखने लगेगा । उद्विग्न द्रव्यको फैलनेके लिए स्थानकी दरकार होती है; और वह दीवारोंके फैल जानेसे—चूँकि बोतल बन्द होती है—मिल जाता है ।

इन साधारण दृष्टान्तोंके द्वारा यह विदित हो जाता है कि शरीरके भीतर यह प्रक्रिया किस प्रकार हुआ करती है । द्रव्य नीचेके हिस्सेमें

संचित होता है, परन्तु वह हिस्सा जिसमें कि यह द्रव्य संचित होता है, नॉर्दि लेनेके आसनपर निर्भर है ।

किसी स्वस्थ मनुष्यको देखकर यह नहीं बतलाया जा सकता कि वह किस पार्श्वसे सोता है । उसके तो दाहिने या बाँये किसी करबटसे सोनेमें कोई अन्तर नहीं माळूम होता; क्योंकि वह एक करबटसे उतने ही आरामसे सो सकता है जितना दूसरी करबटसे । परन्तु जब शरीर विजातीय द्रव्यसे भरा होता है, तब मेरे निदानकी रीतिसे यह जान लेना सहज हो जाता है कि किस पार्श्वमें दूसरे पार्श्वकी अपेक्षा विजातीय द्रव्य कम या अधिक है ; जब द्रव्य अधिक मात्रामें जमा हो जाता है, तब उसका बटवारा और फैलाव शरीरके विभिन्न हिस्सोंमें विशेष नियमित होता है । उस समय इतनी ब्रेचैनी होती है कि मनुष्य किसी भी करबट आरामसे नहीं लेट सकता, शरीर तथा अंगोंको इधर उधर पटकता है और करबटें बदल करता है ।

जिस बाजूपर द्रव्य विशेषरूपसे जमा हो जाता है, विकार भी उस बाजूपर दूसरी बाजूकी अपेक्षा विशेष आसानी और विशेष तीव्रतासे उत्पन्न होता है । इस प्रकार आप यह देख सकते हैं कि जिस खिड़कीसे हवाके झोके आते हैं, उसकी ओर दाहिना हाथ करके बैठे रहनेपर भी वातपीड़ा बाँये हाथमें क्यों हो जाती है ।

यह सच है कि मनुष्यके शरीरमें विजातीय द्रव्य एक ओर उतनी शीघ्रतासे संग्रह नहीं होता, जितनी शीघ्रतासे बोटलमें होता है । बहुत से बालक गर्भसे ही शरीरके किसी एक पार्श्वमें संचित द्रव्यसहित जन्म लेते हैं, जिसका कारण या तो माताकी उस करबटसे शयन करनेकी आदत है अथवा गर्भाशयमें बालकका उस ओर झुके रहना है ।

९९ वात-व्याधिका हेतु और चिकित्सा

अब आपके ध्यानमें यह बात अच्छी तरह आ जायगी कि पूर्वोक्त सैनिकोंमेंसे कुछको एक ओर ही दौतकी पीड़ा क्यों हुई । इसी प्रकार आपको यह भी आसानीसे मालूम हो जायगा कि मेरे रोगीके बाँयें पैरमें ही वातपीड़ा क्यों हुई थी । वह वर्षोंसे बाँई करबटसे सोता था, अतएव उसके एक ही पार्श्वमें दुर्द्रव्य संचित हो गया था ।

पिछले रोगीकी चिकित्साके कुछ ही समय बाद मैं मैगडेवर्ग नामक स्थानमें एक ऐसे रोगीके विषयमें परामर्श देने गया, जो एक असाधारण वात-व्याधिसे पीड़ित बतलाया गया था । मैंने वहाँ जाकर देखा तो मालूम हुआ कि रोग तो बिल्कुल सामान्य प्रकारका है, किन्तु उसके लक्षण अत्यन्त तीव्र हैं । घुटनेमें और पैरके नीचेके गड्ढेमें बहुत सूजन और दर्द था, जिससे रोगी टाँगको हिला तक न सकता था । घुटनेके नीचे जोड़ोंमें भी बहुत सूजन थी और घुटनेसे ऊपर भी, जिससे रोगी टाँगको सीधा नहीं फैला सकता था । उसे इस रोगका दौरा प्रतिवर्ष होता था और प्रत्येक बार पहलेसे तीव्र होता था । उसके शरीरमें विजातीय द्रव्य सिरसे पैर तक भरा हुआ था । नया द्रव्य घुटनेकी ओर दबाव डालता था और पुराना द्रव्य लौटनेकी तलाशमें था । इस प्रकार वहाँ सग्ली पैदा हो जाती और तब गठिया हो जाता । इसका आंशिक कारण यह था कि अब तक वहाँ सेक आदि करके ही रोगीकी स्थानिक चिकित्सा की गई थी । यह सच है कि इससे हालत बदल गई थी और प्रकटमें कुछ आराम भी मालूम होने लगा था, परन्तु वास्तवमें व्याधिने अपना स्वरूप बदलकर मन्दता (दीर्घकालव्यापिनी) का मार्ग पकड़ लिया था, अर्थात् दुर्द्रव्य निश्चेष्ट अवस्थामें था; परन्तु नवीन उद्देगसे क्षुब्ध होनेके लिए सदैव तैय्यार था ।

मैंने पहले तो रोगग्रस्त भागोंको वाष्प देकर नर्म किया और फिर दुर्द्रव्यको बाहर निकालनेके लिए अपनी लम्बी शीतोपचार-क्रियाका विधान किया ।

कुछ ही दिनोंमें इस चिकित्सासे उसको आशासे अधिक लाभ हुआ ।

एक बार एक स्त्रीने—जिसके हाथ पैरोंमें आमवात (Gout) था—मुझे परामर्श किया और कहा कि अबतक जितनी ओषधियाँ मैंने लगाई हैं वे सब निष्फल हुई हैं । मैंने उसे समझानेकी कोशिश की कि तुम्हारी व्याधिका कारण केवल पाचन-शक्तिका अपूर्ण होना है और व्याधि तभी दूर हो सकती है जब वह रास्तेपर लाई जाये—आँतों और त्वचा अपना कार्य अच्छी तरह करने लगे । मैंने उसे प्रतिदिन तीन मेहन-स्नान लेने और सादा आहार करनेकी सलाह दी, जिससे उसके शरीरमें नूतन विजातीय द्रव्य न पहुँचने पावे । फल यह हुआ कि कुछ ही सप्ताहोंमें उसके जोड़ोंमें पहलेकी सी ठंड न रही; बल्कि वे खूब गर्म हो गये । पासमें थोड़ी ही दूरपर गर्मी साफ मादूम होती थी, इसलिए ठंडे स्नानोंने शरीरमें ठंड नहीं की; किन्तु गर्मी पैदा की । उनका उद्देश विजातीय द्रव्यको निकालकर उत्तम रक्त सञ्चार करनेका था, जिससे कि योग्य गर्मी आ जाय । कुछ ही कालमें जोड़ोंमेंसे बढ़ी हुई गर्मी दूर हो गई, शरीरने स्वाभाविक गर्मी प्राप्त कर ली और रोगी अच्छा हो गया ।

एक बार एक कुटुम्बमें मुझे बालकोंकी चिकित्सा करनेका अवसर मिला और उसमें पूर्ण सफलता भी हुई । एक दिन उन्हीं बालकोंकी दादीने मुझे परामर्शके लिए बुलाया और कहा—“ जब कि आप मेरे पोतोंकी चिकित्सा करनेमें सफल हुए हैं, तब क्या मेरी भी कुछ सहा-

१०१ वात-व्याधिका हेतु और चिकित्सा

यता नहीं कर सकते हैं ? मुझे बड़ी तकलीफ है और अपने समीप-
वालोंको भी मैं बहुत कष्ट दिया करती हूँ । मैं तीन सालसे पड़ी हूँ ।”
मैंने संक्षेपमें उत्तर दिया कि आपकी आँतों, गुर्दों और त्वचाकी क्रिया
बिगड़ रही है । यदि यह ठीक हो जाय, तो आपका रोग दूर हो सकता
है । उसने कहा कि “आपका कहना ठीक जान पड़ता है । इन कई
वर्षोंसे मुझे पसीना आता ही नहीं है और मैं तो इससे खुश थी; क्योंकि
पहले मुझे पसीना बहुत आता था । यही बात दस्तके संबंधमें भी है ।
वह चार, पाँच या छः दिनमें एक बार होता है । वैसे मेरी पाचन-
शक्ति अच्छी है ।” और लोग भी प्रायः यही कहते सुने जाते हैं
कि उनकी पाचन-शक्ति तो उत्तम है, केवल थोड़ासा कब्ज
रहता है ! यह इस बातका खेदजनक प्रमाण है कि लोग उत्तम
पाचनके विषयमें कितने मूर्ख हैं । मैंने उत्तर दिया—“आप ठीक कहती
हैं । आपके शरीरमें आहार जाता तो काफी और ठीक तौरसे है,
किन्तु नियमित रूपसे निकलता नहीं है । तब जो वस्तुएँ शरीरमें
डाली जाती हैं, उनका क्या होता है ? यह सन्धि-शोथ या गाँठोंकी सृजन
इस अपूर्ण पाचनके परिणामके सिवाय और कुछ नहीं है ।” उस ७०
वर्षकी वृद्धा स्त्रीको मेरी यह बात युक्तिसंगत जान पड़ी और इसलिए
एक दो दिनके भीतर ही उसने चिकित्सा प्रारम्भ कर देनेकी प्रार्थना
की । इसपर मैंने उसके पास अपनी एक स्नान करानेवाली दाईको
उपचारके लिए भेज दिया और उसको अपने स्नानोंकी सारी विधियाँ
बतला दीं । रोगिणीको प्रतिदिन तीन स्नान दिये जाते थे और उसके
बाद उसे बिस्तरपर लिटा दिया जाता था, जिससे यदि संभव हो तो
पसीना आ जाय । मुझे आशा नहीं थी कि उसे इतने जल्दी

पसीना आने लगेगा; परन्तु उसे प्रत्येक स्नानके बाद इतना खुलकर पसीना आने लगा कि उसके वस्त्र रातमें दो बार बदलने पड़ते थे। कुछ ही सप्ताहोंमें उसको इतना लाभ हो गया कि वह उठकर अपने कमरेमें बिना किसी तकलीफ़के चलने फिरने लायक हो गई।

इस स्त्रीको सन्धि-शोथ (Gout) था। इसका पहला कारण यह था कि उसकी पाचन-शक्ति बिगड़ी हुई थी जिसका सबसे पहला परिणाम वातरोग (Rheumatism) था। एक दिन उस स्त्रीने मुझसे कहा कि जबतक मेरी दूकान रही, तबतक मुझको बहुत काम करना पड़ता था, इससे मैं इस वातजन्य दर्दपर कुछ विशेष ध्यान न देती थी। धन्धा छोड़नेके बाद मुझे सन्धि-शोथ हो गया। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि सन्धि-शोथका कारण यह था कि वातरोगपर ध्यान नहीं दिया गया।

रॉगन—कटि (कूल्हे) की सन्धियोंके प्रदाहका नाम रॉगन है। यह भी उसी तरह उत्पन्न होता है जैसे कि वातव्याधि (Rheumatism) और उसी विधिके अनुसार चिकित्सा करनेसे दूर भी हो जाता है।

अब मेरी चिकित्सासे आरोग्य लाभ करके एक रोगीने जो कृतज्ञतापत्र भेजा है, उसे सुन लीजिए—

“ आपकी चिकित्सासे मेरी जो अकथनीय वेदनायें दूर हुई हैं, उनके लिए मैं आपका हृदयसे धन्यवाद करता हूँ। ”

“ सन् १८८५ के जाड़ांमें मेरे बाँयें कूल्होंमें तीव्र वेदना आरम्भ हुई, साथ ही देखा कि उसमें कड़ापन भी है। यही तकलीफ़ दाहिनी ओर भी शुरू हो गई, जो क्रमशः बढ़ते बढ़ते कमरके त्रिक भाग तक पहुँच गई, जिससे सर्वांगीण कड़ापन और तनाव मालूम होने लगा। जिस डाक्टरकी मैंने चिकित्सा प्रारम्भ की, उसने इसे रॉगन बताया। उसकी चिकित्सासे लाभ होना तो दूर रहा, उल्टा आँखोंमें

१०३ वात-व्याधिका हेतु और चिकित्सा

चक्राचौध, पलकोंका फड़कना, सिरमें भारीपन, बाँई बाँह और हाथमें एंठन और दर्द तथा सर्वाङ्गीण निर्बलता आदि भयानक लक्षण प्रकट हो गये, जिनके कारण मैं अपने जूते और मोजे भी नहीं उतार सकता था और न बिना सहारा लिये पलंगपर ही लेट सकता था। भयंकर पीड़ाके कारण कुछ ही दिनोंमें मेरे बाल भी सफेद हो गये।

“ इस नगरके १२ से अधिक बड़े बड़े सुप्रसिद्ध डाक्टरों और प्रोफेसरोंने मेरी निष्फल चिकित्सा की और अपने विद्यार्थियोंके आगे एक खास रोगिके तौरपर मेरा प्रदर्शन किया। यूनिवर्सिटीके एक नवयुवक विद्यार्थिनि तो राज्यकी तरफसे डिग्रीमा प्राप्त करनेकी परीक्षामें अध्ययनके एक खास आधारके तौरपर मेरा उपयोग किया। मैंने म्यूनीसिपल चिकित्सालय और यूनिवर्सिटी क्लिनिकमें रहकर भी महीनों चिकित्सा कराई। अन्तमें लिपजिग यूनिवर्सिटीके प्रोफेसरने—जो यूनिवर्सिटी पॉली क्लिनिकके डाक्टर भी थे—मुझको जनवरी सन् १८८९ में आपसे परामर्श करनेकी सम्मति दी। उन दिनों आप जहाँ तहाँ सार्वजनिक व्याख्यान दिया करते थे। आखिर ता० २३ जनवरी १८८९ को मैं आपसे मिला।

“ २४ जनवरीसे मैंने स्नान आरम्भ कर दिये। पहले ही स्नानसे मुझे अधिक मात्रामें पेशाब आया, जिससे पेड़ छोटा हो गया, सिर हलका हो गया और अनेक वर्षोंमें पहली बार मैं बिना लकड़ियोंके सहारे चला, जिनको कि मैं अबतक बराबर साथ रखता था। उसी दिन मैं यूनिवर्सिटी पॉली क्लिनिकके प्रोफेसरसे मिला, जिससे वे मेरी दशामें जो विशेष पारवर्तन हुआ है उसका अनुभव कर सकें।

‘ आपकी निर्दिष्ट विधिसे अनुसार मैंने तीन सप्ताह तक चिकित्सा की। तदनन्तर मैं बहुत कुछ सौच-विचारकर ता० १३ फरवरी सन् १८८९ को २० या ३० विद्यार्थियोंकी एक साधारण समितिमें यह सूचना देने गया कि मैं अब बिलकुल निरोग हो गया हूँ। मैंने अपने कथनको सत्य प्रमाणित करनेके लिए उनके सामने अपने समस्त अङ्गोंको घुमा फिराकर दिखाया।

“ तबसे मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ और अच्छे प्रकारसे कार्य करनेके योग्य हो गया हूँ। मैं अब प्रत्येक हाथमें १०० पौंड बोझ ले जा सकता हूँ, जब कि पहले हिल भी नहीं सकता था, फिर काम करने या बोझ उठानेका तो जिक्र हो क्या। सन् १८८५ के शरत्कालसे २३ जनवरी सन् १८८९ तक लिपजिग नगरके लब्धप्रतिष्ठ और सर्व-

मान्य चिकित्सकोंने मेरी चिकित्सा की, परन्तु मेरी दशा प्रतिदिन हीन और शोचनीय होती गई, किन्तु आपने २३ जनवरीसे १३ फरवरी सन् १८८९ के मध्यमें अपनी नूतन चिकित्साप्रणालीसे चिकित्सा करके मुझे पूर्ण स्वस्थ और भलीभाँति कार्य करनेके योग्य बना दिया ।

लिपजिग }

आपका—
हेनरिक के०

अब आपको हाथ पैरोंके ठंडे होने और सिरके गर्म होनेके कारण-पर तनिक विचार करना चाहिए । प्रत्येक मनुष्य यह जानता है कि सिर वास्तवमें ठंडा रहना चाहिए और हाथ पाँव गर्म । परन्तु हम प्रायः इसके विपरीत दशा देखते हैं । अब यह विचारणीय है कि रोगके ये लक्षण क्यों उत्पन्न होते हैं । मैंने अपने किसी पूर्वोक्त व्याख्या-नमें बताया था कि कोई व्याधि विना ज्वरके नहीं होती और किसी व्याधिके हुए विना ज्वर नहीं होता । इस कारण इस दशामें भी ज्वर होना चाहिए । इसमें किसीको सन्देह नहीं कि सिरके गर्म रहनेपर यह बात अवश्यम्भावी है । हाथ-पैरोंके ठंडे रहनेपर ज्वरका सन्देह प्रायः कम होता है; परन्तु मैं कहता हूँ कि ये दोनों लक्षण—अर्थात् सिरका गर्म और हाथ पैरोंका ठंडा रहना—एक ही रीतिसे उत्पन्न होते हैं । परन्तु यह कैसे सम्भव है, जब कि प्रत्येक रोग शरीरमें विजातीय द्रव्यके एकत्र होनेसे होता है । ज्वर या उद्वेगके द्वारा यह द्रव्य पेटसे चलकर शरीरके दूर दूरके भागों—अर्थात् हाथ, पाँव, सिर आदि—में जाता है । यदि यह उद्वेग पाया द्रव्य हाथों और पैरोंमें जाता है, तो वहाँ इसका बहुत कम अवरोध होता है । विजातीय द्रव्यका संचय पहले पैरकी अँगुलियोंमें होता है, फिर पैरोंमें । इस क्रमसे वह शनैः शनैः टाँगोंमें फैल जाता है, जिससे रक्तका संचार रुक जाता है और

उसका दुष्परिणाम यह होता है कि शरीरकी गर्मी कम हो जाती है । हाथोंकी भी यही बात है । बहुतसे मनुष्योंके पहले केवल अँगुलियोंके सिरेमें हाँ ठंड होती है और किसी किसीके केवल एक पैरमें । फिर कुछ कालके पश्चात् अर्थात् कुछ वर्षोंमें उनकी टाँगोंमें भी ठंड रहने लगती है । फिर पैर और घुटने तक ठंडे रहने लगते हैं । गर्म जुरीब्रें पहनी जाती हैं, परन्तु उनसे भी अधिक समय तक काम नहीं चलता । संबूरके जूते भी थोड़े दिनों तक काम देते हैं । फिर ऐसा समय आ जाता है कि गर्म कपड़ोंसे भी कुछ काम नहीं चलता—पैरोंमें गर्मी नहीं आती । इससे यह सिद्ध होता है कि कपड़े शरीरको गर्म नहीं करते, बल्कि शरीर कपड़ोंको गर्म रखता है और यदि आरम्भमें गर्म कपड़े ठंडसे कुछ रक्षा करते हैं तो उसका कारण यह है कि अवयवोंमें तबतक गर्मीकी कुछ मात्रा बनी होती है जो कि मौटे और गर्म कपड़ोंमें पहुँचकर ठहर जाती है । परन्तु इस प्रकारकी रक्षासे जो कि गर्म कपड़ोंसे प्राप्त होती है अधिक वचाव नहीं होता । जब त्वचाका उत्सर्जन और रक्तका संचार शनैः शनैः कम हो जाता है, तब गर्मसे गर्म बख भी कुछ काम नहीं देते ।

सिरकी दशा इससे बिलकुल ही भिन्न है । मस्तिष्कमें रक्तका संचार अधिक होनेके कारण वहाँ विजातीय द्रव्यका (जो कि उस ओर जाता है) इतना अधिक प्रतिरोध होता है जितना कि हाथ पैरोंमें कभी नहीं होता । इस कारण वहाँ रगड़ होने लगती है, जिससे गर्मी पैदा हो जाती है । इससे साफ़ मालूम होता है कि ठीक वही वस्तु जो हाथ-पैरोंको ठंडा करती है, पहले सिरमें गर्मी उत्पन्न करती है और फिर कुछ ही समय बाद अन्तर्हित हो जाती है । मुझे अपनी चिकि-

त्साके उन रोगियोंका भी स्मरण है जिनके सिर बिलकुल ठंडे रहने लगे थे। इस प्रकार इसकी भी एक अवधि है। जब कि विजातीय द्रव्य सिरमें बहुत अधिक मात्रामें पहुँच जाता है, तब वहाँ भी कोई प्रतिरोध नहीं होता और उसमें ठंड पैदा हो जाती है। इसका निर्णय केवल उन रोगियोंकी चिकित्सासे हो सकता है जो कि अच्छे हो गये हैं। यदि कोई रोगी अपने हाथ-पैरोंकी ठंड और सिरकी गर्मीको दूर करना चाहे, तो उसको उसी स्थानसे चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिए जहाँ कि उद्वेग आरम्भ हुआ है, अर्थात् पेड़से और पाचनक्रियाको भी अच्छी तरह ठीक करना चाहिए। ऐसा करनेसे हाथ-पैरोंमें गर्मी और सिरमें ठंड आ जायगी। जो सिर ठंडा हो चुका है, उसमें पहले गर्मी आवेगी और फिर शीतलता आकर साम्यस्थिति उत्पन्न कर देगी। इसका अनुभव हजारों रोगियोंपर हो चुका है और नये नये रोगियोंपर भी—जो चिकित्साके लिए प्रतिदिन आते हैं—यही बात ठीक उतरती है। मैं यह भी बता देना चाहता हूँ कि जिनके हाथ पैर सदैव ठंडे बने रहते हैं, उन लोगोंको वातव्याधिके विशेष आक्रमण (अर्थात् गठिया) से सावधान रहना चाहिए।

अब यहाँसे शरीरके टेढ़ेपनका निरूपण किया जायगा।

मेरे व्याख्यानसे आप यह भलीभाँति समझ गये होंगे कि व्याधियोंके समस्त भेदोंका—जिनका ऊपर वर्णन हो चुका है—आदि कारण एक ही है, तथापि आप यह देखकर चकित होंगे कि मैं सन्धिशोथ और वातव्याधिसे शरीरकी आकृतिमें परिवर्तन होना सिद्ध करूँगा। जैसे कि कन्धोंका ऊँचा होना, रीढ़की हड्डीका झुक जाना, अवयवोंका

१०७ वात-व्याधिका हेतु और चिकित्सा

सिकुड़ जाना, शरीरका टेढ़ापन आदि। इसके साथ ही मैं यह भी सिद्ध करूँगा कि इन सबकी उत्पत्तिका आदि कारण भी वही है जो कि दूसरी व्याधियोंका है, अर्थात् शरीरका विजातीय द्रव्यसे पूरित होना और शरीरके भिन्न भिन्न भागोंमें उसका इकट्ठा हो जाना। ये व्याधियाँ प्रायः एक साथ ही प्रकट होती हैं। अब यदि हम इनके कारणोंको पूछने लें, तो आप तुरन्त यह उत्तर देंगे कि “ये परिवर्तन विजातीय द्रव्यके संचित होनेसे हुए हैं। ये एक तरहसे गठियाके ही विस्तृत रूप हैं।” और आपका यह कथन यथार्थ है। परन्तु यह किस प्रकार संचित हुआ और क्योंकर शनैः शनैः एक विशिष्ट स्थानपर पहुँच गया, इसे मैं कुछ दृष्टान्तों द्वारा समझानेका प्रयत्न करूँगा। यह अनुभवसिद्ध बात है कि विजातीय द्रव्यको, शरीरमें मांसपिण्ड बनने और रूपान्तर प्राप्त करनेमें बड़ा समय लगता है। कभी कभी वर्षों गुजर जाते हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि किसी तीव्र व्याधिके उत्पन्न होनेसे शरीरमेंसे इतना अधिक विजातीय द्रव्य निकल जाता है कि परिवर्तन और मांसपिण्ड कुछ समयके लिए लुप्त हो जाते हैं और पहली परिस्थितिके बाद उस विरूपताके निर्माण होनेमें फिर वर्षों लग जाते हैं। इस प्रकारसे वह विजातीय द्रव्य जो कहीं शीतला, कहीं सन्निपातज्वर (Typhoid Fever) और कहीं डिफ्थीरिया आदि रोगोंको उत्पन्न करता है, वही इन विरूपताओं और वक्रताओंको भी पैदा कर देता है। इसका कारण यह होता है कि किसी तीव्र व्याधिके द्वारा दुर्द्रव्यको निकालनेके लिए शरीरमें यथेष्ट जीवन-शक्ति नहीं होती। विजातीय द्रव्य शरीरके प्रायः उन भागोंमें संचित हो जाता है जिनमें कि यह बहुत कम कष्टप्रद हो और उन भागोंसे सर्वथा अलग रहता है

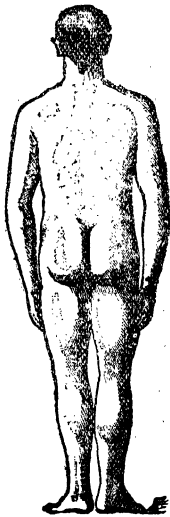
जहाँ कि सदैव संचलन आदि क्रियायें होती रहती हैं। अतएव जब कि ऐसे स्थानोंमें द्रव्य-संग्रह होता है, जो कि कोई आवश्यक अवयव नहीं हैं तब रोग भी कम कष्ट देता है। परन्तु शनैः शनैः बाह्य परिवर्तनोंके कारण उस ओर ध्यान जाता है और फिर यथासम्भव उस स्थितिका कारण ढूँढ़ा जाता है। अक्सर लोग यह दोष देने लगते हैं कि यह व्यक्ति अमुक कार्यमें ही लगा रहता है, या इसकी ऐसी आदत है, जैसे झुककर बैठना इत्यादि। इसमें सन्देह नहीं कि इन बातोंका भी कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है; परन्तु ये आदतें केवल मार्ग-निर्णय करनेमें सहायक हो सकती हैं। इसी कारण ये परिवर्तनके रूपपर प्रभाव डालती हैं। पूर्ण स्वस्थ मनुष्योंके मेरुदण्डमें वे चाहे थकान उत्तारनेके लिए कितनी ही देर तक क्यों न आराम करें और शरीरको श्रम मिटानेका अवकाश दें, झुककर बैठनेसे कदापि टेढ़ापन नहीं आ सकता।

प्रायः देखा जाता है कि गाँवके वे लोग जो दिन भर झुककर अपना काम किया करते हैं, जब खड़े होते हैं, तब एक सुन्दर सीधी सादी मूर्तिके समान दिख पड़ते हैं। यदि वे नीरोग न होते, तो उनके शरीरपर विजातीय द्रव्यका प्रभाव अवश्य पड़ता। अधिकांश मनुष्य अपनी बढ़ती हुई विरूपताको प्रारम्भमें दर्जीकी मददसे छिपानेका प्रयत्न करते हैं, परन्तु उनकी यह युक्ति अधिक समय तक नहीं चल सकती।

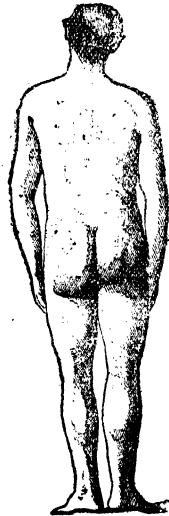
विरूपताओंके अनेक भेद हैं। ये व्यवसाय, स्वभाव, शयनस्थिति और अधिकतर स्वाभाविक चेष्टाओंसे उत्पन्न होती हैं। ऐसे दो मनुष्य

१०९. वात-व्याधिका हेतु और चिकित्सा

कदाचित् ही मिलेंगे जिनकी कि आकृति एक सी हो, तथापि कुछ आदर्शरूप आकृतियाँ पहिचानी जा सकती हैं जिनको कि मैं कुछ दृष्टान्तों-द्वारा नीचे दिखाऊँगा ।



चित्र क



चित्र ख

चित्र 'क' ऐसे मनुष्यका प्रदर्शक है जो कि बहुत कुछ साम्या-वस्थामें है। यह प्रत्यक्ष है कि उसके सब अङ्ग सुडौल हैं। न कोई बहुत छोटा है, न बहुत लम्बा, न कोई बहुत मोटा है और न कोई बहुत पतला।

चित्र 'ख' का दृश्य बिल्कुल भिन्न है। वामभागमें विरूपता साफ दिखाई देती है। एक नितम्ब (चूतड़) नीचे और ऊपर दोनों ओरको बढ़ा हुआ है। पहले नीचेकी बढ़ौतरी दिखाई देती है; क्योंकि विजातीय द्रव्य पेड़से चलता है और इस कारण परिवर्तनका आरम्भ इसी स्थानसे होता है। इसमें सन्देह नहीं कि कन्धेकी बढ़ौतरीसे यह दशा यहाँ पहले हो गई होगी। यदि रोगीके कुटुम्बियोंको यह नितम्बकी वृद्धि पहलेसे दिखाई दे जाती और इसके भयानक परिणाम मालूम होते, तो वे इसकी उपयुक्त चिकित्सा करनेमें कदापि विलम्ब न करते। परन्तु इस विषयमें किसीको दोष नहीं दिया जा सकता। क्योंकि अबतक जितनी चिकित्सा-विधियाँ निकली हैं, वे ऐसे रोगोंको शमन करनेमें तानिक भी समर्थ नहीं हुई हैं; बल्कि वे इनको व्याधि ही नहीं समझतीं। ऐसे रोगीको केवल विकलाङ्ग (Cripple) कहकर छोड़ दिया जाता है। बस, यहीं उसकी चिकित्साकी 'इतिश्री' हो जाती है। परन्तु यह विरूपता कैसे हुई है, इसका हेतु क्या है, इस ओर लोगोंका ध्यान कदाचित् ही जाता है। मेरी चिकित्सा-प्रणालीमें जब ऐसे रोगी आते हैं, तो वह और प्रणालियोंकी तरह हतोत्साह नहीं होती। उससे जो लाभ पहुँचते हैं उनसे इस शास्त्रकी सत्यता सिद्ध होती है। मेरे सिद्धान्तोंकी योजना

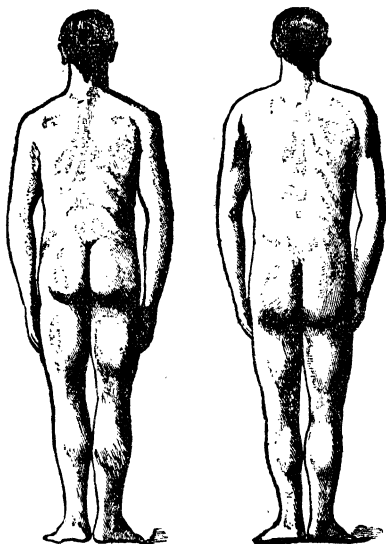
१११ वात-व्याधिका हेतु और चिकित्सा

क्रियाके साथ चलती है। जो सिद्धान्त स्थिर होता है, उसे करके भी दिखा दिया जाता है।

चित्र 'ख' में विजातीय द्रव्य शरीरके वामभागमें विशेष रूपसे इकट्ठा हुआ है और उसका फुलाव उसी तरह हुआ है जिस तरहकी रबड़की भीतवाली बोतलमें होता, जिसमें बाँई ओर उद्वेगवाला द्रव्य मौजूद था। द्रव्यको फैलनेके लिए स्थान चाहिए। रास्ता न मिलनेसे वह दीवालेंको फुला देता है। यदि उद्वेग पाया हुआ द्रव्य केवल वामभागमें ठहरा रहे, तो वह भाग असाधारण रूपसे फूल जायगा।

मेरे निदानकी प्रणाली (मुखाकृति-विज्ञान) से इस रोगका पता आरम्भमें ही आसानीसे लग जाता और दुर्द्रव्यके दूर करनेवाली मेरी चिकित्सा आरम्भ हो जाती। वीर्यौ नितम्ब बढ़नेसे वर्षों पहले ही गर्दनमें बाँई ओर दुर्द्रव्यका पता मालूम हो जाता। आगे जाकर वर्षोंमें जिस दुर्द्रव्यने नितम्बको फुलाया वह गर्दनमें पहलेसे मौजूद था। अब हमने रोगोंकी एकताका सिद्धान्त समझ लिया है। उससे हमें मालूम हुआ है कि यह विपमता उसी विजातीय द्रव्यसे उत्पन्न होती है, जिससे अवधिगत ज्वर (मियादी बुखार) और डिफ्थीरिया आदि अनेक भीषण रोग होते हैं। अब इसका रोकना और शरीरके टेढ़े-पनकी चिकित्सा करना हमारे लिए बहुत आसान है।

सज्जनों, आज आपने पहली बार यह सुना है कि शरीरमें कुबड़ापन तथा टेढ़ापन किस प्रकार उत्पन्न होता है। मैं आपको अन्य दृष्टान्तोंके द्वारा यह समझाऊँगा कि ये सब दशाएँ एक ही कारणसे होती हैं।



चित्र क

चित्र ग

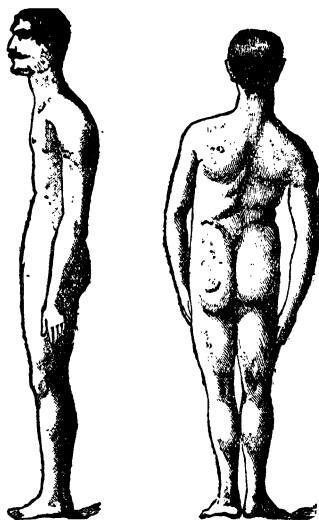
चित्र ' ग ' एक ऐसे शरीरका है, जिसमें दोनों चूतड़ बढ़ गये हैं। सम्भव है कि आरम्भमें आपके ध्यानमें यह कदाचित् ही आया हो कि इस शरीरके अङ्ग सुढौल नहीं हैं। परन्तु इसकी चित्र ' क ' के साथ तुलना करने पर यह तुरन्त विदित हो जाता है कि इसमें सारा कबन्ध (धड़) ही अधिक लम्बा है। कबन्धका निचला भाग विशेषकर लम्बा है, जिसके कारण टाँगें और गर्दन बहुत छोटी हो गई हैं।

११३ वात-व्याधिका हेतु और चिकित्सा

गर्दनका कुछ भाग कन्धोंमें छिप गया है। इस रोगीके नितम्बोंमें बिजातीय द्रव्यका भार केवल एक ही ओर संचित नहीं हुआ है, बल्कि सम्पूर्ण भागमें समान रूपसे बँटा हुआ है, अतएव दोनों नितम्ब दोनों ओरसे दुर्द्रव्यके द्वारा एकसे बढ़ गये हैं। इस अवस्थामें ऐसा भी होता है कि दुर्द्रव्य गर्दनके द्वारा सिरपर दबाव डालता है, जिससे साथ ही साथ सिरमें भी विरूपता आ जाती है, जैसा कि आपने बहुधा देखा होगा। मैं फिर आपको उस बोतलकी याद दिलाता हूँ, जिसपर हमने रबड़की टोपीकी कल्पना की थी। सिरमें बिल्कुल बोतलहीकी तरह परिवर्तन होता है।

कभी आप इसके विपरीत यह भी देखेंगे कि कहींपर टाँगें और बाँहें बहुत लम्बी हैं, पर धड़ उनकी अपेक्षा बहुत छोटा हो गया है। इसका भी कारण वही है। यहाँ दुर्द्रव्य आरम्भसे ही इन सिरके भागोंकी ओर चला गया है, इसलिए धड़ बढ़नेमें अनेक वर्षोंसे इन अङ्गोंका साथ न दे सका।

इस बातपर कोई मुश्किलसे विश्वास करेगा कि हम अपनी सुगम चिकित्साके द्वारा इन विकृतियोंको दूरकर शरीरको फिर सुडौल बना सकते हैं। किन्तु यह आवश्यक है कि उस लम्बी मन्द अवस्थाकी शुद्धिके लिए कुछ वर्षों तक धैर्यपूर्वक चिकित्सा की जाय। हाँ, शरीरकी अवस्था बहुत बिगड़ जाने और जीवनी-शक्तिके नष्ट हो जानेपर पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त करना असम्भव है।



चित्र घ

चित्र ङ

चित्र ' घ ' आजकलके मनुष्योंकी अवस्थाका द्योतक है । संचित द्रव्यने कमरको उभार दिया है, जिसके कारण वक्षःस्थलकी वृद्धि ठीक ठीक नहीं हो सकी है—वह बिल्कुल सपाट होकर रह गया है । ऐसा मालूम होता है कि कमरका उभार छातीके कुछ अंशसे निकलकर बना है । कमरका भार दूर होते ही छातीका भी विकास हो जायगा । इस रोगीके नितम्बोंमें भी पहले दीर्घकाल तक दुर्द्रव्यका

विशेष भार रहा है, अतः यह पता चलता है कि पैड़ या तो बहुत बड़ा है या बहुत सख्त हो गया है। कभी कभी यह भार बचपनमें ही आरम्भ हो जाता है, अथवा जन्मसे ही होता है। इसी लिए ४-५ वर्षके बालककी कमर गोल या उभरी हुई और सीना सपाट दिखाई देता है। उस अवस्थामें यह दोष बहुत शीघ्र और सहजहीमें दूर किया जा सकता है, क्योंकि इस चिकित्सासे जितना लाभ बालकको एक मासमें होता है, उतना लाभ वृद्ध मनुष्यको एक वर्षमें भी नहीं होता। कारण यह है कि युवावस्थामें जीवनी-शक्ति प्रखर होती है। यह पहले कहा जा चुका है कि इन विकारोंसे मनुष्य प्रारम्भमें ही किस प्रकार परिचित हो सकता है। यह बात केवल मेरे मुखाकृति-विज्ञानके साहाय्यसे ही जानी जा सकती है।

कभी कभी विजातीय द्रव्य एक बहुत ही उल्टा रास्ता पकड़ता है, अर्थात् वह एक ओरसे दूसरी ओर जाकर फिर पीछे लौट पड़ता है। इसका उदाहरण हमको चित्र 'ड' में मिलता है। इसमें विजातीय द्रव्य पहले विशेषकर बाँई ओर संचित हुआ, फिर मध्यभागमें जाकर किसी अवयवके आ जानेसे रुक गया, जिससे कि उसे दाहिनी ओरको फिर लौटना पड़ा। फिर उसने दूसरा रास्ता पकड़ लिया। आप वाम भागके नचि, ऊपर, दोनों ओरकी वृद्धिको साफ देख सकते हैं और साथ ही बीचमें दाहिनी ओर उसके झुकावको भी। मेरुदण्डमें भी कुछ टेढ़ापन है। यह परम्पराप्राप्त दोषके कारण हुआ है। यदि हम शरीरको सीधा करनेके लिए कन्धोंपर पड़ा बाँधें या और कोई युक्ति काममें लवें, तो उससे रोगीको कष्टके सिवा और कोई लाभ न होगा। वास्तवमें द्रव्यको स्थान न्नाहिण। पुष्टे इसका भली भाँति अनुभव हो

चुका है कि यदि टेढ़ी कमर अन्दरको दबाकर सीधी की जाय, तो द्रव्य छातीपर इकट्ठा हो जाता है । इस प्रकार पीछेसे द्रव्यको हटानेमें सफलता तो हुई, पर वह सामनेकी ओर आकर इकट्ठा हो गया । द्रव्यको जितने स्थानकी आवश्यकता है, उतना स्थान उससे छीना तो नहीं जा सकता, हाँ, उसमें परिवर्तन किया जा सकता है ।



च

चित्र ' च ' में हम एक ऐसे मनुष्यको देखते हैं, जिसकी कमरके बीचमें विजातीय द्रव्यने अपना स्थान बनाकर उसके शरीरको बिल्कुल झुका दिया है । इस प्रकारके द्रव्य-संचयकी अवस्था बहुत कम देखी जाती है; क्योंकि द्रव्य स्वभावसे ही अधिकतर अन्त्यभागोंकी ओर जाता है । इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए मैं आगे चलकर

११७ वात-व्याधिका हेतु और चिकित्सा

अपना एक अनुभव और विचित्र उदाहरण दूँगा, जिसे कि चित्र 'छ' और 'ज' में दिखाया गया है।

इस प्रसंगमें आपका ध्यान बेचारे उन कुबड़ोंकी ओर जायगा, जो कि इस विकृतिके कारण विरूपताके साथ कष्ट भी भोग रहे हैं। कभी कभी हमको उनकी कमर बिल्कुल टेढ़ी दिखाई देती है। इसका कारण पितृपरम्परासे प्राप्त विजातीय द्रव्य है। विभिन्न प्रकारकी व्याधियोंका निरूपण करनेके पहले मैं विरूपताके एक विशेष भेदका वर्णन करता हूँ।

कभी कभी विजातीय द्रव्य गर्दनके मार्गसे चलकर सिरमें इकट्ठा हो जाता है। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि इससे सिरमें ठंडापन कैसे हो जाता है। बालकोंका सिर इससे सहज ही फैलकर बड़ा हो जाता है। इस प्रकार सिरका बड़ा हो जाना किसी दीर्घकालसे चली आनेवाली मन्द व्याधिका लक्षण है। सिरका यह विस्तार जन्म-कालसे पहले ही हो जाता है। इसका फल यह होता है कि प्रसवके समय माताको बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है। इस बातको प्रायः सब जानते हैं कि ऐसे बालक बहुत कम जीते हैं। आज आपको इस बातका वह कारण बतलाया गया है जिसको कि आपने इससे पहले कदाचित् ही सुना होगा। इस भारके होनेका कारण मैं आपको रबड़की टोपी चढ़ी हुई बोतलके दृष्टान्त द्वारा पहले ही समझा चुका हूँ।

मेरे कथनकी वास्तविकता केवल उन चिकित्साओंके द्वारा प्रमाणित हो सकती है, जो मेरे सिद्धान्तके अनुसार की गई हैं। अबतक मेरी चिकित्सासे इस रोगमें भी अनेक लोग लाभ उठा चुके हैं। चिकित्सा-क्रम इनमें भी वही रहा है, जिसका वर्णन पूर्वोक्त व्याधियोंके प्रसङ्गमें किया जा चुका है। यह सुनकर आप चकित होंगे कि मैं कुबड़को भी

उसी चिकित्सासे दूर करता हूँ जिससे कि ख़ाँसी और जुक़ामको । आप ही बताइए, जब सब व्याधियोंका कारण एक ही है, तो चिकित्सा दूसरी क्योंकर हो सकती है ? परीक्षासे यह सिद्ध हो चुका है कि मेरा कथन यथार्थ है । मेरी चिकित्सासे—यदि वह दृढ़तासे की जाय—तो रोगके सब लक्षण जाते रहते हैं । परन्तु शर्त यह है कि शरीरमें जीवनी-शक्ति काफ़ी हो और रगोंका सिलसिला टूटा न हो, जिससे आरोग्यकी क्रियाको मार्ग मिलता है । मैं अपनी बातको फिर पुष्ट करता हुआ कहता हूँ कि “ सब व्याधियाँ दूर हो सकती हैं, परन्तु सब रोगी आराम नहीं हो सकते । ”

अब मैं आपको उन चिकित्साओंका वृत्तान्त सुनाता हूँ, जो मेरे चिकित्सालयमें हुई हैं---

सन् १८८९ ई० में एक महिला अपने १३ वर्षके पुत्रको बच्चा-गाड़ीमें बिठाकर मेरे पास लाई । वह बालक मेरुदण्डकी पीड़ाके साथ वक्रतासे भी ग्रस्त था, जैसा कि चित्र ‘ छ ’ में दिखाई दे रहा है । उसके कूबड़ निकल आया था और वह दो लकड़ियोंके सहारे बड़ी मुश्किलसे चल सकता था । अधिकतर गाड़ीमें बिठाकर ही उसे चलाया फिराया जाता था । मैंने उसकी मातासे पूछा कि अबतक उसकी क्या क्या चिकित्सा हो चुकी है ? उसने कहा कि—“ दो वर्षसे अधिक समय हुआ जबसे यह रोग इतना कष्ट देने लगा कि हमें डाक्टरकी शरण लेनी पड़ी । एक सुप्रसिद्ध डाक्टरने जो कि लिपजिग नगरमें प्रोफेसर हैं, लड़केके नस्तर लगाया और उसे Extension bed, Steel Splints आदि यन्त्रोंके द्वारा जकड़कर बहुत कष्ट दिया, परन्तु लाभ कुछ भी न हुआ । जब एल्युपैथी चिकित्सासे कुछ लाभ न हुआ, तब कुछ घरेलू औषधियाँ भी दी गईं । अब आपके पास आई

११९ बात-व्याधिका हेतु और चिकित्सा

हूँ । ” मैंने उसको समझाया कि इसकी कमरमें दूषित द्रव्य संचित हो गया है और इस रोगके दूर करनेका एक मात्र उपाय यही है कि उस द्रव्यको बाहर निकाल दिया जाय । वह मेरा अभिप्राय समझ गई और उसी दिनसे उसने चिकित्सा आरम्भ कर दी । उस लड़केको प्रति-दिन आध आध घंटेके तीन मेहन-स्नान दिये गये । पथ्यमें सादा और सात्विक आहार दिया गया ; मैंने यह अनुरोध किया कि इस लड़केको यथासम्भव नगरके बाहर मैदानकी खुली हवामें रक्खा जाय । उसके शरीरमेंसे विजातीय द्रव्य अत्यन्त शीघ्रतासे निकलने लगा, जिससे चिकित्साका फल आश्चर्यजनक प्राप्त हुआ । एक सप्ताहके बाद उसे गाड़ीकी आवश्यकता न रही और वह अपनी लकड़ियोंके सहारे अच्छी



चित्र छ



चित्र ज

तरह चलने लगा। फिर पन्द्रह दिनके बाद उनकी भी आवश्यकता न रही। शरीर बिल्कुल सीधा हो गया और दो सप्ताहके बाद तो वह स्कूल जाने योग्य हो गया, जिसको कि उसने मुद्दतसे मजबूर होकर छोड़ दिया था। उसने यह चिकित्सा कोई ६ महीने तक की। इससे उसका शरीर बिल्कुल सीधा हो गया, जैसा कि चित्र 'ज' से प्रकट है।

अब यदि मैं यह कहूँ कि यह विजातीय द्रव्य—जिसने यहाँ कूबड़ निकाल दिया था—वही है, जो दूसरे मनुष्योंमें शीतल, रक्तज्वर, डिफ्थीरिया आदि रोगोंको उत्पन्न करता है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि इस विकारके निकालनेकी चिकित्सा भी एक ही होनी चाहिए। यह बात मैंने उस लड़केके माता-पिताको उक्त रोगमें सिद्ध करके दिखा दी।

जिस दिन यह लड़का मेरे पास आया था, उसी दिन एक स्त्री—जिसके मासिक धर्मके समय अधिक रक्त जाता था और एक नौ वर्षकी लड़की जो कि खुजलीसे बुरी तरह कष्ट पा रही थी—मेरे पास आईं। ये दोनों रोगी सब प्रकारकी चिकित्सायें करके निराश हो चुके थे। इनकी भी वही चिकित्सा की गई, जो लड़केकी की गई थी। यद्यपि व्यक्तिगत भेदके कारण चिकित्सा-क्रममें कुछ परिवर्तन किया गया, किन्तु उसी चिकित्सासे तीनोंको आरोग्य प्राप्त हो गया। यह तभी सम्भव हुआ, जब तीनों व्याधियोंका कारण एक था। इसलिए समस्त व्याधियोंके कारणका एकत्व सिद्ध है।

एक दूसरा रोगी—जिसकी अवस्था ५० वर्ष की थी—चार वर्ष तक मेरी चिकित्सा करता रहा, जिससे उसके धड़ और टाँगोंका पारस्परिक सम्बन्ध फिरसे ठीक हो गया। उसका धड़ बहुत बढ़ गया था, और गर्दन तथा टाँगें बहुत छोटी हो गई थीं। चिकित्सा करते समय

उसने देखा कि पाजामा छोटा होता जा रहा है और कोट कन्धोंपरसे ढीला हो रहा है। इस तरह जबतक शरीर सुडौल न हुआ, तबतक उसे अपने कपड़े दर्जकी पास अनेक बार भेजने पड़े।

मैं समझता हूँ कि इन सब बातोंको सुनकर रोगोंकी एकताका सिद्धान्त, अर्थात् उनके कारणका एक होना, आपकी समझमें भली भाँति आ गया होगा। आपको मेरी चिकित्साके द्वारा इसका प्रमाण प्रतिदिन मिल सकता है।

इस विषयको समाप्त करनेसे पहले मैं आपको यह भी दिखा देना चाहता हूँ कि मेरा 'मुखाकृति-विज्ञान' निदानोंकी अन्य रीतियोंसे कितना श्रेष्ठ है।

अधिकांश रोगी चिकित्सा-पद्धतियोंसे निराश और विफल होकर ही मेरे पास आते हैं। इस कारण मुझे डाक्टरोंके निदानका इतना परिचय हो गया है जिसका कि किसीको ध्यान भी न होगा। एक बार एक लम्बे तड़ंगे मनुष्यने—जो कि लोगोंकी दृष्टिमें स्वास्थ्यका नमूना था—आकर कहा कि मुझसे काम बिल्कुल नहीं होता है। जिन जिन डाक्टरोंसे उसने परामर्श किया था, उन्होंने बहुत ही ध्यान देकर उसकी परीक्षा की थी; अर्थात् उसके अङ्गोंको दबाकर टटोलकर और उसकी दशा देख-सुनकर यह निश्चय किया था कि वह बिल्कुल नीरोग है और उसके भीतर रोगका कोई चिह्न नहीं है, उसे व्याधिका भ्रम ही हो गया है। इस लिए यदि वह देशाटन करके अपना मन बहलाने, तो सब शिकायत जाती रहेगी। उसने उनका कहना मानकर वैसा ही किया, परन्तु लाभ कुछ भी न हुआ। आखिर वह मेरे पास आया। मैंने उसके सिर और गर्दनकी परीक्षा की। गर्दनको दौरे-बाँये घुमाकर देखा। मुझे विदित हुआ कि उसका शरीर विजातीय द्रव्यसे खूब

भरा हुआ है और उसके सारे ही शरीरपर उसका भार है। मैंने उसको अपनी चिकित्साका सामान्य प्रयोग बता दिया। कुछ समय बाद उसने मुझे लिखा—“छह सप्ताहमें मेरे शरीरमेंसे इतना विजातीय द्रव्य निकल गया है कि अब मैं सारे दिन अच्छी तरह काम कर सकता हूँ।” अब आप देख सकते हैं कि कौनसा निदान अधिक उपयोगी है। जिनको लोंग स्वास्थ्यकी मूर्ति कहते हैं, वे अपनेको रोगी समझते हैं और चिकित्सा कराने आते हैं। वे डाक्टरोंके पास प्रायः इसलिए नहीं जाना चाहते हैं कि उनकी व्याधियोंको केवल भ्रम बताया जायगा। इन अवस्थाओंको देखकर ही मुझे यह पता लगा है कि डाक्टरों निदान-विधि कितनी अपूर्ण है।

दूसरा दृष्टान्त सुनिए—एक १८ सालकी लड़की जिसको क्लोरोसिस था, मेरे पास आई। उससे डाक्टरोंने कहा था कि तुम्हें कुछ क्लोरोसिस रोग है और वैसे तुम पूर्ण आरोग्य हो। इसके लिए तुमको लोह-सेवन करना बहुत हितकर होगा। तदनुसार उसने लोहका सेवन किया, किन्तु उससे रक्तकी दशा कुछ भी न सुधरी। मैंने सोचा कि यह कदापि सम्भव नहीं हो सकता कि एक व्यक्ति क्लोरोसिससे भी पीड़ित हो और पूर्ण स्वस्थ भी हो। मैंने मुखाकृति-विज्ञानसे जान लिया कि उसके शरीरमें विजातीय द्रव्यका भार काफी मौजूद है। रक्तवाहिनी सूक्ष्म नाड़ियाँ—जिनके द्वारा रक्त त्वचातक आता है—मुँद गई हैं, इसलिए रक्त बाहरी त्वचातक यथेष्ट परिणाममें नहीं आता है। इसी कारण उसकी त्वचा पीली और मुझाई हुई दिखाई देती थी। इस व्याधिका कारण भी वही था—उसका पाचन बहुत दिनोंसे बिगड़ा हुआ था, जिसको कि रोगिणीने भी स्वीकार किया। इस विषयमें मैं यह भी कहूँगा कि दुर्भाग्यसे आजकल अधिकांश मनुष्य यह भी नहीं जानते

कि शुद्ध पाचनका वास्तविक रूप क्या है। अतः उसके महत्त्वपर भी लोगोंकी बहुत कम दृष्टि जाती है। मेरे अनुभवमें यह बात प्रतिदिन ही आ रही है। मैंने इस लड़कीको भी वही चिकित्सा बताई, जो कि पहले रोगीको बताई थी। कुछ ही महीनोंमें उसका विकार जाता रहा और उसकी सूरत बिल्कुल बदल गई। इससे यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि डाक्टर निदान इस रोगिणीकी वास्तविक दशा जाननेमें बिल्कुल असफल हुआ। क्योंकि क्लोरोसिस तो व्याधिका केवल बाहरी स्वरूप था और वह व्याधि विजातीय द्रव्यसे उत्पन्न हुई थी। विजातीय द्रव्य शरीरमें पाचन-शक्तिके विगाड़से उत्पन्न हुआ था। मैंने यह निदान रोगिणीकी गर्दन और सिरकी परीक्षासे ही किया था, जिसको कि डाक्टर लोग कुछ भी न समझ सके थे।

तीसरा दृष्टान्त यह है कि मैंने एक स्त्रीको देखा, जिसे कब्जकी भारी शिकायत थी। उसको किसी भी ओपधिसे लाभ न हुआ था, और उसके चिकित्सकने यह कह दिया था कि तुम इसकी कुछ चिन्ता न करो; क्योंकि कब्ज तो पूर्ण स्वस्थ मनुष्यके भी रहता है और स्वयं ही दूर हो जाता है। परन्तु मैंने परीक्षा करके देखा तो माझम हुआ कि वह विजातीय द्रव्यसे भरी हुई थी, जिससे उसके पेटमें ज्वरकी मन्द दशा अधिक परिमाणमें मौजूद थी और जिसने आँतोंके श्लेष्माको सुखा डाला था, इसीलिए मल सूखकर कड़ा हो जाता था। मैंने उसकी चिकित्सा प्रारम्भ की। बहुत थोड़े समयमें कुछ ही स्नानोंके बाद उसकी भीतरी गर्मी बाहर निकल आई और कोष्ठ शुद्ध हो गया। यहाँपर भी आप डाक्टर निदानकी अपूर्णताको भलीभाँति समझ सकते हैं। मैं यह गर्भके साथ कह सकता हूँ कि इससे अधिक हानिकार और कोई भूल नहीं है कि मनुष्य पूर्ण स्वस्थ भी हो और उसके कोष्ठ-

बढ़ता भी रहे। रोगके प्रसंगमें ऐसा विचार करना सबे मार्गसे बहुत दूर हट जाना है। इसकी तुलना वास्तवमें ऐसे बालककी बुद्धिसे की जा सकती है जो केवल किसी बाह्य वस्तुको तो देखता है, परन्तु उसके मर्मको नहीं जान सकता। मेरा तो यह सिद्धान्त है कि पाचन-शक्तिकी कमजोरी ही सम्पूर्ण व्याधियोंकी जड़ है।

एक बार मुझसे एक विद्वान् डाक्टरने कहा कि अक्सर मैंने लार्शे चीरते समय यह विचार किया है कि यह रोगी इसी रोगमें क्यों मरा, किसी दूसरे रोगमें क्यों नहीं। उसके शरीरके सब भाग और भीतरके सब अवयव बिल्कुल अच्छी हालतमें थे और रोगका कोई भी चिह्न उनमें न था। मैंने कहा—“हमारे और आपके निदानमें अन्तर यह है कि डाक्टरी शिक्षा तो विशेषकर शवच्छेदके द्वारा प्राप्त की जाती है और मैं जीवित शरीरोंमें जो प्रक्रिया होती है उसपर विशेष ध्यान देता हूँ तथा उसके कारण और रुकावटपर विचार करता हूँ। मुझे शरीरोंकी विवेचना मेरे लिए बिल्कुल बेकार है।” अपने भावको स्पष्ट करनेके लिए मैंने यह दृष्टान्त सुनाया—

एक मनुष्य सीनेकी कल खरीदने जाता है और वह किसी दूकानसे सबसे अच्छी कल छाँट लेता है। उस कलमें उसे प्रत्यक्षमें तो कोई विकार दिखाई नहीं पड़ता; क्योंकि उसकी बनावट सब तरहसे अच्छी मालूम होती है, किन्तु उसका कोई मित्र कहता है कि यह कल जब तक चलती नहीं है तभी तक बहुत अच्छी मालूम होती है, जब चलाई जायगी तब इसका दोष प्रकट होगा। चलनेपर यदि ऐसा कोई दोष निकल आता है जो कि उसके बन्द रहनेपर विदित नहीं होता, तो वह मैशीन बेकार और निकम्मी समझी जाती है। इस लिए मैशीनको पहले ही चलाकर देख लेना चाहिए। यही

१२५ वात-व्याधिका हेतु और चिकित्सा

दशा मनुष्यके शरीरकी है। निष्क्रिय अर्थात् मृतावस्थामें यह कहना असम्भव है कि वास्तवमें इसमें क्या दोष था। जीवित कालमें प्रत्येक क्रिया प्रत्यक्ष दिखाई देती है, इस लिए जो मनुष्य इन विक्रियाओंको अर्थात् रोग, उसके बाह्यस्वरूप और लक्षणोंको जानना चाहता है, वह लशोंकी चीर-फाड़ करके अपनी इच्छाको पूरा नहीं कर सकता। वह तो जीवित शरीरोंको देखकर ही उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मेरे मुखाकृति-विज्ञानका यही आधार है।

रोगोंके स्वरूपोंकी एकताको सिद्ध करनेके बाद मैं इतना और कहूँगा कि डाक्टरोंके निदानकी प्रचलित प्रणाली, अर्थात् रोगोंके नाम और उनके अधिष्ठान आदिकी परीक्षा करना बिल्कुल व्यर्थ है; क्योंकि जहाँ तक आरोग्यसे सम्बन्ध है वह बिल्कुल बेकार है। बल्कि इससे सहज ही गड़बड़ होनेकी सम्भावना है। प्रश्न केवल यह है कि शरीर रोगी है या नरोग, अर्थात् उसमें विजातीय द्रव्य है या नहीं और वह किस तरहसे और कितने कालसे शरीरमें आया है? इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि उसकी चिकित्सामें कितना समय लगेगा। क्योंकि ज्यों ही हम यह जान लेते हैं कि शरीर रोगी है त्यों ही यह भी जान जाते हैं कि रोग-निवृत्तिके लिए क्या उपाय करना चाहिए, जिससे कि आरम्भसे ही किसी भूल-चूकके होनेकी आशङ्का न रहे।



मेरा चिकित्सा-तन्त्र



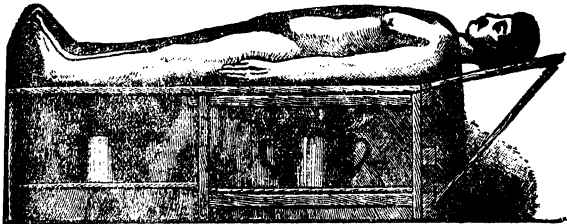
वाष्प-स्नान, आतप-स्नान, उदर-स्नान और मेहन-स्नान

अनेक प्रकारके रोग—जिनसे मनुष्य-समाजका एक बड़ा भाग पीड़ित है—और उनके कारण, इन दोनोंको तो हमने जान लिया, अब उन्हें दूर करनेके लिए उनकी चिकित्साकी ओर हमारी वृत्ति स्वभावतः चलती है। जब कि सब व्याधियोंका मूल कारण एक सिद्ध हो चुका है, तब उनकी चिकित्सा भी एक ही होनी चाहिए।

सबसे प्रथम वाष्प-स्नानका उल्लेख किया जाता है, जिसका प्रयोग कई प्रकारसे किया जा सकता है। वाष्प-स्नान सबसे अधिक प्रामाणिक विधि है, जिससे त्वचा अपना काम ठीक तौरपर करने लगती है। त्वचाका ठीक तरहसे काम करते रहना उन मनुष्योंके लिए नितान्त आवश्यक है जो अपने स्वास्थ्यकी रक्षा करना चाहते हैं अथवा जो खोये हुए स्वास्थ्यको फिरसे प्राप्त करना चाहते हैं।

सर्वाङ्ग वाष्प-स्नान—बहुत दिनों तक मैं यह उद्योग करता रहा कि कोई ऐसा सरल और उपयोगी यन्त्र निकाऊँ, जो घर-गिरिस्तीमें काम दे और जिससे उग्र रोगमें भी काम लिया जा सके। अन्तमें मैंने अपना एक टूटका कौंच तैयार कर लिया। यह यन्त्र जब तोड़कर रखा जाता है, तब एक साधारण कुर्सीसे अधिक स्थान नहीं घेरता और फिर उसको प्रत्येक मनुष्य जोड़ सकता है।

इस यन्त्रका व्यवहार करते समय एक बड़े कम्बलकी, कुछ डेग-चियोंकी और एक टबकी आवश्यकता होती है। इस यन्त्रसे एक विशेष लाभ यह है कि इसके द्वारा आवश्यकतानुसार समस्त शरीरको अथवा भिन्न भिन्न अङ्गोंको भाप दी जा सकती है।



चित्र क

चित्र 'क' में दिखलाई विधिसे यन्त्रको लगा लिया जाय, तीन चार डेगचियाँ पानीसे भरकर आगपर खोलनेको रख दी जायँ, अथवा मेरे बनाये हुए पात्रोंको जिनमें स्प्रिट-लैम्प होता है व्यवहारमें लाया जाय। सर्वाङ्ग वाष्प-स्नान अर्थात् सब शरीरको भाप देनेके लिए तीन डेगचियाँ काफी हैं, और कुछ न चाहिए।

सुविधाके लिए यह अच्छा है कि बर्तनोंको पूरा न भरा जाय।

जब पानी खौलने लगे, तब रोगीको बिल्कुल नंगा करके कौंचपर चित्त लिटा देना चाहिए। फिर उसको कम्बलसे इस तरह ढका देना चाहिए कि वह कम्बल दोनों ओर इतना लटकता रहे कि भाप बाहर न निकल सके। आरम्भमें सिरको भी कम्बलसे ढक देना चाहिए। फिर दूसरा मनुष्य कम्बलको उठाकर डेगचियोंको रोगीके नीचे रख दे

और उनके ढकने रोगीसे पूछकर उसकी इच्छानुसार गर्मीको न्यूनाधिक मात्राके मुताबिक खोल दे । जवान मनुष्योंके लिए दो तीन पात्र होने चाहिए; किन्तु बालकोंके लिए एक ही पात्र काफी है । एक फालतू पात्र अँगीठापर चढ़ा रहना चाहिए । पहले पात्रको (बालकोंके लिए केवल यही एक पात्र होना चाहिए) प्रथम खानेमें रोगीकी कमरके त्रिकस्थानक नीचे रखे, दूसरेको पैरोंके नीचे और तीसरेको यदि आवश्यकता हो तो पहले पात्रसे कुछ ऊपर कमरके नीचे रख दे ।

कोई १० मिनट बाद जब भाप कम हो जाय, तब तुरन्त अँगीठा परसे फालतू पात्रको उठाकर पहले पात्रके स्थानमें रख दे और उस वाष्परहित पात्रको फिर अँगीठापर चढ़ा दे ।

कोई १०-१५ मिनट बाद रोगीको करबट बदल लेनी चाहिए, जिससे भाप वक्षःस्थल और पेटपर भलीभाँति लग सके । रोगीको यदि अबतक पसीना न आया होगा, तो अब अच्छी तरहसे आ जायगा । सिर और पाँशोंमें भी एकदम पसीना आ जायगा । बालकोंको भाप देते समय प्रायः पात्र बदलनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती । जिन मनुष्योंको पसीना कठिनतासे आता है उनको चाहिए कि अपन^१ सिर ढका रखें । ऐसा करना उतना बुरा न मादूम होगा, जितना आरम्भमें मादूम होता है ।

इच्छानुसार १५ से ३० मिनट तक पसीना निकलने देना चाहिए और पात्रोंकी लैट-बदली भी इच्छानुसार करते रहना चाहिए । शरीरके उन भागोंमें जिनमें कि उद्वेगजन्य द्रव्य अधिक भरा होता है, पसीना कठिनतासे आता है । किन्तु रोगीको स्वतः यह इच्छा होती है कि वहाँ ज्यादा गर्मी पहुँचाकर पसीना लया जाय । उसकी यह अभिलाषा

अवश्य पूरी करनी चाहिए। क्योंकि वाष्प-स्नानके द्वारा आरोग्य-लाभ होनेकी यही तो युक्ति है।

उन मनुष्योंको—जो कि कमजोर हैं या सख्त बीमार हैं—विशेष-कर स्नायुविकारवाले रोगियोंको कदापि भाप नहीं देनी चाहिए। ऐसे रोगियोंको आतप-स्नानके साथ मेहन और उदर-स्नानोंसे ही आरोग्यलाभ हो सकता है। क्योंकि इन क्रियाओंसे भी दुर्द्वय निकल जाता है। जिन मनुष्योंको स्वभावतः पसीना अधिक आता हो, वे अवस्था-विशेषमें वाष्प-स्नानको छोड़ भी सकते हैं। एक सप्ताहमें दो-से अधिक वाष्प-स्नान तभी लेने चाहिए जब कि उनका विशेषरूपसे विधान किया जाय।

वाष्प-स्नानके बाद एक उदर-स्नान 60° से 61° फ़ैरन हाइट जलमें लिया जाय, जिससे शरीर ठंडा हो जाय। उदर-स्नानकी विधि पृष्ठ १३८ पर स्पष्टरूपसे बताई गई है और उसे चित्र 'घ' में दिखाया गया है। परन्तु स्नानके आदि या अन्तमें पेड़के अतिरिक्त अन्यान्य भागों (छाती, बाँह, टाँग, पैर, सिर और गर्दन आदि) को भी तत्काल धो डालना चाहिए, जिससे वे भी साफ और ठंडे हो जायँ। शरीर जितना अधिक गर्म होगा, ठंड उतनी ही कम लगेगी। पसीना आनेपर उत्तेजना नहीं होती है, केवल त्वचा अधिक गर्म हो जाती है। इस विधिसे डरनेका कोई कारण नहीं है। जैसे लोहेको तपाकर खूब लाल किया जाता है, और स्वाभाविक स्थितिमें लानेके लिए ठंडे पानीमें डुबाया जाता है और इससे वह लचीला तथा कड़ा बनता है, उसी

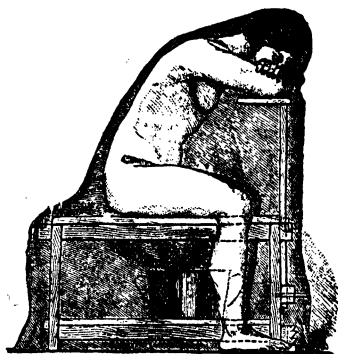
प्रकार मानव-शरीर भी वाष्प-स्नानके बाद शीतोपचारसे मजबूत और सहनशील होता है ।

उदर-स्नानके बाद यह नितान्त आवश्यक है कि नहाने-वालेको फिर गर्मी पहुँचाई जाय, जिससे थोड़ा बहुत पसीना आ जाय । हृष्टपुष्ट मनुष्य शरीरमें गर्मी लानेके लिए मैदानकी धूपमें व्यायाम कर सकते हैं । किन्तु निर्बल मनुष्योंको शीतोपचारके बाद अच्छी तरहसे बख ओढ़कर पलंगपर लेट जाना चाहिए । हवा आनेके लिए कमरेकी खिड़कियाँ कुछ खुली रहें । ऐसे लोगोंको भापका स्नान बहुत सावधानीसे लेना चाहिए ।

जब पानी २१२° फ़ैरन हाइटपर पहुँचता है, तब उसमें भाप पैदा हो जाती है । साधारण पात्रोंमें भी वैसी ही भाप बनती है जैसी कि वायलोंमें । केवल वाष्पके परिमाणमें अन्तर रहता है । परीक्षासे यह सिद्ध हो सकता है कि मामूली पात्र भी काम चलानेके लिए पर्याप्त होते हैं ।

जहाँ न तो मेरा आविष्कृत यन्त्र मिल सके और न बेंतकी बुनी हुई बेंच ही हो, वहाँ मामूली बेंतकी बुनी हुई कुर्सीसे भी काम लिया जा सकता है । रोगी उसपर कम्बल ओढ़कर बैठ जाय और कुर्सीके नीचे खौलते हुए पानीकी डेगची रख ले । दूसरी डेगची पैरोंके नीचे रखकर उस-पर पैर टेकनेके लिए लकड़ीके दो डंडे रख लिये जायँ ।

मैं पहले कह चुका हूँ कि मेरे वाष्प-स्नानके यन्त्रसे एक बड़ा भारी लाभ यह है शरीरके किसी विशेष भागको भी उसके द्वारा भाप दी जा सकती है ।

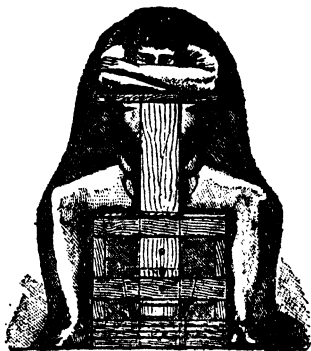


चित्र ख

पेड़को भाप—यह वाष्प-क्रिया पेड़की तीव्र व्याधियोंमें तथा क्लोरोसिस, मासिक धर्म और स्त्रियोंकी अन्यान्य व्याधियोंमें बहुत उपकार करती है ।

इसकी विधि चित्र ख से स्पष्ट प्रतीत हो जाती है । एक समयमें केवल एक पात्र व्यवहार करना चाहिए और उसको रोगीकी इच्छानुसार बदल देना चाहिए । इससे शरीरके अन्य भाग भी गर्म हो जाते हैं, इस लिए भाप लेनेके बाद तुरन्त सारे पेड़को ठंडा करना चाहिए । वास्तवमें दोनों अवस्थाओंमें समस्त क्रियाएँ एक समान होती हैं । बहुतसे रोगोंमें विशेषकर स्त्रियोंके रोगोंमें वाष्प-स्नानके बाद मेहन-स्नान लेना हितकर है । यह स्नान अथवा उदर-स्नान तबतक लेना चाहिए जब तक ठंड न लगने लगे ।

यदि इन वाष्प-स्नानोंको सावधानतासे लिया जाय, तो इनसे बहुत आश्चर्यजनक फल निकलता है ।



चित्र ग

सिर तथा गर्दनको भाप देनेकी विधि चित्र ' ग ' में दिखलाई गई है । इसमें पात्रको बेंचपर रक्खा जाता है और सिर तथा गर्दनको तबतक भाप दी जाती है जबतक कि उनमेंसे खूब पसीना नहीं निकलने लगता । पसीना आते ही कोई भी पीड़ा हो, दूर हो जाती है । इसका विलक्षण प्रभाव दाँतोंके दर्दमें खास तौरसे दिखाई देता है । यदि सिर और छाती गर्म हो गये हों, तो उनको तुरन्त ठंडे पानीसे धोकर उदर-स्नान या मेहन-स्नान लेना चाहिए । यदि कुछ समयके बाद दर्द फिर होने लगे, तो समस्त शरीरको और गर्दनको स्थानिक भाप बारी बारीसे दी जाय । पूरे शरीरको भाप देते समय यह ध्यान रहे कि पैरोंको अच्छे प्रकारसे भाप लग जाय ।

ये स्थानिक भाँपें बड़ी उपयोगी होती हैं और पीड़ाको तत्काल दूर कर देती हैं। आँख, नाक, कान, और गलेकी पीड़ा, विशेषकर दँतोंकी पीड़ा, जख्म और अदृष्ट फोड़े, इन रोगोंमें इस क्रियासे तुरन्त लाभ होता है।

स्थानिक वाष्पका प्रयोग मेरे यन्त्रके बिना भी भली भाँति किया जा सकता है। बेतकी साधारण कुर्सीपर बैठकर पेडूको भाप दी जा सकती है। (सिरको किसी भी बेंचपर दी जा सकती है, यहाँतक कि फर्श-पर भी।) जहाँ बैठे भापके पात्रको वहीं रख ले और हाथ टेकनेके लिए चाहे जो चीज सामने रख ले। बस, इस प्रकार भाप लेनेका काम चलाया जा सकता है।

आतप-स्नान (धूप-स्नान)—यह स्नान ऐसे दिन लिया जा सकता है जब कि धूप और गर्मी खूब हो। इसकी रीति यह है कि रोगी किसी चटाई या ऊनी कम्बलको बिछाकर ऐसी जगह लेटे जहाँ वायु न लग सके। हल्के वस्त्र पहने, जूते और जुर्राबोंको उतार दे। स्त्रियोंको भी चोली आदि तंग, विशेषकर अँगरेजी ढाँगके बने, वस्त्र न पहनने चाहिए। सिर और मुखको सूर्यकी किरणोंसे बचाये रखना चाहिए। इसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि एक बड़ेसे कंले या और किसी वृक्षके हरे पत्तेसे मुँह ढक ले। इसी प्रकार नंगे पेडूपर भी हरे पत्ते रखकर उसकी धूपसे रक्षा करनी चाहिए। यदि पत्ते न मिलें, तो भीगा कपड़ा ढाल लेना उचित है।

आतप-स्नान आधे घंटेसे डेढ़ घंटे तक लेना चाहिए। जिनके सहजमें पसीना न आता हो, वे यदि घबरायें नहीं, तो इससे भी अधिक

देर तक ले सकते हैं। जब बहुत ज्यादा गर्मी हो, तब यह स्नान बहुत देर तक न लेना चाहिए।

जिन लोगोंको आतप-स्नानसे सिरमें दर्द या व्याकुलता होने लगती है, उनको आरम्भमें थोड़ी ही देरतक इसे लेना चाहिए। यह बात विशेषकर उन लोगोंमें होती है, जिनको पसीना या तो बिल्कुल नहीं आता या बहुत कम आता है।

आतप-स्नानके बाद शीतोपचारके लिए उदर-स्नान या मेहन-स्नान लेना चाहिए, जिससे वह दूषित द्रव्य जो कि ढीला पड़ गया है निकल जाय। जिन रोगियोंको शीतोपचारके बाद गर्मी सहजमें नहीं आती, उनको सिर बचाकर फिर धूपका सेवन करना चाहिए, चाहे बैठकर, चाहे टहलकर। यह क्रिया विशेषकर उनके लिए आवश्यक है जिनका रोग बढ़ा हुआ है अथवा जो नाजुक हैं। वास्तवमें आतप-स्नान ऐसे व्यक्तियोंके लिए जरा तेज चीज है। इसलिए उनकी चिकित्साके आरम्भमें ही इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

आतप-स्नानके लिए दिनमें १० बजेसे ३ बजेतकका समय उपयुक्त है। (यह विधान जर्मन देशके लिए है, इस देशके लिए नहीं। यहाँ शरद ऋतुमें तो इस नियमसे आतप-सेवन हो सकता है, किन्तु अन्य ऋतुओंमें नहीं। ग्रीष्मऋतुमें प्रातःकाल ७—८ बजे तकका समय उपयुक्त होता है।) दोपहरको भोजनके बाद भी आतप-स्नान लिया जा सकता है, परन्तु भोजन करनेसे एक घंटा या दो घंटे बाद लेना चाहिए। क्योंकि पाचनके लिए शरीरमें गर्मीकी आवश्यकता होती है और आतप-स्नानके बाद शीतोपचार करनेसे गर्मी बहुत कम हो जाती है।

आंशिक आतप-स्नान—मैंने आंशिक आतप-स्नानके प्रयोगसे उन दशाओंमें बड़ी सफलता प्राप्त की है, जिनमें गूमड़ियाँ पड़ जाती हैं अथवा बहता हुआ व्रण या नाड़ी-व्रण (नासूर) हो जाता है या कोई अवयव सूख जाता है । रसौली या कोई आन्तरिक ग्रन्थि बढ़ती हो, अथवा कहीं पीड़ा होती हो, तो इससे लाभ होता है । इसकी भी वही विधि है जो सर्वांग आतप-स्नानकी ऊपर बतई गई है । अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें वह विशेष स्थान भी—जिसको धूप देना चाहते हैं—नंगा करके एक बड़े या छोटे छोटे अनेक हारे पत्तोंसे ढक लिया जाता है ।

आतप-स्नानके विषयमें साधारणतः यह कहा जा सकता है कि परमात्माने हमारे लिए अन्न जल आदिके साथ ही सूर्यरश्मियाँ भी एक रोग-नाशक विभूतिके रूपमें प्रदान की हैं । इनके समान लाभ देनेवाला अन्य कोई उपाय नहीं है । विशेषकर व्याधिकी मन्द अवस्थामें दुर्द्रव्यमें संसरणशक्ति उत्पन्न करके उसे बाहर निकालनेके लिए इससे विलक्षण प्रभावजनक और सरल अन्य कोई साधन नहीं है । एक उदाहरणके द्वारा यह बात स्पष्ट रूपसे समझमें आ जायगी । यह सभी जानते हैं कि यदि किसी मैले ऊनी कपड़ेको धूपमें डाल दिया जाता है तो उसका मैल उसीमें सूख जाता है, परन्तु यदि उसे बारी बारीसे एक बार जलमें और एक बार धूपमें डाला जाता है, तो धूप उस वस्त्रके मैलको थोड़े बहुत अंशोंमें खींच लेती है, और इस तरह धुलकर कपड़ा साफ अर्थात् उजला हो जाता है ।

इस पृथ्वीपर जीवनकी स्थिति सूर्य, जल, वायु और मिट्टीके ऊपर निर्भर है । छोटे पौधे और वृक्ष तभी फलते फूलते हैं जब कि उनको जल, धूप, वायु और मिट्टी यथेष्ट परिमाणमें मिलती है । यदि इनमेंसे किसी पदार्थका अंशतः या पूर्णतः अभाव हो जाता है, तो वह पौधा

या वृक्ष मुरझा जाता है अथवा उसकी बढ़ौतरी रुक जाती है। इस संसाररूप वृक्षका भी यही नियम है, अतः मानव-सृष्टि भी इससे बाहर नहीं है। दुर्भाग्यसे अनेक मनुष्य धूप और जलसे बहुत ही बचकर रहते हैं। परिणाम यह होता है कि उनका शरीर कमजोर पड़ जाता है और उनकी प्रवृत्ति रोगकी ओर हो जाती है। एक आरोग्य मनुष्य धूपकी गर्मीको बिना किसी हानिके सहन कर सकता है, किन्तु इसके विपरीत एक रोगी उससे घबराता है। क्योंकि धूपसे उसको बेचैनी पैदा होती है। सूर्यकी किरणें उसके शरीरमें भरे हुए विजातीय द्रव्यमें तीव्र संसरण उत्पन्न कर देती हैं, जिससे यदि उसके उत्सर्ग-द्वार निर्बल हुए, तो सिरमें दर्द, चक्कर, आलस्य, भारीपन आदि उपद्रव पैदा हो जाते हैं। ये लक्षण इस बातके साक्षी हैं कि विजातीय द्रव्यमें संसृति उत्पन्न हो गई है। परन्तु जलद्वारा शीतोपचार किये बिना केवल आतप-स्नानहीसे हमारा मतलब पूरा नहीं हो सकता। जलका यह स्वभाव है कि वह हमारे शरीरमें जीवन-शक्तिको उत्पन्न करता है। इस शक्तिकी उन्नतिका हमें सबसे अधिक ध्यान होना चाहिए। वनस्पति-जगत्की भी तभी वृद्धि होती है जब कि उसको बारी-बारीसे धूप और जल मिलता रहता है। यदि केवल धूप ही मिले, तो वह मुरझा जाय। यदि हम एक बार भी प्रकृति देवीकी कार्य-प्रणालीको अच्छी तरह समझ लें, तो हमें यह जाननेमें कठिनता न होगी कि आतप-स्नानसे उत्पन्न क्षणिक उपद्रवोंके रूपमें जो आरोग्यप्रद शोधन-क्रिया होती है (जैसे कि व्याधियोंकी मन्द दशामें), उसका प्रतीकार जलद्वारा शीतोपचार करनेसे किस प्रकार हो जाता है। मेरे बतलये हुए जलके स्नान आतप-स्नानोंके साथ आश्चर्यजनक रीतिसे आरोग्य प्रदान करते हैं।

यदि कोई यह समझता हो कि वस्त्र पहने रहने अथवा वस्त्रोंसे शरीर ढके रहनेकी अपेक्षा नंगे शरीरपर सूर्यकी किरणोंका विशेष प्रभाव पड़ता है, तो वह गलत है। प्रकृतिदेवीकी कार्य-प्रणालीपर दृष्टि डालनेसे हमें उक्त गलती समझमें आ जाती है। अंगूरोंको तनिक ध्यानसे देखिए। क्या अंगूर सूर्यकी किरणोंसे बचनेके लिए पत्तोंकी छायामें नहीं रहते हैं? जो अंगूर छायामें रहते हैं, वे उत्तम प्रकारसे पकते हैं; किन्तु जिनपर सूर्यकी किरणें सीधी पड़ती हैं वे छोटे रह जाते हैं और खट्टे होते हैं। यही दशा चेरीके वृक्षोंकी भी होती है। यदि फल पकते समय उसके पत्तोंकी कीड़े खा जाते हैं, तो फल उतने अच्छे नहीं पकते जितने अच्छे कि पत्तोंकी छायामें पकते हैं। इसके अतिरिक्त वे अपक्व अवस्थामें ही मुरझा जाते हैं। प्रत्येक फल, पकते समय पत्तोंकी छाया चाहता है। इन उदाहरणोंसे यह स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि नंगे और वस्त्रोंसे ढके हुए शरीरपर सूर्यका क्यों भिन्न भिन्न प्रभाव पड़ता है।

नंगे शरीरपर सूर्यका प्रभाव हानिकारक होता है, उससे अनेक प्रकारके कष्ट उत्पन्न हो सकते हैं। जब हमारा शरीर वस्त्रोंसे ढका रहता है, तब त्वचाके रन्ध्र शीघ्र खुल जाते हैं और त्वचाके मुलायम तथा गर्म हो जानेसे पसीना आने लगता है। यदि हम शरीरको नंगा करके उसे ऐसे वस्त्रसे ढक लें, जो जलसे भीगा हो, जैसे निचोड़ा हुआ वस्त्र, तो सूर्यका प्रभाव बहुत अधिक पड़ेगा। नये, सरस और बड़े बड़े हरे पत्तोंसे भी यह काम भलीभाँति लिया जा सकता है।

इस बातको सब जानते हैं कि सूर्यका प्रभाव सफेद वस्त्रोंकी अपेक्षा काले वस्त्रोंपर सर्वथा भिन्न पड़ता है। साधारण वस्त्रोंको पहनकर, चादर ओढ़कर अथवा हरे पत्ते लपेटकर आतप-स्नान लेना, ये

बिल्कुल जुदी जुदी बातें हैं। इन सबके प्रभावमें अन्तर रहता है, इस-लिए यह विषय उपेक्षा करनेका नहीं है। मेरे वर्षोंके विचार और अनुभवसे यह सिद्ध हुआ है कि यदि हम शरीरको हरे पत्तोंसे ढकते हैं, तो सूर्यकी किरणें शरीरसे दूषित द्रव्यको निकालनेमें और साधनोंकी अपेक्षा कहीं अच्छा काम देती हैं। मेरी अन्य विधियोंके साथ आतप-स्नान लेनेसे उसका लाभ बहुत बढ़ जाता है। विशेषकर पेड़की दुर्प्र-स्थियाँ, पाण्डुरोग, रक्तकी न्यूनता, कण्ठमाला, क्षय, आमवात आदि रोगोंमें तो इससे आशातीत लाभ होता है।



चित्र घ

उदर-स्नान—इसे लेनेकी विधि यह है कि चित्र 'घ' के अनुसार एक टब लेकर उसमें इतना पानी भरा जाय जो जंघाओंसे लेकर नाभितक आ जाय। पानी 48° से 60° (फैरन हाइट) तक + ठंडा हो। इस टबमें आधा बैठकर और आधा लेटकर, नाभिसे नीचे एक कोखसे दूसरी कोख तक, बिना हाथ रोके, गाढ़ेके अँगोछे या तौलिया अथवा सन आदिके बने हुए किसी मोटे कपड़ेसे धीरे धीरे पेड़को मले। यह स्नान तबतक जारी रक्खा जाय, जबतक शरीर अच्छी तरह ठंडा न हो जाय। आरम्भमें यह स्नान ५ मिनट से १० मिनट तक करना चाहिए। किन्तु फिर क्रमसे इसका समय बढ़ाते जाना।

+ कुछ ताजा पानी लगभग इतना ही ठंडा होता है।

चाहिए । जो व्यक्ति बहुत निर्वल हैं अथवा जो छोटे बालक हैं, उनके लिए यह स्नान कुछ मिनट ही काफी है । यह अत्यन्त आवश्यक है कि टाँगों, पैरों और ऊपरके शरीरको शेष शरीरके साथ ठंडा न किया जाय, क्योंकि उन भागोंमें रक्तका संचार कम होता है और उक्त भागोंको ऊनी कम्बलसे ढक लिया जाय । उदर-स्नानके बाद शरीरको तुरन्त गर्म करना चाहिए । इसके लिए खुले मैदानमें किसी प्रकारका व्यायाम करना सबसे उत्तम है । परन्तु जो रोगी कमजोर या बहुत बीमार होनेसे किसी प्रकारका व्यायाम नहीं कर सकते, उनमें गर्मी लानेका उपाय यह है कि उनको अच्छी तरह कपड़ा ओढ़ाकर पलंगपर लिटा दिया जाय । यदि गर्मी शीघ्र न आये, तो शरीरको किसी ऊनी बख्से से लपेट देना चाहिए ।

उदर-स्नान प्रतिदिन एक बारसे तीन बार तक लिये जा सकते हैं । उनका समय और जलका बलाबल रोगीकी अवस्थाके अनुकूल ठीक कर लेना चाहिए । बहुतसी अवस्थाओंमें इनकी जगह मेहन-स्नान अथवा दोनों स्नान लिये जा सकते हैं ।

मेहन-स्नान—यह स्नान स्त्रियोंके लिए बहुत ही उपयोगी है । उसकी विधि इस प्रकार है—

उपर्युक्त टबमें एक तिपाई या लकड़ीका तख्ता रखकर—जो कि मैंने बनाया है,—पानी भर लिया जाय । पानी इतना भरा जाय जो तख्तेके ऊपरी किनारे तक पहुँच जाय और बैठनेका भाग सूखा रहे । रोगी उसपर बैठ जाय और मोटे वस्त्रको जलमें भिगो-भिगोकर उससे धीरे धीरे अपनी जननेन्द्रियका प्रक्षालन करे । वस्त्रमें जितना पानी आ सके उतना ही ले । यह ध्यान रहे कि योनिके केवल बाहरी किनारोंको ही धोया जाय, न कि भीतरी भागको । और उन

बाहरी किनारोंको भी जल्दी जल्दी आगे पीछे न मला जाय, बल्कि बल्लमें जितना जल आये उसीसे बड़ी कोमलताके साथ धीरे धीरे धोया जाय । इस स्नानमें भी टाँगों, पैरों और शरीरके ऊर्ध्व भागको जलसे अलग रखना चाहिए । यदि नितम्ब कुछ भीग भी जायँ, तो कोई हानि नहीं है । मासिक धर्मके समय यह स्नान रोक देना चाहिए । यदि रक्त-स्राव ठीक तौरपर न होता हो, तो उन दिनोंमें भी यह स्नान लिया जा सकता है; परन्तु तब जब कि इस चिकित्साका ज्ञाता रोगिणीकी हालतको देखकर स्नान करनेकी आज्ञा दे । रक्त-स्राव दोसे तीन दिनतक, अधिकसे अधिक चार दिन तक, होना चाहिए, इससे अधिक दिनोंतक स्राव होना रोग और दूषित अवस्थाका लक्षण है ।

इन स्नानोंके लिए जलकी गर्मी स्वाभाविक होनी चाहिए, अर्थात् ५०° से ६०° फ़ैरन हाइटतक । आवश्यकता पड़नेपर उसको बढ़ाकर ६६° फ़ैरन हाइटतक भी किया जा सकता है ।

रोगीकी आयु और उसकी दशाके अनुसार यह स्नान दस मिनटसे लेकर एक घंटेतक लिया जा सकता है । स्नानागारको जाड़ोंमें आरम्भके काबिल गर्म रखना चाहिए । मेहन-स्नानके लिए जितना अधिक शीतल जल लिया जायगा, उतना ही अधिक लाभ होगा । परन्तु जल इतना शीतल भी न होना चाहिए कि रोगीके हाथोंको सहन न हो सके । गर्म देशोंमें इतना ठंडा जल मिलना असम्भव है जितना कि यहाँ (जर्मनीमें) मिलता है; परन्तु फिर भी जितना ठंडा मिल सके, उतना लेना चाहिए । यह आशंका न करनी चाहिए कि ऐसे जलके स्नानसे क्या प्रभाव हो सकता है; क्योंकि गर्म देशोंके जल और यहाँकी वायुकी ऊष्मामें लगभग वही तारतम्य है जो कि जर्मनी

आदि शीतप्रधान देशोंके जल और वायुकी ऊष्मामें है। इस लिए स्नानका प्रभाव दोनों देशोंमें एक समान होगा। गर्म देशोंसे आये हुए विवरणोंसे मेरे इस सिद्धान्तकी पुष्टि होती है।

जहाँ उदर-स्नान करनेका टब न मिले, वहाँ कोई भी टब यह काम दे सकता है। वह इतना बड़ा अवश्य होना चाहिए जिसमें एक तिपाई या बैठने योग्य एक तख्ता लग सके और ५ या ६ गेलन * पानी आ सके। पानी आसनके बराबर रहना चाहिए। यदि इन स्नानोंके लिए पानी थोड़ा लिया जायगा, तो वह शीघ्र गर्म हो जायगा और स्नानके प्रभावको कम कर देगा। हल्का और निर्मल जल (Soft water) स्रोतोंके जलकी अपेक्षा उत्तम होता है। परन्तु जहाँ स्रोतका ही जल मिले, वहाँ यह उचित है कि उसको थोड़ी देर रक्खा रहने दे। किन्तु यह ध्यान रहे कि वह बहुत गर्म न हो जाय।

यद्यपि बड़े घरोंमें सफाईके लिए आमतौरसे चौकीपर बैठकर स्नान किये जाते हैं, किन्तु उनमें न तो इतने ठंडे पानीका ही व्यवहार किया जाता है और न उतनी देरतक तथा उस रीतिसे स्नान ही किया जाता है, जिसका कि मैंने विधान किया है।

पुरुषोंके लिए भी मेहन-स्नानकी यही विधि है। उनको शिश्नेन्द्रियका सिरा, अर्थात् अगाड़ीकी खाल शीतल जलसे धोनी चाहिए। स्नान करनेवाला अपने बाँये हाथकी दो उँगलियोंसे मूत्रेन्द्रियकी अगाड़ीकी खालको जितना हो सके आगेको खींच ले, जिससे सुपारी ढक जाय और वह रगड़ न खाये। उँगलियोंसे पकड़े हुए उस आवरणरूप त्वचाके सिरेको दाहिने हाथमें लिये हुए मोटे रूमालसे धीरे धीरे धोना चाहिए। यह आवश्यक है कि इस क्रियाको विधिपूर्वक किया जाय,

* एक गेलन ३ सेर १० छटाका होता है।

कोई अन्तर न पड़ने पावे। अतएव प्रत्येक मनुष्यसे मैं अनुरोध करता हूँ कि जिसको इस क्रियाके समझनेमें कुछ भी सन्देह हो, वह इस विषयको किसी जाननेवालेसे स्पष्टरूपसे समझ ले, जिससे उसका समय नष्ट न हो, और उसे व्यर्थ ही कष्ट भी न उठाना पड़े तथा उसके स्वास्थ्यको भी कोई हानि न पहुँचे।

उन रोगियोंमें जिनके शरीरके भीतर किसी भागमें प्रदाह या सड़न (Gangrenous) हो गई है अथवा जहाँ कोई मन्द और छिपी हुई व्याधि तीव्ररूपमें बदल रही है, वहाँ आन्तरिक प्रदाह या शोथ (सूजन) प्रायः पहले ही स्नानसे बहुत शीघ्र नीचेको खिंच आता है और उस स्थानपर या उसके समीप ही कहीं प्रकट हो जाता है, जहाँ कि प्रक्षालन किया गया है। परन्तु यह कोई प्रतिकूल लक्षण नहीं है। मैं दूसरे भागमें—जहाँ विस्फोटकोंका वर्णन है—इस विषयको बिल्कुल स्पष्ट कर दूँगा। खराश हो जाना कोई भयकी बात नहीं है। स्नान उसी प्रकार जारी रखे जायँ। यदि आवश्यकता जान पड़े, तो पहलेकी अपेक्षा मुलायम वस्त्र ले लेना चाहिए।

बहुत हालतोंमें यदि पानी बैठकसे तीन अंगुल ऊँचा रक्खा जाय, तो प्रभाव और भी अधिक होगा। इस स्नानमें जल ६३° से ७३° फ़ैरन हाइट तक रखना चाहिए। इसमें नितम्ब तो जलमें रहते हैं किन्तु शीर्षभाग पूर्ववत् सूखा रहता है।

अनेक मनुष्योंको यह शंका होती होगी कि शरीरके और भागोंको छोड़कर केवल इसी भागको स्नानके लिए क्यों चुना गया। वास्तवमें शरीरका और कोई भाग हमारा मतलब हल करनेके लिए इतना उपयोगी नहीं है और न और किसी स्थानपर मुख्य मुख्य शिराओंके इतने छोर मिलते हैं जितने कि इस स्थानपर। इस भागमें विशेषकर मेरु-

दण्डके अन्तर्गत जितनी शिरायें हैं, केवल उन्हींकी नहीं बल्कि समस्त स्नायुमण्डलकी सहानुभूति सुख उत्पन्न करनेवाली वे शाखायें हैं जिनका सम्बन्ध हमारे मस्तिष्कसे है। इसी कारण इस स्नानसे स्नायुमण्डलपर प्रभाव पड़ता है। ऐसा होना केवल गुह्येन्द्रियके द्वारा ही सम्भव है। यह सब प्रकारसे संसार-वृक्षका मूल है। इसे शीतल जलसे प्रक्षालन करनेसे केवल भीतरी गर्मी ही शमन नहीं होती, बल्कि स्नायुओंमें भी विशेषरूपसे शक्तिका संचार होता है, अर्थात् सोरे शरीरकी जीवनी-शक्ति जो उसके छोटेसे छोटे कणमें मौजूद है जग उठती है। इसके प्रभावमें केवल वहींपर त्रुटि आसकती है जहाँ किसी स्नायुका सम्बन्ध तोड़ दिया गया हो, जैसा कि नश्तर या चीर-फाड़के द्वारा प्रायः कर दिया जाता है।

हर एक बुद्धिमान् पुरुष जो व्यावहारिक प्रयोगसे नहीं हिचकता यह बात स्वीकार करेगा कि मेरी विधिसे लिया हुआ मेहन-स्नान शरीरके अवयवोंको अपना अपना कार्य करनेमें समर्थ बनाता है।

ध्यान रहे कि मेहन-स्नान—जिससे सहस्रों मनुष्योंको लाभ पहुँच चुका है—उन्हीं लोगोंके लिए विशेष हितकर है, जो बाहरसे तन्दुरुस्त दिखाई देते हैं किन्तु वास्तवमें बीमार हैं। जो लोग यह जानते हैं कि मनुष्यके शरीरपर जो अस्त्रक्रिया की जाती है, वह कितनी कष्टकर, अशोभन और लज्जास्पद होती है, वे मेरी इस सरल तथा सिद्ध विधिको अर्थात् मेहन-स्नानको गौरवकी दृष्टिसे देखेंगे। ऐसे स्थानपर लज्जा नहीं की जानी चाहिए जहाँ किसी दुखी मनुष्यके दुःख दूर करनेका विषय हो। पूर्ण आरोग्य मनुष्योंपर मेहन-स्नानका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा और न उनके लिए इसका विधान ही किया गया है। उनका

चित्त तो उकता जायगा, परन्तु रोगी मनुष्य सम्भव है आवश्यकतासे भी अधिक समय तक इसे लेता रहेगा ।

अब मैं आपका ध्यान इस विषयकी ओर लाना चाहता हूँ कि प्रकृति सदैव समीकरणकी चेष्टा किया करती है । यह चेष्टा जगत्में केवल बाहर ही नहीं समाप्त हो जाती, बल्कि मनुष्य-शरीरकी ऊष्माके परिवर्तनमें भी पाई जाती है, जो कि बाहरी परिस्थितिके कारण हुआ करता है । यह ऊष्मा भीतरसे बाहर और बाहरसे भीतर बिजलीकी तरह जाकर परिवर्तित हुआ करती है और जिस प्रकार भौतिक पिंडोंके चलनेमें एक प्रकारका तनाव होता है, उसी तरह इसमें भी तनाव होता है । अब जितना यह तनाव बढ़ेगा—जैसे कि ज्वरकी दशामें—उतनी ही मनुष्यकी दशा असह्य हो जायगी और व्याधिका स्वरूप भी उतना ही तीव्र हो जायगा । जिस प्रकार आँधीके समय दम घुटने लगती और व्याकुलता बढ़ जाती है, उसी प्रकार विजातीय द्रव्य भी मनुष्य-शरीरमें उत्पातकी सृष्टि करता है । ऐसी हालतमें इससे अधिक प्रकृतिके अनुकूल और माकूल क्या उपाय हो सकता है कि समीकरणकी चेष्टा की जाय—बढ़ी हुई गर्मीको घटाकर कम किया जाय । इस मत-लबको पूरा करनेके लिए मेरी अन्य चिकित्सा-विधियोंके साथ मेहन-स्नान ही सबसे बढ़िया पुल है, जिसे सदा ठंडे जलसे लेना चाहिए । इन स्नानोंका प्रभाव अंतुलनीय है और बहुत हालतोंमें अत्यन्त काम देनेवाला है । यदि कहीं अमीष्ट फल न निकले, तो वहाँ समझना चाहिए कि जीवनी शक्तिका ही हास हो गया है ।

दूषित द्रव्यसे भरे हुए शरीरकी तुलना हम जंग खाई हुई मशीनके साथ कर सकते हैं । इस दशामें निर्बल पाचन-शक्ति आहारसे उतनी

जीवनी-शक्ति ग्रहण नहीं कर सकती, जिससे मनुष्यकी पूर्ववस्था बनी रह सके। उस समय भोजन पहलेकी अपेक्षा अधिक मात्रामें किया जाता है, विशेषकर उत्तेजक, जिससे कि मनुष्य कार्यमें तत्पर रह सके। परन्तु इससे पाचन-शक्तिका और अधिक न्हास होता रहता है।

अब यदि हम अपनी पाचन-शक्तिको फिरसे उभारना चाहते हैं, तो यह केवल ऐसे साधनोंसे ही हो सकता है जो पाचन-शक्तिको सुधारने-वाले हैं। मैं तो इसके लिए सबसे उत्तम साधन अपने शीतल स्नानों और स्वाभाविक आहारको ही समझता हूँ। यदि पाचन-शक्ति कुछ भी सुधरने योग्य है, तो ये साधन अत्यंत बिगड़े हुए पाचनको इतना शीघ्र ठीक कर सकते हैं, जितना कि और कोई चिकित्सा नहीं कर सकती। और ये बिल्कुल स्वाभाविक रीतिसे कार्य करते हैं। ये स्नान ज्वरकी उष्माको—जो कि दूषित द्रव्यकी रगड़से उत्पन्न होती है—घटाकर साम्य अवस्थामें ले आते हैं, जिससे रोगका बढ़ना रुक जाता है। यदि हम खोलते हुए पानीकी भापको फिरसे पानीमें बदलना चाहें, तो उसकी सीधी युक्ति यही है कि गर्मीको घटा दें। यही दशा दूषित द्रव्यकी अर्थात् प्रत्येक रोगकी भी है। रोग शरीरमें गर्मीके बढ़नेसे होता है, इस लिए वह तभी दूर हो सकता है जब कि उसके विपरीत क्रिया की जाय, अर्थात् निरन्तर शीतोपचारद्वारा बढ़ी हुई ऊष्माको घटाया जाय।

जिस प्रकार किसी मशीनका संचालन उसके एक ही निर्दिष्ट स्थानसे होता है, चाहे वह तीव्र गतिसे हो या मन्द गतिसे, ठीक वही दशा मनुष्यके शरीरकी भी है। जीवनी-शक्तिपर प्रभाव भी एक ही स्थानसे पड़ सकता है, अर्थात् उसी स्थानसे जो मैंने मेहन-स्नान लेनेके लिए चुना है।

इस व्याख्यानसे यह स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि मैं आँख और कानके रोगियोंको भी उसी चिकित्सासे किस तरह अच्छा करता हूँ जिससे लाल ज्वर, शांतला और विषूचिका आदिके रोगी अच्छे किये जाते हैं । (चिकित्सा-क्रममें व्यक्तिगत भेदके अनुसार आवश्यक अन्तर जरूर करा दिया जाता है ।) इसके द्वारा सारे शरीरकी जीवनी-शक्ति उभर आती है और साथ ही इस बातकी भी कोई सम्भावना नहीं रहती कि एक भाग दूसरेकी अपेक्षा अधिक उत्तेजित हो जायगा । परन्तु यह आवश्यक है कि रोगीके शरीरमें शिरा-सम्बन्ध न तोड़ दिया गया हो । जीवनी-शक्तिका किस प्रकार विकास होता है, इस बातका बहुत मनुष्योंको तो पता तक नहीं है । उस समय प्रायः वे बातें भी देखनेमें आती हैं जो रोगीकी आशाके सर्वथा विरुद्ध होती हैं । जैसे कि तमाखू पीनेवाले व्यक्ति इन स्नानोंके पश्चात् तमाखूका सेवन सहन नहीं कर सकते । उस समय उनको यह भ्रम होता है कि हमारा कोष्ठ निर्बल हो गया है; किन्तु वास्तवमें बात इससे उलटी होती है । पहले उनका कोष्ठ इतना निर्बल था कि तमाखूके विषका सामना नहीं कर सकता था; परन्तु अब उसमें उक्त विषसे लड़नेकी यथेष्ट शक्ति लौट आती है । जहाँ इन स्नानोंके द्वारा स्नायुओंमें शक्ति आना सम्भव है; वहाँ वह अवश्य आवेगी जिससे शरीर विजातीय द्रव्यको—जो कि उसके भीतर संचित हो रहा है—प्राकृतिक उत्सर्ग-मार्गोंके द्वारा बाहर निकाल दे ।

मेहन-स्नानके अतिरिक्त पेडूपर मिट्टी (पिंडोल या चिकनी मिट्टी) की पट्टी बाँधना भी आन्तरिक गर्मीको घटाने और दूषित द्रव्यको निकालनेके लिए परम उपयोगी साधन है । इसका प्रयोग शरीरके बाहरी आघातों और फोड़ों आदिमें भी बहुत लाभकारी होता है ।

परन्तु किसीको यह न समझ लेना चाहिए कि नवीन चिकित्साकी ये रीतियाँ जो कि व्यक्तिगत भेदके अनुसार बताई जाती हैं प्रत्येक रोगीको निश्चय ही आरोग्य कर देंगी। यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'मैं सब रोगोंको तो अच्छा कर सकता हूँ, परन्तु सब रोगियोंको नहीं।' जिसके शरीरकी जीवन-शक्ति और फलतः पाचन-शक्ति बिल्कुल निर्बल हो गई है, यह चिकित्सा उसके कष्टको इतना तो कम अवश्य कर देगी जितना और किसी भी चिकित्सासे सम्भव नहीं है; परन्तु उसे पूर्ण आरोग्य नहीं कर सकेगी।

ऐसे भयङ्कर रोगी भी होते हैं, जिनपर मेरे स्नानोंका प्रयोग बहुत ही सावधानी और विवेकके साथ करना चाहिए। उनके विषयमें अक्सर यह भी आवश्यक हो जाता है कि स्नानोंको कुछ कालके लिए बिल्कुल बन्द कर दिया जाय। ऐसी अवस्थामें रोगियोंको केवल इस पुस्तकके आधारपर, किसी चिकित्सकसे परामर्श लिये बिना चिकित्सा करना उचित न होगा। उन्हें तो किसी योग्य जल-चिकित्सकके परामर्शसे ही अपनी चिकित्सा करनी चाहिए, जिससे हानि पहुँचनेकी आशङ्का न रहे।



हम क्या खायें और क्या पियें ?

पाचन-क्रिया

ऊपर मेहन-स्नान और मनुष्यकी जीवनी-शक्तिके सम्बन्धमें जो व्याख्या की गई है, उससे यह सिद्ध होता है कि रोग केवल मिथ्या आहारसे ही उत्पन्न होता है। यह केवल पाचनके विकारसे ही सम्भव है कि विजातीय द्रव्य बनें और शरीरमें व्याधिका प्रादुर्भाव हो। अतः एव हमारे लिए ये प्रश्न सबसे अधिक महत्त्वके हैं कि हम क्या खायें और क्या पियें ?

इसे सभी लोग जानते हैं कि विद्युत्-शक्ति अथवा विद्युत्-धाराको पैदा करनेके लिए कुछ निर्दिष्ट तत्त्वोंकी आवश्यकता पड़ती है। यह केवल किसी मुख्य तेजाब (Acid) की सहायतासे ही हो सकता है कि जिंक (जस्ता) और कार्बनकी पट्टरियोंको गलकर या उनका रूप बदलकर हम उस शक्तिको बाहर निकाल लें, जिनसे पहले उसका स्वरूप बना हुआ था। फिर यह शक्ति प्रवर्त्तक (Positive) और निवर्त्तक (Negative) धाराके रूपमें धातुके तारोंमें संप्रह कर ली जाती है। इसीका नाम बिजली है, जो हमारे अनेक कार्य करती है। परन्तु यदि हम इन पदार्थों—(जिंक और कार्बन) के स्थानमें किन्हीं ऐसे दूसरे पदार्थोंका प्रयोग करें जिनका स्वरूप उनसे मिला जुला हो या उन्हीं परमाणुओंसे बना हुआ हो, अथवा बिल्कुल वे ही पदार्थ हों, किन्तु पीसकर या और किसी प्रकारसे उनके स्वरूपमें भेद कर दिया गया हो, तो हमको फलमें तुरन्त अन्तर दिखाई देगा। तब या तो

बिजली पैदा ही न होगी अथवा उसमें कोई अन्तर या निर्बलता दिखाई देगी, चाहे प्रयोगमें बाकी प्रक्रिया वैसी ही रही हो जैसी जिक और कार्बनकी पटरियोंसे बिजली बनाते समय थी। मानव-शरीरमें जीवनी शक्तिके उद्भवका भी यही नियम है। इसमें भी जीवनी-शक्तिकी बढ़ौ-तरी केवल उपयुक्त आहारपर ही निर्भर है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमको वायुमण्डलमें मिलता है, जो कि हमारा मुख्य आहार है। यदि हम किसी मनुष्यको कुछ क्षणके लिए स्वाभाविक वायुसे हटाकर किसी अन्य प्रकारकी गैस आदिसे भरे हुए स्थानमें छोड़ दें, तो वह कुछ कालमें ही मर जायगा। वह दूषित वायु तत्काल उसका अन्त कर देगी।

कुपथ्यसे जो हानियाँ होती हैं, उनका सहजमें अनुभव नहीं होता, उनका प्रभाव अधिक समयमें दिखाई पड़ता है। स्वाभाविक आहार और हालाहल विषके आहारमें बहुत बड़ा अन्तर है। स्वाभाविक आहारसे अस्वाभाविक आहारकी ओर प्रगति ऐसी बेमात्स्र होती है कि आरम्भमें उसका पता ही नहीं चलता। परन्तु जब हम यह जानते हैं कि विजातीय द्रव्य कुपथ्यहकी फल है, अर्थात् शरीरमें पाचनके विकारसे उत्पन्न होता है, तब हमारा यह लक्ष्य होना चाहिए कि हम मिथ्या आहारको छोड़ें और अपनेको पाचन-शक्तिके बिगाड़से बचावें।

मिथ्या आहार और पाचनकी विकृतिके विषयको स्पष्ट करनेके लिए मैं कुछ ऐसे दृष्टान्त दूँगा जो नित्य अनुभवमें आते हैं। ऐसे बहुतसे मनुष्य हमें मिलते हैं जिनका शरीर मोटा ताजा है। वे कहा करते हैं कि हमारी खुराक तो बहुत थोड़ी है, पर न जाने हमारा शरीर क्यों मोटा होता चला जाता है। इसका कारण यह है कि उनमें पोषण-शक्ति आवश्यकतासे अधिक है। कुछ मनुष्य ऐसे भी मिलते हैं जिनका शरीर तो दुबला पतला है, परन्तु आहार अत्यन्त पौष्टिक और

प्रचुर है। वास्तवमें उनकी दशा इससे बिल्कुल विपरीत होनी चाहिए थी, उन्हें खूब मोटा ताजा होना चाहिए था; परन्तु ऐसा नहीं होता। भोजन उनके शरीरमेंसे होकर निकल तो जाता है, पर उससे लाभ कुछ नहीं पहुँचता, आहारका अधिक अंश बेकार चला जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि आहारका केवल शरीरमेंसे होकर निकल जाना ही पाचन-शक्तिकी उत्तमताका सूचक नहीं है जैसा कि अनेक मनुष्य भूलसे समझते हैं।

इस प्रकार दो भिन्न भिन्न प्रकृतिके मनुष्य हमें मिलते हैं। इनमेंसे एक तो थोड़ा खाने पीनेपर भी मोटे हो जाते हैं और दूसरे अच्छे अच्छे पौष्टिक आहार करने पर भी दुबले ही रहते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष-में दोनों एक दूसरेसे भिन्न हैं, किन्तु दोनोंमें बीमारीका कारण एक ही है; अर्थात् पाचन-शक्तिका बिगाड़ और मिथ्या आहार। इस प्रस्तावनाके अनन्तर हम यह सरलतासे समझ सकते हैं कि एक क्षयके रोगीको अपने हिसाबसे अत्यन्त बलवद्भक्षक और पौष्टिक आहार करते हुए भी लाभ क्यों नहीं पहुँचता और इसके विपरीत एक दृष्टपुष्ट, किन्तु शीघ्रक्षोभी स्नायुमण्डलवाले मनुष्यको भूख क्यों नहीं लगती।

पिछले अध्यायोंमें जीवनी-शक्तिके सम्बन्धमें जो आलोचना हुई है, उसपर विचार करते हुए हम अतिपोषणसे बचनेका उपाय आसानीसे ढूँढ़ सकते हैं। विचारशील पाठकोंको यह अवश्य प्रतीत हो गया होगा कि मांस, अण्डे, जूष (Extracts), शराब, वीयर, कोको, चाय, काफी आदि पदार्थ वास्तवमें पोषक और उपयोगी आहार नहीं हैं। हमें उन्हीं पदार्थोंको खाना चाहिए जो जल्दी और आसानीसे पच सकते हैं। हमारा शरीर आहारको जितना शीघ्र पचा सकता है, उतना ही अधिक उससे लाभ उठा सकता है और उससे उतनी ही अधिक

जीवनी-शक्ति उत्पन्न होती है। अतः जीवनी-शक्तिकी मात्रा आहारके पचनेपर अवलम्बित है।

आहार जितना अधिक गरिष्ठ होता है, उसके पचनेमें उतना ही अधिक समय लगता है। यदि हम कभी ऐसी गरिष्ठ वस्तुयें सेवन कर लें, तो हमको यह विचार रखते हुए कि हमारा स्वास्थ्य भङ्ग न हो जाय तब तक दुबारा आहार नहीं करना चाहिए, जब तक कि पहला किया हुआ भोजन पच न जाय। पर दुर्भाग्यसे ऐसा शायद ही कोई करता हो; क्योंकि प्रत्यक्षमें हमारी दैनिक आदत उपवास करनेकी नहीं है, इस लिए हम उपवासके वास्तविक महत्त्वको बिल्कुल नहीं जानते। साधारणतः प्रकृतिकी उपवास-विधिपर मनुष्य बिल्कुल ध्यान नहीं देते। इसके विपरीत हम देखते हैं कि ग्रीष्मऋतुकी अपेक्षा शीत ऋतुमें जब कि कम समय मिलता है मनुष्य अधिक बार भोजन करते हैं। आजकल चारों ओर यह भ्रम फैला हुआ है कि जाड़ोंमें अधिक भोजन करना चाहिए और चिकने पदार्थ खूब खाना चाहिए, जिससे शीतको सहन किया जा सके। परन्तु यह विचार प्रकृतिके नियमोंके सर्वथा विरुद्ध है। जाड़ोंमें अधिक आहार करनेसे जो हानियाँ होती हैं, उनका मुझे अनेक बार अनुभव हो चुका है। प्रकृतिमें उपवासकी विधि हर जगह मिलती है। हम देखते हैं कि साँप अच्छे प्रकारसे पेट भर जानेपर कई सप्ताह तक नहीं खाते। हिरन, खरगोश आदि कई सप्ताह क्या कई कई महीने तक बहुत थोड़ा खाते हैं और शरद् ऋतुकी कठोरताको आनन्दसे सहते हैं। यदि इन पशुओंको शीतकालमें भी उतना ही आहार मिल जितना कि गर्मियोंमें मिलता है, तो वे निश्चय ही रोगी हो जायँ और शीतको सहन न कर सकें। ठंड उद्वेगजनक-क्रियाको रोकती है, अतएव उस समय पाचन-क्रिया भी अपना काम नहीं कर सकती है। इस कारण भोजनकी

जितनी मात्रा गर्भियेमें आसानीसे पच जाती है, जाड़ोंमें कठिनातासे पचती है। इसी कारण पालतु जानवर—जिनको घरोंमें भोजन मिलता है—अतिपोषणसे रोगी हो जाते हैं और मैदानका जाड़ा सहन नहीं कर सकते। परन्तु वे पशु जो स्वतन्त्रतासे जंगलमें रहते हैं, भयंकरसे भयंकर तूफानको भी सहन कर लेते हैं; क्योंकि उनके शरीरमें वह सहन-शक्ति मौजूद होती है, जिसकी ओर आजकल दुर्भाग्यसे किसीकी दृष्टि ही नहीं जाती।

अब यह बात स्पष्ट हो गई कि रोगकी उत्पत्ति प्रायः अतिपोषणसे होती है। अतः हमको इस विषयमें कदापि उदासीन न होना चाहिए कि हम क्या खाते हैं, किस रूपमें खाते हैं और कहाँ खाते हैं।

इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

जब हम पानीको उबालकर पीते हैं तो उसका स्वाद उतरा हुआ और अप्रिय लगता है। इसके विपरीत ताजा पानी कैसा स्वादिष्ट होता है। एक सेव कैसा नव-जीवन प्रदान करता है। वायुके सम्बन्धमें भी यही बात है। एक बन्द कांठरीमें—विशेषकर जब कि वह छोटी हो और बैठनेवाले अधिक हों—कैसा दम घुटने लगता है, कैसा भारी-पन मालूम होता है। किसी किसीके तो सिरमें दर्द होने लगता है। उस समय खुली हुई जीवनप्रद स्वच्छ वायुके लिए कैसी अभिलाषा होती है।

इस प्रकार यह भी जानना आवश्यक है कि हम कैसे स्थानमें बैठकर आहार करते हैं। जो आहार हम मैदानकी खुली हवामें करते हैं, वह मकानके भीतर बैठकर किये हुए भोजनकी अपेक्षा शीघ्र पच जाता है। क्योंकि चबाते समय भोजनमें वायु भी मिल जाती है और

उस स्वच्छ वायुका भोजनके पाचनपर बन्द कमरेकी वायुसे बिल्कुल भिन्न प्रभाव पड़ता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि शरीरके पोषणके लिए वही भोजन उपयुक्त है जो शीघ्र पच जाता है। जब आहार आसानीसे पच जाता है, तब अतिपोषणकी भी आशङ्का नहीं रहती। अतएव यह जानना हमारा मुख्य कर्तव्य है कि वे कौनसे आहार हैं जो शीघ्र पच जाते हैं, अर्थात् जिनसे शरीरको सबसे अधिक जीवनी-शक्ति प्राप्त होती है। इस परम आवश्यक और विवादपूर्ण प्रश्नका उत्तर उतना ही सरल हो जाता है जितना कि हम प्रकृतिकी ओर ध्यान देते हैं। इसका खुलासा निम्नलिखित वाक्योंमें किया जा सकता है—

वे खाद्य पदार्थ—जिनका स्वाद हमको उनकी प्राकृतिक अवस्थामें अच्छा लगता है और खानेकी ओर रुचि बढ़ाता है—सदैव शीघ्र पच जाते हैं और हमें सबसे अधिक जीवनी-शक्ति प्रदान करते हैं।

जो खाद्य पदार्थ अग्निपर पकाकर, अंगारोंपर सेंककर, नमक, मसाला, खटाई आदि मिलाकर तथा सिरकेमें डालकर बनाये जाते हैं, उनकी पचनेकी शक्ति क्षीण हो जाती है, इस लिए वे उतनी जीवनी-शक्ति प्रदान नहीं कर सकते, जितनी कि प्रकृत अवस्थामें खाये हुए पदार्थ; चाहे उक्त प्रक्रियायें वस्तुओंके अधिक दिन ठहरनेमें भले ही सहायक हों।

आगपर पकाये हुए अथवा और किसी विधिसे तैयार किये हुए पदार्थोंमेंसे वे शीघ्रपाकी होते हैं, जो बहुत साधारण और सरल विधिसे तैयार हो जाते हैं और जिनमें नमक या मसाला नहींके बराबर डाला जाता है।

तरल पदार्थ—जैसे रसेदार यूप और पेय पदार्थ—जैसे अनेक प्रकारकी मदिरा, कोको, आदि—उन पदार्थोंकी अपेक्षा अत्यन्त गरिष्ठ होते हैं जो अपनी प्रकृत अवस्थामें मोटे और कड़े होनेसे चबाकर खाये जाते हैं। तरल पदार्थोंके नित्य सेवनसे कोष्ठ फैल जाता है और पाचन-शक्ति बिगड़ जाती है।

जो पदार्थ अपनी प्रकृत अवस्थामें मनुष्यको घृणा और अरुचि दिलाते और वमनकारक होते हैं, वे पक जानेपर चाहे कितने ही स्वादिष्ट क्यों न हो जायँ, स्वास्थ्यको अवश्य हानि पहुँचाते हैं। ऐसे पदार्थोंमें मांस सबसे पहले आता है। यह कोई भी न चाहेगा कि जीवित बैलके शरीरमें मुँह मोरे या भेड़का कच्चा मांस खा जाय। ऐसे पदार्थ तरह तरहके मसालों और सजावटोंसे हमारी स्वाभाविक बुद्धि और अनुभव शक्तिको मार्गभ्रष्ट कर देते हैं। जिन आहारोंको हमारी नाक, जीभ या प्रकृति नहीं लेती, वे कितने ही कृत्रिम उपायोंसे सिद्ध करके खाये जायँ, हमारे स्वास्थ्यको लाभ नहीं पहुँचा सकते।

स्वाभाविक आहारके सिद्धान्तोंको ठीक ठीक समझनेके लिए निम्न लिखित बातोंपर ध्यान देना आवश्यक है।

सब तरहके फल जो खानेके काम आते हैं खूब पक जानेकी अपेक्षा गढ़र और तनिक कच्ची हालतमें शीघ्र पच जाते हैं और अधिक बल देते हैं। किन्तु दुर्भाग्यसे लोगोंमें यह भ्रम फैला हुआ है कि गढ़र फल और अनाज लाभदायक नहीं होते; क्योंकि उनसे अतिसार, आम्रातिसार आदि व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। परन्तु ऐसा सोचना बिल्कुल भूल है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे मनुष्यको—जिसे मांस खानेकी ज्यादा आदत है—गढ़र फल खानेसे दस्त लग जाते हैं; परन्तु इससे तो हमको गढ़र फलोंकी पाचकताका पक्का सुबूत मिलता है। शीघ्र-

पचनेवाली हर चीजमें खमीर बहुत जल्द पैदा हो जाता है, जिससे वह जल्द पच जाती है। देरसे पचनेवाली चीजोंमें यह खमीरकी अर्थात् उद्वेगकी प्रक्रिया उतनी जल्दी नहीं होती। यदि हमने देरसे पचनेवाले कुछ पदार्थ खा लिये हैं, अर्थात् उनमें उद्वेग आसानीसे नहीं हो रहा है, तो कुछ कम पके फल खा लेनेसे उनमें भी उद्वेग तथा लयका कार्य आरम्भ हो जाता है। इस कारण दस्त होने लगते हैं, जिनसे हम बृथा ही डरते हैं। यह संशोधन-क्रिया शरीरके विजातीय द्रव्यको अधिक परिमाणमें शीघ्र बाहर निकाल देती है और मेरे अनुभवके अनुसार शरीरके लिए सर्वथा हितकारी है।

आपको मात्स्य होगा कि जो पालतू कुत्ते अपने स्वामीका विशेष लड़क्यार पानेके कारण खूब हट्ट पुष्ट हो जाते हैं, वे कभी कभी घास खाया करते हैं जो कि मांसाहारी जीवोंकी प्रकृतिके अनुकूल नहीं है। इसका कारण यह है कि जब उनकी पाचन-शक्ति अधिक भारी खाद्य पदार्थोंका बोझ पड़नेसे शिथिल हो जाती है, तब वे पशु होनेपर भी घासको शीघ्र पच जानेवाली समझकर पाचन-शक्तिकी सहायताके लिए खा लेते हैं।

इसी प्रकार जिन मनुष्योंको कोई उदर रोग हो या जिनकी पाचन-शक्ति बिगड़ गई हो, उनको उस समयतक पके फलोंकी बजाय गढ़र फल ही खाने चाहिए जब तक वे पके फलोंको पचानेकी शक्ति फिरसे प्राप्त न कर लें।

जो नियम फलोंके लिए है वही अन्नके लिए भी है। यदि उन्हें भी हम उनके बिल्कुल स्वाभाविक रूपमें—अर्थात् दानोंके रूपमें—खायें, तो वे भी अपनी अपनी पचनेकी योग्यता तथा बनाये जाने और खानेके प्रकारके अनुसार शीघ्र पच सकते हैं। यद्यपि दाने चबानेमें

दाँतोंको अधिक काम करना पड़ता है, परन्तु उससे मुँहमेंसे जो रस (लार) निकलकर भोजनके साथ मिलता है, वह पाचन-शक्तिको तीव्र कर देता है। परन्तु वे ही मनुष्य इस प्रकार चबाकर खा सकते हैं, जिनके दाँत मजबूत होते हैं। जिनके दाँत टूट गये हैं या कमजोर हैं, वे बेचारे मजबूर हैं। ऐसे लोगोंके लिए दल आया या पिसा हुआ अन्न है। रोगकी उग्रतामें यह अन्न अतीव हितकर होता है। ऐसा अन्न तबतक सेवन करना चाहिए, जबतक पाचन-शक्ति बिना छने आटेकी रोटीको पचानेके योग्य न हो जाय। ऐसे मनुष्योंके लिए मोटा दलिया और गद्दर फल अति उत्तम होते हैं। यदि रोग जरा भी साध्य होता है, तो रोगी इस प्रकारके आहारसे शीघ्र आरोग्य लाभ करने लगता है। क्योंकि अन्न अपने प्राकृतिक रूपमें (अर्थात् बिना उबाले हुए दोनोंके रूपमें) चबानेसे शीघ्र पच जाता है और आटेकी रोटी देरमें पचती है। परन्तु सब प्रकारके अन्नोकी रोटियोंमें गेहूँके बिना छने आटेकी रोटी बहुत शीघ्र पच जाती है। रोटी बनानेके लिए अन्नका मध्यभाग (अर्थात् मैदा या बारीक आटा) लिया जाता है और भूसी चोकर जो कि अन्नका बाह्य भाग है अलग करके और कामोंमें लगा लिया जाता है। इस तरह भोजन तो स्वादिष्ट हो जाता है, परन्तु यह महीन आटेकी रोटी बिना छने आटेकी रोटीकी अपेक्षा पाचन-शक्तिके लिए गरिष्ठ हो जाती है और कब्ज पैदा करती है। क्योंकि हम अन्नके उस भाग (चोकर) को अलग कर देते हैं, जो पाचन-क्रियामें सहायक होता है।

सब जानते हैं कि जई (Oats) घोड़ोंके लिए एक उत्तम खाद्य है; परन्तु यह बात प्रत्येक अश्व-पालक मानेगा कि जईकी उत्कृष्टता उसके उस रूपपर निर्भर है जिसमें कि वह घोड़ोंको खिलाई जाती है। यदि जई भूसी सहित खिलाई जायगी, तो जल्द पच जायगी और उससे घोड़ोंको बहुत

लाभ होगा। परन्तु यदि बिना भूँसीके खिलाई जायगी तो उतनी आसानीसे हज्म न हो सकेगी। इसके अतिरिक्त गेहूँ या देव-गंदुम आदि और कोई अन्न भी यदि बिना चोकरके खिलाया जायगा, तो उसके पाचनसे यह और भी ज्यादा साफ मादूम हो जायगा कि यह आहार उनके लिए बहुत ही गरिष्ठ है। बिना भूँसी या बिना चोकरकी जई तो घोड़ोंकी पाचन-शक्तिके लिए और भी भारी हो जाती है। यद्यपि ऐसी जईको खानेसे पशु मोटे हो जाते हैं, परन्तु उनको कब्ज हो जाता है, जिससे उनका शरीर काम नहीं देता।

अन्नको शीघ्र पचानेकी शक्ति उसकी भूँसी या चोकरमें ही होती है। आटेमें चोकरका अंश जितना अधिक होगा, वह उतना ही जल्दी पचनेवाला और हितकर होगा। समस्त अन्नोकी अपेक्षा जईमें चोकरका अंश अधिक रहता है। इस लिए वह गेहूँ और देव-गंदुम आदि अन्नोकी अपेक्षा घोड़ोंके लिए श्रेष्ठ खाद्य है।

यद्यपि जईकी भूँसी या चोकर बिना किसी रूपान्तरके घोड़ोंकी लीदमें देखी जाती है, तथापि इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वह घोड़ोंकी पाचन-शक्तिके लिए व्यर्थ थी। ऐसा समझना निरी भूल है। अच्छे पाचनके लिए भूँसी या चोकर भी उतनी ही आवश्यक है जितना अन्नका मध्यभाग। कोई भी खाद्य अपने प्रकृत रूपमें खानेसे पाचन-शक्तिके लिए सदा हितकारी होता है।

मनुष्यके लिए भी यह जानना आवश्यक है कि आहार किस रूपमें किया जाय। बहुतसे लोग कहा करते हैं कि हमें दालें नहीं पचतीं, उनसे हमारे पेटमें वायु बढ़ जाता है। परन्तु यह इसपर निर्भर है कि दालें बनाई कैसे जाती हैं। रसेदार, घुटी हुई या बहुत पतली दालें,—जैसी कि प्रायः खाई जाती हैं—अवश्य दुष्पच्यः

होती हैं। यदि उनसे पेटमें गड़बड़ हो, तो आश्चर्य ही क्या है। रसेदार दाल आदि खाद्य हमेशा त्याज्य हैं; क्योंकि वे बिना चबाये ही आमाशयमें पहुँचते हैं जो कि पाचन-शक्तिके लिए हितकर नहीं हैं। इसके विपरीत यदि हम मटरको थोड़े जलमें उबालें और उस जलको उसमें सुखा दें, तो उसके दाने पहलेकी तरह ही गोल बने रहेंगे और उसे हम रसेदार मटरकी अपेक्षा मुश्किलसे एक तिहाई मात्र खा सकेंगे। फिर हम यह भी देखेंगे कि छिलकोंसहित खाई हुई वह थोड़ासी भी मटर उदरमें कुछ विकार नहीं करता और झोलदार मटरकी अपेक्षा अधिक बल देती है।

मैं आपको एक मजदूरका हाल सुनाता हूँ, जिसको एक बार विवश होकर तीन मासतक प्रतिदिन केवल एक मुट्ठी कच्चे मटर खाकर जीवन-निर्वाह करना पड़ा था। वह अपने विपत्कालकी यह कथा बड़े हर्षके साथ सुनाया करता था। उसे सूखे मटरके दानोंको नरम करनेके लिए प्रायः घंटों अपने मुँहमें रखना पड़ता था, जिससे कि वे सहजमें चबाये जा सकें। इतना थोड़ा भोजन करने पर भी उसको अपना स्वास्थ्य बहुत अच्छा मालूम होता था और उसका विश्वास था कि वैसा तन्दुरुस्त वह अपने जीवनमें कभी नहीं रहा। इससे यह सिद्ध हुआ कि खाद्य पदार्थको प्रकृत अवस्थामें खाना ही सबसे उत्तम और बलकारक है। इससे प्रकृति हमें यह भी शिक्षा देती है कि बहुत थोड़े किन्तु सादे भोजनसे भी—यदि हम उसे प्राकृतिक अवस्थामें ठीक तौरपर खायें तो—बहुत बल प्राप्त हो सकता है।

इन वक्तव्योंसे आपको भली भाँति प्रकट हो गया होगा कि अतिपोषणसे किस प्रकार बचना चाहिए। परन्तु इसका ठीक ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता कि अतिपोषणसे बचनेके लिए प्रत्येक स्वस्थ

और अस्वस्थ मनुष्यको कौनसा पदार्थ कितने परिणाममें खाना चाहिए । ऐसे कोई दो रोगी कदाचित् ही मिलेंगे, जिनकी जठराग्नि समान हो । अतएव समस्त जनताके लिए भोजनकी उचित मात्रा तथा पथ्यका कोई सामान्य नियम नहीं बन सकता । यह बात प्रत्येक मनुष्यको स्वयं जान लेनी चाहिए कि कौनसा पदार्थ मेरे लिए सबसे अधिक उपयोगी है । इसलिए यह पर्याप्त होगा कि आहारके भिन्न भिन्न पदार्थोंकी परिपाक-शक्तिके विषयमें तुलनात्मक विवेचना कर दी जाय ।

पाचन-क्रियाके सम्बन्धमें विचार करनेके लिए हमें प्राचीन चिकित्सकोंसे कोई निश्चित सिद्धान्त प्राप्त नहीं होते । रसायन शास्त्रके बहुत सूक्ष्म आविष्कार जो कि उन्होंने काँटों, भभकों, तथा अन्य यन्त्रोंके द्वारा किये हैं, हमारी दृष्टिमें बहुत ही कम उपयोगी हैं ।

पाचन-क्रिया उद्वेग क्रियाका ही दूसरा नाम है । इसके द्वारा खाये हुए पदार्थोंका रूप विलकुल बदल जाता है । उसमेंसे शरीर अपने उपयुक्त भागको—जो उसमें लय होने योग्य होता है—ग्रहण कर लेता है । वे सब भोज्य पदार्थ—जिनकी उद्वेगजनक-शक्ति अर्थात् पाचनताको हम कृत्रिम उपायोंसे जितना ही बदल देते हैं, अथवा नमक या मीठा डालकर या अग्निपर पकाकर दमन कर देते हैं—पाचनशक्तिके लिए उतने ही कठिन हो जाते हैं, अर्थात् उन पदार्थोंको अपनेमें लय करनेके लिए शरीरको बहुत झंझट उठानी पड़ती है । वे पदार्थ उद्वेगशक्तिपर ऐसा प्रभाव पड़ जानेके कारण शरीरमें लय होनेके लिए स्वाभाविक कालसे अधिक समय लेते हैं । अर्थात् आहारको उचित अवस्थामें पहुँचानेके लिए पाकाशयमें जितनी देर रहना चाहिए, उससे अधिक समयतक रहना पड़ता है । इसका परिणाम यह होता है कि उद्वेगकी

अवस्था जटिल हो जाती है जिससे आन्तरिक गर्मी बढ़ जाती है। आन्तरिक गर्मीके अधिक उत्पन्न होनेसे आँतोंमें स्थित मल अधिक कड़ा और काला पड़ जाता है।

यह प्रसिद्ध बात है कि भोजनकी परिपाक-क्रिया मुँहसे ही आरम्भ हो जाती है, फिर खाद्य पदार्थ गलेसे उतरकर आमाशयमें पहुँचते हैं, वहाँ उनमें पाचक रस (पित्त) मिलता है और उनपर अपना प्रभाव डालता है। इसके बाद उनमें लयक्रिया आरम्भ होती है, जिससे उनका रूप बदल जाता है। आँतोंमें उद्वेग-क्रियाकी अत्यन्त अधिक वृद्धि होती है। वहाँपर भोजनमें अन्नस्थ रस तथा अन्य अनेक प्रकारके पाचक रस मिल जाते हैं।

भोजनका जो भाग शरीरके लिए बेकार होता है, वह आँतों, गुर्दों और त्वचाके द्वारा शरीरसे बाहर निकल जाता है। किन्तु यह देखा जाता है कि अनेक पशु तथा जीव जन्तु हड्डियाँ, पत्थरके टुकड़े, खड़िया मिट्टी आदि अनेक न पचने योग्य वस्तुओंको भी अल्पकालमें ही पूर्ण-रूपसे पचा डालते हैं। (ये वस्तुएँ मुर्गियोंके पेटमें प्रायः पाई जाती हैं।) परन्तु उनके मलकी परीक्षा करनेसे उक्त पदार्थ नहीं दिखाई देते। इसके विपरीत मनुष्योंकी बड़ी आँतमें प्रायः एक सप्ताह पर्यन्त भोजन स्थित रहता है, इससे उसमें एक असामान्य उद्वेग क्रिया उत्पन्न होती है। उसके द्वारा जो वायु (गैस) पैदा होती है, उसका शरीर-पोषणसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। वह त्वचातक जाकर पसीनेके, अपान वायुके या किसी अदृश्य रूपमें बाहर निकल जाती है। इस लिए अपान वायुको रोकना सर्वथा अनुचित है। इससे शरीरको बड़ी हानि

जब कि मल कुछ भूरे-रंगका, नरम, बँधा हुआ और चिकना हो, अर्थात् उसपर लसदार तह जमी हो, (इससे यह विदित होता है कि शरीरके रस प्रायः लसदार होते हैं) तब समझना चाहिए कि पाचन-क्रिया पूर्ण साम्यावस्थामें है । मल आकारमें गोल डंडीकी तरह होना चाहिए और निकलते समय शरीरको बिल्कुल न लगना चाहिए । यह बात जब कि हमको सम्पूर्ण आरोग्य पशु-समाजमें मिलती है, तब स्वस्थ मनुष्योंमें भी अवश्य मिलनी चाहिए । मनुष्यके शरीरमें मल निकल-नेका मार्ग कुछ ऐसे उत्तम ढंगसे बना है कि यदि पाचन-क्रिया अनु-कूल अवस्थामें हो, तो वह शरीरके किसी भागको भी दूषित किए और छुए बिना सरलतासे बाहर निकल जाता है । प्रायः शौच-कर्ममें काग-जका अथवा और किसी शुद्धि-विधानका व्यवहार केवल रोगी मनुष्यों-हीके लिए है । ग्रामीण स्वस्थ जनताको ऐसा करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती । इसके अतिरिक्त मलमें असह्य और घिनौनी दुर्गन्ध न आनी चाहिए ।

यदि इस प्रकारकी गन्ध आती हो, तो समझना चाहिए कि उद्वेग-क्रियामें कोई विपमता उत्पन्न हो गई है । इससे आँतोंमें खुस्की और कब्ज हो जाता है । खुस्कीसे आँतोंमें मल जम जाता है और फिर किसी प्रकार भी अपना स्थान नहीं छोड़ता, परन्तु उद्वेग-क्रिया उस समय भी होती रहती है, जिससे उस कठिन मलका स्वरूप बदल जाता है और पेटमें वायु बढ़ जाती है । यह दूषित वायु आगे चलकर सब शरीरमें घुसने लगती है । फिर उद्वेगके कारण शरीरमें दबाव और तनाव होने लगता है, जिसकी प्रगति शरीरके अन्त्यभागों, अर्थात् छोरों और त्वचाकी ओर होने लगती है । यदि त्वचा अपना कार्य करनेमें शिथिल होती है, तो वह वायुरूप दूषित द्रव्य बाहर नहीं

निकल सकता और त्वचाके नीचे इकट्ठा होने लगता है, जिससे त्वचा अपने कार्यमें और भी मन्द पड़ती जाती है और उसकी स्वाभाविक गर्मी कम होने लगती है। उसकी बारीक रक्तवाहिनी नाड़ियाँ विजातीय द्रव्यसे इतनी भर जाती हैं कि उनके द्वारा शुद्ध रक्त (जिसके बिना त्वचामें गर्मी नहीं आ सकती) शरीरके बाह्य भागों तक नहीं जाने पाता। इसका फल यह होता है कि शरीरकी बाह्य ऊष्मा कम हो जाती है और त्वचाका रंग अस्वाभाविक हो जाता है। प्रायः त्वचापर मुर्दनी रंग छा जाता है। (इस पुस्तकके द्वितीय भागमें क्लोरोसिस या एक विशेष प्रकारके पाण्डु रोगकी व्याख्यामें इस विषयको देखिए।) परन्तु असली रंगमें विजातीय द्रव्यके भेदसे तथा रुधिरकी दशाके कारण विभिन्नता हुआ करती है। यदि रक्तमें मूत्रका भाग अधिक मिल जाता है, तो त्वचाका रंग, लाल हो जाता है। और और दशाओंमें वह पीले, मटियले या हरे रंगकी होती है। जब बाहर ठंड होती है और उससे विपरीत भीतर गर्मी, तो वायुरूप दूषित द्रव्य और भी कठोर हो जाता है। इस प्रकार भीतरके दबाव और बाहरकी ठंडके बीचमें दबनेसे वह सारे शरीरकी त्वचामें फैलने लगता है। इस तरह शरीरके रूपमें जो धीरे धीरे रूपान्तर हुआ करता है, उसीको हम विजातीय द्रव्यका भार कहते हैं। इस भारकी न्यूनाधिकताकी जाँच मेरी नवीन निदान-विधि ' मुखाकृति-विज्ञान ' के द्वारा भलीभाँति हो सकती है। इसी प्रकार सिरकी सारी व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे आँख, कान, दिल, दिमागकी बीमारियाँ और सिरके दर्द आदि। इस अकाव्य सिद्धान्तको जान लेनेसे रोगीकी चिकित्सामें जो कठिनाइयाँ पड़ती हैं, वे एकदम सरल हो जाती हैं और हमें यह भी पता चल जाता है कि केवल स्थानिक चिकित्सा करनेसे रोग निर्मूल नहीं होता।

आजकल शुद्ध पाचन-शक्तिके सम्बन्धमें लोगोंके जो खयाल हैं, उन पर आश्चर्य होता है। कोई कहता है कि मेरी पाचन-शक्ति सबसे अच्छी है। मैं इतना अधिक मांस खा जाता हूँ और इतने गिलास मद्य पी जाता हूँ, परन्तु मुझे कभी बदहज्मी नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ मेरे अनुकूल पड़ता है और भूख खूब लगती है। यदि इस बातको सच भी मान लिया जाय, तो भी ऐसे खान-पानसे उसी प्रकार हानि होती है, जिस प्रकार प्रतिदिन १० चुरुट पीनेसे होती है। तमाखू शरीरके लिए विष है और सदा रहेगा। जिस शरीरको तमाखूके विष (निकोटिन) को बाहर निकालनेका श्रम उठाना पड़ता है, उसे अवश्य हानि पहुँचती है। खान-पानके विषयमें भी बिल्कुल यही बात है। एक स्वस्थ आमाशय अपने प्रतिकूल किसी भी पदार्थको थोड़ासा भी ग्रहण नहीं करेगा। खड़ी डकारोंके आने, हृदयमें दाह और व्याकुलता होने आदि लक्षणोंसे यह प्रतीत हो जायगा कि उदरको आवश्यकतासे अधिक भरा गया है। परन्तु जब उदरकी शक्ति धीरे धीरे क्षीण हो जाती है, तब उसमें बेरोक सब प्रकारके भोजन समाये चले जाते हैं। क्योंकि वह अपने प्रतिकूल और अधिक भोजनको रोकनेमें असमर्थ हो जाती है। अथवा यह कहिए कि उदरकी प्राकृतिक क्रिया या उसका विवेक नष्ट हो जाता है। उस समय भोजन पूर्ण रूपसे पचे बिना ही पाकाशयसे बाहर निकल जाता है, शरीरको उससे कुछ भी लाभ नहीं होता।

यह ध्यान रहे कि नाना प्रकारके खाद्य पदार्थोंका पोषक मूल्य पूर्ण रूपसे उदरकी पाचन-शक्ति और शरीरकी उस शक्तिपर निर्भर है जो भोजनको शरीरमें लय करती है। शरीरकी यह शक्ति खाद्य पदार्थोंके भीतर रहनेवाले पौष्टिक तत्त्वके प्रतिशत परिमाणसे बिल्कुल

ही दूसरी वस्तु है। बिना छूने अर्थात् भूसी चोकर मिले आटेकी रोटी, ताजे फल, शाक और ऐसी दालें तथा अन्नेके पदार्थ—जो सिर्फ थोड़े पानीमें उबालकर बनाये गये हों और जिन्हें घी, तेल, चर्बी, नमक, मिर्च, मसाले, या मिठाई डालकर न बनाया गया हो—बढ़ियासे बढ़िया शराब, मांस, अण्डे और पनीर आदि पदार्थोंकी अपेक्षा शरीरमें शीघ्र लय हो जाते हैं। यद्यपि रासायनिक परीक्षा करनेसे मद्य, मांस आदिमें भी वे तत्त्व पाये जाते हैं, जिनसे मनुष्य-शरीर बना है, परन्तु यह कोई युक्ति नहीं है कि ये ही पदार्थ हमारा समुचित पोषण भी कर सकते हैं।

अनाजके दानों जैसे सीधे सादे खाद्य पदार्थोंमेंसे शरीर उन तत्त्वोंको आसानीसे खींच लेता है जिन्हें रसायन-शास्त्रने उसकी स्थितिके लिए उपयोगी बताया है। यदि बिना छूने आटेकी रोटीको अच्छी तरह चबाकर खाया जाय जिससे कि उसमें लार अधिक परिमाणमें मिल जाय, तो उदरमें पहुँचते ही उसमें अम्लता आ जाती है। फिर पाचन-क्रियाके द्वारा वह खाद्य पदार्थ आवश्यक और शरीर-पोषक तत्त्वोंमें परिणत हो जाता है, जिससे मद्य, शर्करा आदि स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। ये पदार्थ शरीरमें शीघ्र लीन हो जाते हैं। क्योंकि शरीर इन्हें स्वयं बनाता है। शरीरमें लय न होनेवाले अन्नेके अनुपयोगी अंश एक निर्दिष्ट प्रकारके रूप और रंगको धारण करके शरीरसे बाहर निकल जाते हैं।

मेरी बातलाई हुई विधियों और प्रमाणोंपर जनता भले ही विश्वास न करे, परन्तु नित्य नई बढ़नेवाली व्याधियोंकी सेनाके सामने लड़ाईके मैदानसे जो औषध-शास्त्रकी सत्यताके पैर उखड़ रहे हैं, उससे वह इस औषध-सम्प्रदायकी योग्यताके वजनको इस काँटेपर तौल सकती है। इन भले आदमियोंकी शिक्षासे कितने मनुष्य घोर यातना उठा रहे

हैं, इसका कोई हिसाब नहीं। कितने ही मनुष्य इसी धोखेमें पड़े रह-नेके कारण चतुर और बुद्धिमान बनकर अपने हाथों प्रकृतिके निय-मोंका उल्लङ्घन कर रहे हैं और प्रकृति उन्हें उसका दण्ड रोगोंके रूपमें दे रही है।

यहाँ हम एक पत्रका अंश प्रकाशित करते हैं जो कि हवाई द्वीपके प्रधान नगर होनोलुलुसे एक उत्साही पादरीने हमारे पास भेजा है। वह लिखते हैं—“ इस देशके प्राचीन निवासी योरोपियनोंके यहाँ आनेसे पूर्व पोई (हानोद्वल्लका स्वाभाविक बलकारक खाद्य, जिसमें तारूकी जड़को पानीमें पीसकर लेहीसी बनाई जाती है) में केले और मेवा मिलाकर खाते थे और जीवन-निर्वाह करते थे। शुद्ध जलके सिवा और कुछ नहीं पीते थे। उनके शरीर बड़े बड़े थे और उनमें स्वास्थ्य, बल और कर्मकी प्रचुरता थी। किन्तु जब योरोपियन लोग यहाँ आये और उन्होंने कहा कि केवल मांस और मद्य विशेषकर ‘ जिन ’ नामक मद्यसे ही शारीरिक बल प्राप्त हो सकता है, तबसे यहाँकी दशा बिल्कुल बदल गई। सब मांसाहारी हो गये और मद्य पीने लगे। इसके लिए अन्य देशोंसे पशु लाये गये और मदिराने समस्त देशपर अपना पूर्ण अधि-कार जमा लिया। इस हवाई द्वीपके इतिहासमें उस हवाई सज्जनका नाम भी लिखा है, जिसने सबसे प्रथम १८ मई सन् १८१९ को प्रत्यक्ष रूपसे अपने रहन-सहनमें परिवर्तन किया था ! आजकल यहाँ सूअ-रका सूखा मांस स्वाभाविक भोजन और ‘ जिन ’ जातीय पेय माना जाता है। इसका दुष्परिणाम इतना बुरा हुआ है कि अब इस देशके अधिकांश निवासी (जिनको कनक कहते हैं) फोड़े, फुन्सी आदि रक्त-विकार और श्वास कास आदि व्याधियोंसे पीड़ित रहने लगे हैं। इसके अतिरिक्त कोढ़ तथा जननेन्द्रियके रोग भी यहाँके अनेक मनुष्योंमें फैल

गये हैं। इससे यह प्रकट है कि यहाँके लोगोंने नई सभ्यतासे रहन-सहनका जो नया ढंग सीखा है, उसीसे ये चिररोगी बन गये हैं। ” यह उदाहरण इस बातका दूसरा प्रमाण है कि औषध-सम्प्रदायके द्वारा निर्णीत पथ्यापथ्यका सिद्धान्त भ्रमपूर्ण और असंगत है। उपर्युक्त देशका जल-वायु गर्म है, इस लिए वहाँ रोगोंको फैलनेमें और भी प्राकृतिक सहायता मिल गई। यदि वहाँका जल-वायु योरोप जैसा ठंडा होता, तो उनकी वृद्धि बहुत धीरे धीरे होती।

अब हम उस सिद्धान्तकी आलोचना करना चाहते हैं जिसपर प्राकृतिक आहारकी विधि अवलम्बित है और जिसका ई० हेरिंग साहबने अपने व्याख्यानमें विशदरूपसे प्रतिपादन किया है।

हमारे शरीरमें आहार जानेके दो मार्ग हैं—फेफड़े और उदर। रक्षाके लिए इन दोनों स्थानोंपर एक एक द्वारपाल नियत है; अर्थात् फेफड़ोंके द्वारपर नाक और उदरके द्वारपर जीभ। परन्तु दुर्भाग्यसे इन दोनों द्वारपालोंमेंसे एक भी ऐसा नहीं है जो कि धोखेमें न आ जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पहाड़की शुद्ध वायु ही हमारे फेफड़ोंका मुख्य आहार है। उस वायुमें स्वास लेनेसे ही हमारी प्राणेन्द्रिय प्रसन्न होती है। जिनका स्वभाव ऐसी स्वच्छ वायुमें रहनेका है, वे कुछ घंटोंके लिए भी गन्दी वायुमें नहीं रह सकते; क्योंकि उनकी नाक प्रत्येक साँसपर उन्हें सावधान करती रहती है। यदि इस प्रकार सावधान करने पर भी कोई मनुष्य बारम्बार गन्दी वायुके स्थानोंमें जाता रहता है, तो उसकी प्राणशक्ति धीरे धीरे क्षीण होने लगती है और अन्तमें वह सर्वथा नष्ट हो जाती है। फिर प्राणेन्द्रियको वह दूषित वायु ही अच्छी माछूम होने लगती है और उसीको ग्रहण करनेकी उसे आदत पड़ जाती है। इस

प्रकार हम फेफड़ोंके द्वारपालको कर्तव्य-भ्रष्ट कर देते हैं, जिसकी शुद्धिके लिए दीर्घकालकी आवश्यकता होती है ।

प्रत्येक मिनटमें प्रायः १६ से २० बार तक साँस आता जाता है, इससे विजातीय द्रव्य शरीरमें सीधा अपने आप प्रवेश करता है और इसका बुरा परिणाम भी शीघ्र ही प्रकट हो जाता है । उस समय यद्यपि प्राणशक्ति हगारा साथ छोड़ देती है, किन्तु हमारी बुद्धि हमें रास्ता दिखाती रहती है ।

हमारी रसना-इन्द्रिय या जीभकी दशा इससे भी अधिक शोचनीय है । वह बाल्यावस्थाहैसे बिगाड़ दी जाती है, इससे उसका विश्वास नहीं किया जा सकता और यह तो सभी जानते हैं कि हमारी जिह्वा हमारी आदतोंके अनुकूल हो जाया करती है । परन्तु यह आवश्यक है कि शरीरको शुद्ध आहार मिलना चाहिए । प्रकृति-विरुद्ध आहारमें ऐसे पदार्थ मिले होते हैं, जो शरीरसे मेल नहीं खाते; इसी लिए वे व्याधि उत्पन्न कर देते हैं जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है ।

अब हमें यह विचार करना चाहिए कि हमारा स्वाभाविक आहार क्या है ।

जिह्वा परसे तो हमारा विश्वास उठ गया है, इसलिए अब हमें इस प्रश्नका उत्तर बड़ी सावधानीसे और और बातोंपर विचार करके और उनसे परिणाम निकालकर लेना चाहिए ।

भले प्रकार विचार करनेसे यह प्रश्न निरा वैज्ञानिक मालूम होता है, इसलिए हमें विज्ञाननिर्दिष्ट परीक्षाके एकमात्र मार्ग अनुमान-प्रमाणसे काम लेना चाहिए और विशिष्ट दशाओंसे व्यापक परिणाम निकालने चाहिए ।

इसे हम तीन भागोंमें बाँटते हैं—(१) विचारोंको शृङ्खलाबद्ध करना, (२) उनसे परिणाम निकालना, और (३) फिर उनका प्रयोग करके जाँच करना ।

विचारोंका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है । कोई इसका पारगामी नहीं हो सकता । यदि हम वनस्पति-जगत्का अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमारे लिए इतना ही बहुत है और यही सम्भव भी है कि किसी देशके एक भागसे जितना थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं यथा-साध्य घूम-फिरकर कर लें ।

खाद्य-सामग्रीका वैज्ञानिक निर्णय करनेके लिए हमें इस बातपर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है कि हम सीमासे आगे न बढ़ जायँ, क्योंकि यह विषय अपार है । यदि हम सीमाका निश्चय किये बिना ही इस मार्गपर चलेंगे, तो यह कभी समाप्त ही न हो सकेगा और हमें प्रत्येक जीवके खान-पानकी खोज करनी पड़ेगी । हमारे लिए केवल यही उचित है कि परिणाम निकालने और आवश्यक प्रयोगोंको आरम्भ करनेके लिए केवल उन उच्चश्रेणीके जीवोंपर ही अपना आधार रखें, जो मनुष्य-से मिलते जुलते हैं । विस्तारभयसे मैं यह मान लेता हूँ कि आप उन बातोंसे अभिन्न ही हैं जिनमें कि सर्वसाधारण सहमत हैं और जो इतनी स्पष्ट हैं कि उनके लिए किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है, अर्थात् जो सिद्ध हो चुकी हैं ।

जीवनपर दृष्टि डालते ही यह बात समझमें आ जाती है कि प्रकृतिके साम्राज्यमें जीवधारियोंको अपने शरीरमें होनेवाली परिवर्तन-क्रियाको जारी रखनेके लिए भोजनकी आवश्यकता है और खाद्य सामग्रिके चुनावमें कोई पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है । जो पौधा समुद्रतटवर्ती खारी क्षेत्रमें खूब फलता फूलता है, वह समुद्रसे दूरकी भूमिमें शुष्क और

नष्ट हो जाता है। जो वृक्ष शुष्क और रेतीले स्थानमें उत्पन्न होकर हरे हरे नव पल्लवोंसे सुशोभित होता है, वह हरे भरे पुष्पोद्यानमें जाकर सूख जाता है। इसी प्रकार खूब जोती हुई भूमिमें अधिक खाद और तरीमें उत्पन्न होनेवाले वृक्ष रेतीली भूमिमें नहीं उग सकते।

बिलकुल यही बातें पशु-जगत्में देखी जाती हैं और इतनी स्पष्टतासे कि हम इन्हींके द्वारा जीवोंका उनके खान-पानके अनुसार पृथक् पृथक् श्रेणीमें विभाग कर सकते हैं। आहारकी दृष्टिसे पशुओंके साधारणतया दो भेद हैं—१ मांसभोजी और २ शष्पभोजी। ये साधारण और स्थूल विभाग हैं। अधिक ध्यान देने और विचार करनेसे विदित होता है कि कृमिभक्षी जीवोंको मांसाहारी जीवोंसे अलग रखना चाहिए और शष्पभोजी जीवोंकी भी दो श्रेणियाँ हैं; एक तो तृणभोजी जो कि केवल हरे शाक या घास खाते हैं और दूसरे फलाहारी जो कि फलोंपर निर्वाह करते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे जीव भी हैं जो दोनों प्रकारका आहार करते हैं। उन्हें हम सर्वभक्षी कह सकते हैं। प्रत्येक श्रेणीके जीवोंके उन अवयवोंपर भी ध्यान देनेकी आवश्यकता है जिनके द्वारा वे भोजनका रस ग्रहण करके शरीरका पोषण करते हैं। ये अवयव भोजनके निर्णयमें ऐसा ठीक पता देते हैं कि किसी जीवका केवल अस्थि-पंजर देखकर ही यह अनुमान किया जा सकता है कि वह किस श्रेणीका है। इसके लिए अब हम अपना ध्यान दाँत, आमाशय और उन इन्द्रियोंकी ओर देते हैं, जो जीवको उसके खास तरहके खाद्यमें रुचि उत्पन्न कराती हैं— तथा उस रीतिकी ओर भी जिससे वह अपने शिशुओंका पालन-पोषण करता है। हमारे विचारके मैदानमें ये ही चार यात्रायें हैं, जो इस विषयकी खोजमें हमें करनी हैं।

दाँत तीन प्रकारके होते हैं—(१) कुतरने या काटनेवाले (Incisors), (२) खूँटे (Canine) जिनको काले या सुये भी कहते हैं और (३) दाढ़ें अर्थात् चाबनेवाले दाँत (Molars) ।

मांसाहारी जीवोंमें कुतरनेवाले दाँत कम बढ़ते हैं, क्यों कि वे बहुत कम काममें आते हैं । परन्तु इसके विपरीत उनके कीले इतने लम्बे होते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है । ये कीले अन्य दाँतोंसे बहुत आगेको निकले हुए होते हैं और उनके सामनेकी पंक्तिमें उनके ठीक ठीक बैठनेके लिए खाली जगह रहती है । ये नुकीले, चिकने और कुछ मुड़े हुए होते हैं । इनसे चबानेका काम किसी प्रकार भी नहीं लिया जा सकता । ये केवल शिकारको पकड़ने और उसे चीरने फाड़नेके लिए उपयोगी होते हैं । मांसाहारी जीवोंके इन दाँतोंको अँगरेज़ोंमें (Fangs) बड़े दाँत कहते हैं । इस नामसे ही साफ मालूम हो जाता है कि ये किस कामके हैं । मांसको काटकर छोटे छोटे टुकड़े बनानेके लिए उन पिछले दाँतोंसे काम लिया जाता है, जिनका अग्रभाग नुकीला और काँटेदार होता है । इन काँटोंकी नोकसे नोक नहीं मिलती, किन्तु एक काँटा दूसरे काँटके पास सहजमें पैठ जाता है, जिससे चाबते समय मांसके तन्तु बिल्कुल अलग अलग हो जाते हैं । यदि जबड़ा इधर उधर चलाया जायगा, तो यह प्रक्रिया ठीक तौरसे न हो सकेगी और ऐसा करना संभव भी नहीं । इससे यह सिद्ध होता है कि मांसाहारी जीव अपने आहारको दाँतोंसे पीस नहीं सकते । हम देखते ही हैं कि कुत्ते रोटीके टुकड़ोंको अच्छी तरह नहीं चबा सकते—उन्हें बिना चबाये ही निगल जाना पड़ता है ।

तृणभोजी जीवोंमें कुतरने और काटनेवाले दाँत बहुत बड़े होते हैं, जो घास आदिके कुतरनेका काम करते हैं । इनके कीले प्रायः छोटे

होते हैं, परन्तु किसी किसी पशुमें हम इनको बहुत बढ़ा हुआ देखते हैं, जो उस पशुकी शरीर-रक्षाके लिए शस्त्रका काम देते हैं—जैसे हाथीके दाँत। दाढ़ें अर्थात् पीसनेवाले दाँत अग्रभागमें चौड़े होते हैं और उनके दोनों ओर चमकीली पालिशसी लगी होती है। ये दाँत आहारको अच्छा तरह चबाने और पीसनेके लिए अत्यन्त उपयुक्त हैं।

पशुओंमें फलाहारी जीव बहुत कम हैं। फलाहारी जीवोंकी जाँच और अन्वेषण करनेके लिए हमें बन्दरोंको लेना चाहिए, जो आकार-प्रकारमें मनुष्यसे बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। इस प्रकारके फलाहारी जीवोंमें ही हम प्रायः एकसे दाँत पाते हैं, अर्थात् वे छोटे बड़े नहीं होते। उनके सब दाँतोंकी लम्बाई प्रायः एकसी होती है, केवल कीले अन्य दाँतोंसे कुछ बड़े होते हैं। परन्तु वे भी इतने बड़े नहीं होते कि मांसाहारी पशुओंके कीलों जैसा काम कर सकें। इन दाँतोंका आकार तो कीलों जैसा होता है, किन्तु उनकी नोक तेज नहीं होती, इसलिए उनसे शिकार पकड़नेका काम नहीं लिया जा सकता। परन्तु वे होते बहुत मजबूत हैं। हम प्रायः देखते हैं कि बन्दर अपने दाँतोंसे आश्चर्यजनक काम लेते हैं। बन्दरोंकी दाढ़ोंके सिरोंपर चमकती हुई पालिशके कई परत होते हैं और उनका नीचेका जबड़ा इधर उधरको घूम सकता है और खाद्यको पीसनेके लिए चक्कीका काम देता है। उनकी किसी भी दाढ़का नुकीला न होना इस बातको साबित करता है कि वे फलाहारी हैं और उनके मुँहमें मांस चबानेके योग्य एक भी दाँत नहीं है। कुछ पशु ऐसे भी हैं जो सब प्रकारके पदार्थ खाते हैं और इस लिए उनके नुकीले और चपटे दोनों प्रकारके दाँत होते हैं। रीछ इसी श्रेणीका पशु है, इसलिए उसके दोनों प्रकारके दाँत हैं—चौड़े भी और

नुकीले भी । क्योंकि नुकीले दाँतोंके बिना वह शिकार नहीं पकड़ सकता और कुतरने और काटनेवाले दाँतोंके बिना फलादि नहीं खा सकता ।

अब प्रश्न यह है कि इन सब प्रकारके जीवोंके दाँतोंमेंसे मनुष्यके दाँत किसके समान हैं । निस्सन्देह वे फलाहारी जीवोंसे बिल्कुल मिलते हैं; फिर भी उसके कीले इतने लम्बे नहीं होते, जितने कि अन्य फलाहारी जीवोंके होते हैं । वे अन्य दाँतोंके समान ही बढ़ते हैं । परन्तु यह कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है । केवल इन कीलोंके कारण ही यह सिद्ध किया जाता है कि मनुष्य मांसभक्षी है । परन्तु यह ठीक नहीं है । यदि मनुष्यके कीले वैसा ही काम देते जैसा कि मांसाहारी जीवोंके देते हैं और यदि रीछके समान हमारे मुँहमें भी थोड़ेसे पिछले दाँत मांस काटनेके लिए होते, तो अवश्य ही हमें यह बात माननेमें कोई आपत्ति न होती ।

इन समस्त विवेचनाओंसे नीचे लिखे परिणाम निकलते हैं—

(१) मनुष्यके दाँत मांसभोजी जीवोंसे मेल नहीं खाते, अतएव वह मांसाहारी नहीं है ।

(२) वे तृणभोजी जीवोंसे भी नहीं मिलते, इसलिए वह तृणभोजी भी नहीं है ।

(३) वे उन जीवोंके सदृश भी नहीं हैं जो सर्वभक्षी हैं, अतः वह सर्वभक्षी भी नहीं है ।

(४) वे फलाहारी बन्दरोंके दाँतोंसे बहुत कुछ मिलते हैं, इसलिए यह बहुत मुमकिन है कि मनुष्य फलाहारी जीव है ।

प्रतिवादी लोग पूर्वोक्त झूठी युक्तिको बिगाड़कर अपने मतका इस औरपर प्रतिपादन करते हैं कि दाँतोंकी दृष्टिसे मनुष्य न तो केवल

मांसाहारी है और न केवल शष्पभोजी, इस लिए वह दोनोंके बीचका है, अर्थात् उभयभक्षी है। परन्तु हमारी दृष्टिमें यह निर्णय युक्तिवादके सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि बीचका या मध्य अवस्थाका विचार इतना व्यापक और अनिश्चित होता है कि विज्ञान-कोटिमें इसके लिए कोई स्थान ही नहीं है। मध्य दशा गणितशास्त्रमें ही जगह पा सकती है।

अब हम खोजके बड़े मैदानमें अपनी दूसरी यात्रा आरम्भ करते हैं और इसके लिए आपका ध्यान पशुओंके भेदे (आमाशय) की ओर आकर्षित करते हैं। मांसाहारी जीवोंका उदर छोटा और प्रायः गोल होता है और उनकी आँतोंकी लम्बाई शरीरकी लम्बाईसे तिगुनीसे पचगुनी तक होती है। (शरीरकी लम्बाईका माप मुँहसे पूँछकी जड़तक लेना चाहिए।) तृणभोजी विशेषकर जुगाली करनेवाले जीवोंका पेट लम्बा चौड़ा होता है और उनकी आँतें शरीरकी लम्बाईसे २० से २८ गुनीतक अधिक लम्बी होती हैं। इसके अतिरिक्त फलहारी जीवोंका पेट मांसाहारी जीवोंके पेटसे कुछ अधिक चौड़ा होता है और उनके पेटका सिलसिला छोटी आँतके अन्दर तक होता है, जिसको दूसरा पेट कहते हैं। फलहारी पशुओंकी आँतें शरीरकी लम्बाईसे १० से १२ गुनी तक लम्बी होती हैं। शरीर-रचना-शास्त्र (एनाटोमी) के ग्रन्थोंमें यह सिद्ध किया गया है कि अन्न-नाली मनुष्यके शरीरकी लम्बाईसे तिगुनीसे पचगुनी तक लम्बी होती है, इसी लिए मनुष्यका स्वाभाविक आहार मांस है। परन्तु इस कथनसे प्रकृतिपर पूर्वापरविरोधी काम करनेका आरोप आता है—दातोंकी दृष्टिसे तो उसने मानव-जातिको सर्वभक्षी जीव बनाया और आँतोंकी दृष्टिसे वह केवल मांसाहारी सिद्ध हुआ। परन्तु यह विरोध मिथ्या और आभासमात्र है। इस परीक्षामें शरीरकी लम्बाई सिरकी चोटीसे लेकर पाँवके तलुवे तक नापी गई है, परन्तु अन्य जीवोंके

समान मनुष्यका माप केवल मुखसे लेकर मेरुदण्डकी अस्थिके अन्तिम भाग तक होना चाहिए। इसलिए ऊपर जो परिणाम निकाला गया है, वह ठीक नहीं है। मनुष्यकी औँतोंकी लम्बाई १६ फीटसे २८ फीट तक उसके शरीरकी लम्बाईके अनुसार होती है। देहकी लम्बाई सिरसे लेकर मेरुदण्डके अन्तिम भाग तक १॥ से २॥ फीट तक है। १६ से २८ फीटकी १॥ से २॥ फीटके द्वारा भाग देनेसे १० या ११ उत्तर आता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यकी औँतें देहसे १० या ११ गुनी लम्बी हैं, इसलिए वह केवल फलाहारी जीव है।

अब हम तीसरी यात्राके आरम्भमें भोजनके संकेत-स्तम्भों अर्थात् इन्द्रियोंपर विचार करते हैं। जिह्वा और घ्राण ये दो इन्द्रियाँ पशुओंको उनके खाद्यकी ओर प्रेरित और उसमें उनकी रुचि उत्पन्न करती हैं। जब कोई हिंसक पशु अपने शिकारकी गन्ध पाता है, तो उसकी औँखें चमकने लगती हैं, वह जीभके चटखोरेके साथ शिकारपर झपटता है और फिर उसे मारकर उसके गर्म रुधिरको बड़े चावसे चप-चप करके पीता है। इससे उसकी आत्मा बहुत सन्तुष्ट होती है। इसके विरुद्ध शष्पभोजी जीव अपने सहचरोंके बीचमेंसे चुपचाप चला जाता है और बिना किसी विशेष कारणके उत्पन्न हुए उनपर कभी आक्रमण नहीं करता। उसकी घ्राणेन्द्रिय उसे मांसकी ओर कभी प्रेरित नहीं करती। बल्कि यदि उसके स्वाभाविक खाद्यपर रक्त छिड़क दिया जाय, तो वह अपने स्वाभाविक भोजनको भी छोड़ देता है। उसकी औँखें और नाक उसको सदैव घास और शाक-पातकी ओर प्रवृत्त करती हैं और उन्हीं वस्तुओंके स्वादसे उसकी रसना तृप्त होती है। फलाहारी जाँवोंमें भी यही बात देखी जाती है। उनकी इन्द्रियाँ उनको फल तथा अन्नकी ओर प्रेरित करती हैं।

१७५ क्या खायेँ और क्या पियेँ ?

अब विचारने योग्य बात यह है कि मनुष्यकी ज्ञानेन्द्रियाँ क्या कार्य करती हैं । क्या उसकी दृष्टि और घ्राणेन्द्रिय कभी उसको किसी पशुका वध करनेके लिए उत्साहित करती है ? एक सुकुमार बालक—जिसने कभी पशु-वधकी बात न सुनी हो, चाहे उसने पहले कभी मांस खाया भी हो—क्या एक दृष्ट-पुष्ट पशुको देखकर अपने मनमें यह विचार करेगा कि यह मेरे लिए स्वादिष्ट भोजन है ? ऐसे विचार मनमें तभी उत्पन्न हो सकते हैं जब कि हम एक जीवित पशु और भोजनके लिए आये हुए उसके मांसको एक ही वस्तु समझ लें । प्रकृति हमारे मनमें कभी ऐसा विचार उत्पन्न नहीं करती ।

हिंसाके विचार मात्रसे ही हमारे मनमें घृणा उत्पन्न होती है । कच्चा मांस न हमारी आँखको अच्छा लगता है और न नाकको । नगरके बाहर दूर वधस्थान बनानेका कारण क्या है और बाजारोंमें मांसको ढककर ले जानेके लिए अनेक जगह सरकारी कानून क्यों बनाये गये हैं ? जो चीज हमें देखने और सूँघनेमें बुरी लगती है, उसे ही तो छिपाकर ले जानेका नियम बनाना पड़ता है । जब किसी वस्तुके दर्शनमात्रसे ही हमारी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो उठती हैं, तब क्या वह हमारा स्वाभाविक भोजन हो सकता है ? मांसके इस दोषको छिपानेके लिए ही मांसाहारी उसमें नाना प्रकारके मसाले मिलकर अपनी इन्द्रियोंको धोखा देते हैं । इसके विपरीत फलोंकी गन्ध हमको कैसी अच्छी और प्रिय मालूम पड़ती है । सभी कहा करते हैं कि फलोंको देखते ही मुँहमें पानी भर आता है । फलोंके अतिरिक्त कच्चे या हरे अन्नोमें भी एक राचिकर सुगन्ध आती है और कच्ची दशामें भां वे खानेमें स्वादिष्ट होते हैं । अन्नके काटने और पकानेमें भी हमें किसी प्रकारकी घृणा नहीं होती । इसीसे तो ग्रामवासियोंका सारा जीवन

सुखमय और सन्तोषयुक्त कहा जाता है। इस प्रकार इस तीसरी यात्रासे भी यही स्थिर हुआ कि निश्चय ही प्रकृतिने मनुष्यको फलाहारी बनाया है।

चतुर्थ यात्रामें पैर रखते हुए जब हम सृष्टि-विस्तार और सन्तानोत्पत्तिके नियमोंकी ओर ध्यान देते हैं, तब जाँच और भी कठिन हो जाती है। पैदा होते ही सब जीवोंको ऐसा आहार मिलता है, जो उनके पोषणके लिए अति हितकर हो। वास्तवमें नवजात शिशुके लिए माताका दूध ही प्रकृत खाद्य है; किन्तु अक्सर देखा जाता है कि अधिकांश मातायें अपने प्रिय शिशुओंको दुग्ध-पान करानेमें असमर्थ होती हैं। उनकी शारीरिक दशा बालकके पेयको पैदा करने योग्य नहीं होती। यह बात अत्यन्त शोचनीय है। क्योंकि बालक आरम्भसे ही उस संवेदना-शक्तिके उपार्जनसे वंचित रह जाते हैं, जो मनुष्यकी नाड़ियोंमें प्रवाहित हुआ करती है और माताके स्तनोंमेंसे उन्हें मिलती है। क्यों कि प्राकृतिक आहारकी बराबरी कोई भी बनावटी आहार नहीं कर सकता। यह बात अनुभवसिद्ध है कि आजकलके सभ्य समाजकी विशेषकर पाश्चात्य देशोंकी स्त्रियोंमें—जिनका कि मांस ही मुख्य आहार है—यह रोग अधिक होता है और इसी कारण उन्हें अपने बच्चोंको दूध पिलानेके लिए निरामिषभोजी धार्योंको उन गँवोंसे बुलाकर नौकर रखना पड़ता है जहाँ मांस बहुत कम खाया जाता है। परन्तु वे धार्य भी उन नागरिकों या गृहस्थोंके यहाँ आकर मांसाहार करने लगती हैं और तब उसका परिणाम यह होता है कि उनमें भी दूधकी कमी हो जाती है। समुद्र-यात्राके समय धार्योंको जईकी लपसी इसलिए दी जाती है कि वहाँ नियमित रूपसे मिलनेवाले आहारसे—जिसमें मांसकी अधिकता होती है—कहीं उनका दूध सूख न जाय।

इस कथनसे सिद्ध होता है कि माताके स्तनोंमें दूध उत्पन्न करनेके लिए मांसाहार एक बड़ा भारी विघ्न है ।

निदान इस चौथी यात्रासे भी हम इसी निर्णयपर पहुँचते हैं कि मनुष्य स्वभावतः फलाहारी जीव है ।

यदि उक्त सिद्धान्त सत्य है, तो यह कहना भी अनुचित नहीं है कि मानव-जातिका बड़ा भाग अपने स्वाभाविक आहारसे बहुत कुछ हट गया है । अथवा यह कहिए कि दुनियाके अधिकांश लोग अपने प्राकृतिक आहारसे पराङ्मुख हो गये हैं । यह बात इतनी भयानक है कि इसको अधिक स्पष्ट करनेके लिए और भी प्रमाणोंकी आवश्यकता है । यहाँ यह प्रश्न होता है कि क्या मनुष्यकी तरह अन्य जीव भी अपने स्वाभाविक खाद्यको त्याग देते हैं और ऐसा करनेपर उन्हें भी हानि होती है ? आगे बढ़नेसे पहले मैं यहाँ इसी प्रश्नका उत्तर दे देना आवश्यक समझता हूँ ।

कुत्तों और बिल्लियोंको तो घास खानेकी आदत डालते देखा गया है, किन्तु क्या घास खानेवाले जीवोंके मांसाहारी बननेका उदाहरण भी मिलता है ? मैं आपको एक हिरनकी विचित्र घटना सुनाता हूँ । किसीके यहाँ एक हिरनका बच्चा पला हुआ था जो कि कुछ ही दिनोंमें उस घरमें पले हुए कुत्तेसे हिल गया । हिरन कुत्तेको मांस-रस चाटते देखकर स्वयं भी उसे चाटने लगा । पहले तो वह उसमें मुँह डालते ही घृणासे मुँह फेर लेता था, किन्तु कुछ ही दिनों बाद उसे बड़े स्वादसे चाटने लगा । कुछ ही सप्ताहोंमें वह मांस भी खाने लगा और अन्तमें उसे मांस अपने स्वाभाविक खाद्यसे भी अधिक प्रिय लगने लगा । परिणाम यह हुआ कि हिरनका वह बच्चा रोगी हो गया और एक वर्षकी आयु होते होते संसारसे चल बसा । यह बात खास

तौरसे नोट करने लायक है कि उक्त हिरनका बच्चा बाँधकर नहीं रक्खा गया था, किन्तु स्वतन्त्रतासे जंगल और बागमें कूदता फिरता था।

हम फलाहारी बन्दरोंको भी बन्धनमें रखकर सहज ही मांसाहारका अभ्यासी बना सकते हैं; परन्तु ऐसा करनेपर वे एक या दो वर्षसे अधिक नहीं जीते, उन्हें क्षय हो जाता है। ऐसी मृत्युका कारण प्रायः जल-वायुका परिवर्तन बताया जाता है; किन्तु हम देखते हैं कि गर्म देशोंमें रहनेवाले अन्य जीव ठंडे देशोंमें बहुत अच्छी तरह रहते हैं। इस लिए यही कहना पड़गा कि प्रकृतिविरुद्ध पदार्थके खानेसे ही ऐसा होता है। इसके सिवा उन परीक्षाओंसे भी यही बात सिद्ध होती है जो हमने इस सम्बन्धमें की हैं।

गरज यह कि पशु भी अपना स्वाभाविक खाद्य छोड़ सकते हैं। इससे इस विचारकी पुष्टि हो जाती है कि मानव-जातिका बड़ा भाग भी इसी तरह अपने स्वाभाविक भोजनसे विमुख हो गया है। ऐसी दशामें उससे होनेवाले परिणामसे अर्थात् नाना प्रकारके रोगोंसे भी वह बच नहीं सकता।

यदि हम ऐसे मनुष्योंका पता लगाना चाहें जिन्हें कभी चिकित्साकी आवश्यकता नहीं पड़ी, तो यह बात भरोसेके साथ कही जा सकती है कि वे बहुत ही कम होंगे। फिर पूरी आयु भोगकर मरनेवाले कितने हैं? समाचारपत्रोंसे मात्स्र होता है कि ऐसे पुरुषोंकी संख्या भी बहुत कम है। इसी प्रकार ऐसे मनुष्य भी अल्पसंख्यामें मिलेंगे, जो दुर्द्रव्यके भारसे न दबे हों। यद्यपि निरामिषभोजी ग्रामीण जन पूर्णरूपसे प्रकृतिके नियमानुसार जीवन-निर्वाह नहीं करते, तथापि वे इस विषयमें नागरिकोंकी अपेक्षा अधिक सौभाग्यशाली हैं। यद्यपि निर्मल वायुका भी उनपर प्रभाव पड़ता है, फिर भी उनके आरोग्यका प्रधान कारण

उनका भोजन ही है। भले हाँ हमारे स्वास्थ्य भङ्ग होनके और अनेक कारण हों, परन्तु पशुओंके साथ तुलना करनेसे यही जान पड़ता है कि सबसे प्रधान कारण भोजन ही है, क्योंकि गाय भैंस आदि पशु—जो पशुशालाओंमें बाँधकर रखे जाते हैं—मल-मूत्र आदिकी सफाई न होनेसे बुरी दशामें रहते हैं। वे मल-मूत्र आदिके साथ निकली हुई दूषित वायुको निरन्तर श्वासद्वारा ग्रहण करते हैं और मैदानोंमें घूमने तथा वहाँकी स्वच्छ वायुमें विहार करनेके सुखसे प्रायः वंचित रहते हैं। इन कारणोंसे वे बीमार हो जाने चाहिए थे—उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहना चाहिए था; परन्तु उनमें रोगोंकी उतनी अधिकता नहीं दिखाई पड़ती जितनी कि मनुष्योंमें है। यद्यपि मनुष्य सब तरहसे अपनी रक्षा कर सकता है और करता है। इसलिए रोगोत्पत्तिका मुख्य कारण प्रकृति-विरुद्ध भोजन ही है।

अब हम निरीक्षणके मैदानमें बहुत दूर निकल आये हैं। हमको चाहिए कि अब निर्दिष्ट किये परिणामोंकी यथार्थता और अयथार्थताकी भी प्रयोगद्वारा परीक्षा कर लें। इस विषयमें हमारे विपक्षियोंद्वारा दो आक्षेप किये जाते हैं। पहला आक्षेप यह है कि मनुष्य सर्वश्रेष्ठ जीव (अशरफुल मखलूक) होनेके कारण उन नियमोंको पालन करनेके लिए बाध्य नहीं है जो कि नीचे दर्जेके जानवरोंके लिए नियत हैं। दूसरा आक्षेप यह है कि डार्विन साहबके सिद्धान्त (Adaptation) के अनुसार बहुत दिनोंसे मांसाहार करते रहनेके कारण मनुष्यका शरीर इस अस्वाभाविक भोजनका अभ्यासी हो गया है। यह बात दो भागोंमें बाँटी जाती है—प्रथम यह कि सारी मानव-जातिकी आदत बदल गई है, दूसरे यह कि कमसे कम तरुण मनुष्य इस अप्राकृतिक भोजनको—

जो कि उनका स्वाभाविक आहार हो गया है—बिना जोखिम उठाये नहीं छोड़ सकते ।

बालकों और युवकोंकी परीक्षा करनेसे ये शङ्कायें पूर्णतया निवृत्त हो सकती हैं । ऐसी अनेक परीक्षाएँ की जा चुकी हैं, जिनके परिणामोंको यहाँ संक्षेपमें कहता हूँ । कितने ही घरोंमें बालकोंका जन्मसे ही बिना मांसाहारके पालन किया गया और मैंने उनकी बढावटपर खास नजर रखी । मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि फैसला निरामिष भोजनके ही पक्षमें हुआ । वे बालक शारीरिक और मानसिक, अर्थात् बुद्धि, बल, वीर्य, साहस और स्वाभाविक उत्तम विचारोंमें अपेक्षाकृत अधिक उन्नत निकले ।

इस प्रसंगमें नैतिक शिक्षा अर्थात् सदाचारके सबन्धमें भी कुछ कहना चाहता हूँ । नवयुवकोंमें दुराचारका रोग नित्य बढ़ रहा है, जिसके लिए समाज बहुत चिन्तित है । प्रश्न यह है कि सदाचारका सबसे बड़ा शत्रु कौन है ? इस प्रश्नको आप धर्मशिक्षकों, दार्शनिकों, सामाजिक नेताओं और अध्यापकोंमेंसे जिस किसीसे पूछेंगे, वह यही उत्तर देगा कि काम-वासना ही सदाचारकी सबसे बड़ी शत्रु है । इस दुर्वासनाको दमन करनेके लिए बड़े बड़े कष्ट सहन किये जाते हैं—किसीको बार बार उपवास कराया जाता है, किसीको मारा-पीटा जाता है और किसीको एकान्तवास कराया जाता है; परन्तु ये सब उपाय प्रकृतिके विरुद्ध हैं । इनसे कुछ लाभ नहीं होता । चतुर सेनापति शत्रु-सेनाको लड़कर जीतनेकी अपेक्षा यह अच्छा समझता है कि उसे लड़नेकी तैयारी करनेसे पहले ही अपने वशमें कर ले । इसी प्रकार यदि हम काम-वासनाको जीतना चाहते हैं, तो हमारा कर्तव्य यह होना चाहिए कि हम उसे बढ़ने ही न दें । इसका सबसे अच्छा

साधन यह है कि बालकोंमें जन्मसे ही अनुत्तेजक और स्वाभाविक भोजन करनेकी आदत डाली जाय और प्रयोगोंसे यह बात सच उतरी है। यह विषय इतना महत्वपूर्ण है कि इसपर जितना भी जोर दिया जाय थोड़ा है।

काम-वासनाके दमनसे और उससे उत्पन्न हुई मानसिक शान्तिसे उत्तम विचार पैदा होते हैं। प्रत्येक तत्त्ववेत्ता यह कहेगा कि मानसिक क्रियाओं, स्पष्ट विचारों और यथार्थ निश्चयकी प्राप्तिके लिए सन्तोष और शान्तिका होना परम आवश्यक है और ये निरामिष भोजनके बिना किसी तरह प्राप्त नहीं हो सकते।

यद्यपि इस विषयमें मुझे अभी बहुत कहना था, किन्तु आपकी धैर्य-च्युतिके भयसे अब मैं इसे यहीं समाप्त करता हूँ। युवकोंपर प्रयोग करनेसे जो अनुभव प्राप्त हुए हैं, वे भी विचारणीय हैं। इस सम्बन्धमें इस चिकित्सिके अनुगामी हम लोग आपके सामने उदाहरणके तौरपर उपस्थित हैं। इससे प्राप्त हुए लाभोंके सम्बन्धमें हम इतना ही कह सकते हैं कि हम इस विधिपर इतने लड़ू हो गये हैं कि अब हम न इसे छोड़ सकते हैं और न कोई इसे हमसे छुड़ा सकता है। मैं यह बात खास तौरसे बता देना चाहता हूँ कि आप यह न भूल जायें कि अधिकांश वनस्पतिभोजी लोग अपने स्वाभाविक भोजनपर गहरी बीमारीसे प्रेरित होकर ही लौटे हैं। यही कारण है कि उन लोगोंको निरामिष भोजनने साधारण सन्तोषप्रद आरोग्य ही प्रदान किया है। उनसे ऐसी आशा करना सर्वथा असङ्गत है कि इस आहारसे वे बहुत बलवान् और तेजस्वी हो जायेंगे। इससे अनेक लोग पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ कर लेते हैं, पर दूसरे लोगोंको उतना लाभ नहीं पहुँचता। थियोडोर हान साहबका ही उदाहरण लीजिए। आप २९ वर्षकी अवस्थामें मरणासन हो गये थे और

चिकित्सकोंने उन्हें बिल्कुल असाध्य कह दिया था। परन्तु प्राकृतिक भोजनके साहाय्यसे उनका स्वास्थ्य सुधर गया और वे ३० वर्ष तक और जीवित रहे। इससे निरामिष भोजन ही मनुष्यका आहार सिद्ध होता है। परन्तु जब हमारे प्रतिद्वन्द्वी (मांसाहारी) असली मामलेको छिपाते हुए बड़े हर्षसे घोषित कर कहते हैं कि देखो निरामिष भोजनसे वे केवल ५९ वर्ष तक ही जीवित रहे, तब बड़ा आश्चर्य होता है।

इस नवीन चिकित्सा-विज्ञानने—जिसमें विना औषध और विना शस्त्रक्रिया (चीर-फाड़) के चिकित्सा की जाती है—यह सिद्ध कर दिखाया है कि केवल अनुत्तेजक आहार ही प्राकृतिक भोजन है, और यथेष्ट आरोग्य लाभ होनेके लिए यही एकमात्र औषध है। फिर अनुभवसे भी यही सिद्ध होता है कि यदि इस अनुत्तेजक आहारका निरन्तर ही सेवन किया जाय, तो व्याधिके शमन होनेमें देर न लगे। जो मनुष्य मद्य-मांसका सेवन नहीं छोड़ सकते, वे अपने आरोग्य-लाभमें बहुत ही विक्षेप डालते हैं। क्योंकि ऐसा करके वे अपने शरीरमें नवीन दुर्द्रव्यको नित्य पहुँचाते रहते हैं, जिसे शरीरको बारम्बार निकालना पड़ता है और इस तरह उन्हें रोगकी प्रवृत्तिसे कभी छुटकारा नहीं मिलता।

जो मनुष्य अच्छे खासे हैं वे भले ही अपनी शक्तिसे इस अधिक भारको उठाते रहें, परन्तु ऐसा करनेसे उनको भी हानिके सिवा लाभ नहीं है। जो मनुष्य अपने खोये हुए स्वास्थ्यको फिरसे प्राप्त करना चाहे, उसे उचित है कि अपने शरीरकी समस्त शक्तिको दुर्द्रव्यके निकालनेमें लगा दे और यह केवल अनुत्तेजक आहारसे ही हो सकता है। यह एक अनुभवसिद्ध बात है। वर्तमान मिले-जुले आहारकी अनुपयोगिता सिद्ध करनेके लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि

आजकल हमें पग-पगपर बीमारियोंका व्यक्त और अव्यक्तरूपमें दर्शन हुआ करता है ।

अब आप यह स्पष्ट रूपसे पूछ सकते हैं कि हम क्या खायें और क्या पियें ? पेय द्रव्यका अनुसन्धान करनेके लिए हमें अपने अन्वेषणके क्षेत्रमें एक बार फिर उतरना पड़ेगा मनुष्यको छोड़कर और कोई भी जीव ऐसा नहीं है जो जलके सिवाय और किसी द्रव्यसे प्यास बुझाता हो । यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पशु बहते हुए जलको पीन सबसे अच्छा समझते हैं, इसलिए वे पहाड़ी झरनोंकी अपेक्षा नदी-नालोंका पानी बड़े चावसे पीते हैं । इस बातसे इस सिद्धान्तकी पुष्टि होती है कि जिस जलपर निरन्तर सूर्यकी किरणें पड़ती हैं और जो जल पत्थरोंके कणोंपर बहता है (पत्थरोंके सूक्ष्म कण ही रेत है), वह झरनों या सोतोंके नवीन जलकी अपेक्षा बहुत अच्छा है । इसके सिवा जो जीव रसवाले पदार्थोंका अधिक आहार करते हैं, उन्हें कम प्यास लगती है । यदि मनुष्य भोजनमें रसीले फलोंका अधिक सेवन करे, तो उसे भी अधिक प्यास न लगे । यदि प्यास बुझानेके लिए कुछ पीनेकी आवश्यकता हो, तो केवल जल ही प्राकृतिक पेय है । फलोंके रसको जलमें मिलाकर पीनेसे भी हमें पेय पदार्थ मात्रासे अधिक पीना पड़ता है और मीठा मिला लेनेसे तो और भी अधिक पिया जाता है, इसलिए यदि हम व्याधिसे छुटकारा चाहते हैं, तो हमें जलके सिवा और कोई चीज न पीनी चाहिए ।

अब प्रश्न यह है कि हम खायें क्या ? प्रकृति तो फलहारके लिए ही प्रेरणा करती है, अतएव फल ही हमारे लिए सबसे बढ़िया आहार हैं । सब प्रकारके फल, मेवे, अन्न और कन्द-मूल—जो कि आँख, नाक और जीभको अच्छे लगे—हमारा आहार बन सकते हैं । अत्यन्त ठंडे

देशोंको छोड़कर पृथ्वीके समस्त भागों और सब देशोंमें ये पदार्थ मिलते हैं। इसी लिए शीतप्रधान देश मनुष्योंके रहने योग्य नहीं हैं, और इसीसे वहाँके निवासी शरीरकी ऊँचाई और लम्बाईमें छोटे होते हैं तथा उनके मस्तिष्ककी शक्ति कम होती है।

जहाँतक हो सके प्राकृतिक पदार्थको उसकी प्रकृत (असली) अवस्थामें ही खाना चाहिए। परन्तु यह प्रायः इस कारण नहीं बन पड़ता कि हमारी तन्दुरुस्ती और उसमें भी मुख्यकर दौंतोंकी हालत ठीक नहीं है। इसलिए हमारे लिए यही बहुत है कि जहाँतक बन पड़े हम नानाप्रकारके आचार, मुरब्बे, रसों और पाकोंसे अपनेको बचाये रखें; क्योंकि ये सब अप्राकृतिक पदार्थ हैं। ये पदार्थ हमें प्रकृतिने नहीं दिये हैं। गर्म मसालें और जहाँतक बने नमक और मीठा भी इस्तेमाल नहीं करना चाहिए।

आजकल भोजन बनानेकी विधि भी बहुत कुछ बिगड़ गई है। मिसालके तौरपर हम जिन पदार्थोंको उबालकर खाते हैं उनका बहुत सा बलकारक अंश उस जलके साथ बेकार फेंक देते हैं जिसमें कि उन्हें उबाला जाता है और इस प्रकार उन वस्तुओंका निकृष्ट अंश ही हमारे पेटमें पड़ता है। भोजन बनानेकी यह प्रक्रिया त्रिलकुल अनुचित है। उत्तम विधि यह है कि शाक, भाजी आदिको बहुत थोड़े जलमें उबाला या भापके द्वारा सिजाया जाय और जलको उन्हींमें सूख जाने दिया जाय। भिन्न भिन्न प्रकारके खाद्य पदार्थोंको बनानेकी विधि आप पाकसम्बन्धी पुस्तकोंमें देख सकते हैं। इस सम्बन्धमें बाल्टज़र साहब (Ed. Baltzer) की पुस्तक (Cookery Book) खास तौरसे अच्छी है।

परन्तु यह समझ लेना ठीक नहीं कि उक्त पुस्तकमें निर्दिष्ट किये हुए सभी भोजन रोगियोंको दिये जा सकते हैं । जिस प्रकार जल्मी बाँह अपना काम पूरी तरहसे नहीं कर सकती, उसी प्रकार जिसका मेदा कमजोर है, वह हरएक पदार्थको नहीं पचा सकता । पाचन-शक्ति स्वयं इस बातको प्रकट कर देती है कि वह किस पदार्थको पचानेके योग्य है । डकारोंका आना, पेटमें दर्द होना, अपान वायु (रीह), खट्टी डकार, कलेजेकी जलन, मुखकी विरसता तथा पेटमें अन्य किसी प्रकारकी गड़बड़ होनेसे यह सिद्ध होता है कि हमने या तो अधिक भोजन कर लिया है या कोई अहितकर पदार्थ खा लिया है । रोगी यदि ध्यान दे, तो उसको स्वयं यह पता लग जाता है कि कौनसा पदार्थ मेरे अनुकूल है और कौनसा प्रतिकूल । आरम्भमें प्रायः बिना छने, अर्थात् चोकर मिले हुए ओटकी रोटी लाभदायक होती है, यदि उसको सावधानतापूर्वक अच्छी तरह चबाकर खाया जाय । जिन्हें रोटी न पचती हो, उन्हें गेहूँका बिना छना सूखा आटा खाना चाहिए; क्योंकि बिना चबाये और उसमें अच्छी तरह लार मिलाये बिना वह गलेसे नीचे नहीं उतरता और इसलिए उसके अधिक खाये जानेका डर नहीं रहता । रोगीको मात्रासे अधिक भोजन और अहितकर पदार्थोंका सेवन भूलकर भी न करना चाहिए । हितकर पदार्थको भी मात्रासे अधिक खाना बुरा है ।

रोगीके लिए जईके आटेकी लपसीका पथ्य बहुत उत्तम है । उसे गाढ़ा गाढ़ा पका लेना चाहिए और उसमें थोड़ेसे नमक और ताजे कच्चे दूधके सिवा और कुछ नहीं मिलाना चाहिए । दूध सदा कच्चा और ताजा पीना चाहिए, औँटाकर नहीं । पीनेसे पहले यह देख ले कि उसमें दुर्गन्ध तो नहीं आती है और उसका स्वाद तो नहीं बिगड़

गया है। यदि ये लक्षण उसमें पाये जायँ, तो वह पीनेके योग्य नहीं है। यह याद रखो कि फिर औंटा लेनेसे भी उसका दोष नहीं जायगा। औंटाया हुआ दूध मुश्किलसे पचता है, क्यों कि उसमें उद्वेग देरमें उत्पन्न होता है। औंटा लेनेसे उसके हानिकारक तत्व नष्ट नहीं होते, बल्कि उसीमें रह जाते हैं। हाँ, उसमेंसे पोषण-शक्तिका हास हो जाता है। उसके पीनेसे शरीर तो स्थूल हो जाता है, किन्तु बलकी वृद्धि नहीं होती। भोजनके समय ताजे फल खाना बहुत अच्छा है। यदि हम एक पदार्थसे सन्तुष्ट नहीं हो सकते, विविध पदार्थोंको चाहते हैं, तो साथमें कुछ चवल, जौका दलिया आदि सार्विक पदार्थ भी खा सकते हैं। भोजनमें गोभी आदि हरे शाक या फलोंको मिलाकर अनेक तरहके स्वाद लाये जा सकते हैं। पूर्ण आरोग्य या साधारण स्वास्थ्यवाले मनुष्योंके लिए अनेक खाद्य पदार्थ मिल सकते हैं। भोजन-सम्बन्धी किसी भी पुस्तकको पढ़नेसे प्रत्येक व्यक्तिको मालूम हो जायगा कि हमारे लिए भोजनके पदार्थोंकी कमी नहीं है।

इस विषयमें किसी प्रकारका सन्देह न रहे, इस विचारसे मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि पुराने रोगियोंको विशेषकर उनको जिनका पाचन अधिक बिगड़ रहा है, बहुत ही सादा भोजन करना चाहिए और वह भोजन ऐसा हो जो अच्छे प्रकारसे चबाया जा सके। ऐसे रोगियोंके लिए पूर्वोक्त गेहूँके बिना छुने आटेकी रोटी और फल सबसे उत्तम भोजन है। स्वादकी ओर तब तक ध्यान न देना चाहिए जब तक पाचन-शक्ति सुधर न जाय।

बहुतसे लोगोंको यह पूछते हुए सुना है कि “क्या ऐसा आहार स्वादिष्ट लगेगा?” हम पूछते हैं कि खानेमें स्वाद कहाँसे आता है? भोजनकी उत्तेजकताका प्रभाव जो जिह्वाकी रसवाहिनी शिराओं-

पर पड़ता है, उससे स्वाद पैदा होता है। यह उत्तेजकता अपनी तुलना उन भोजनोंकी उत्तेजकतासे किया करती है जिनकी कि हमें आदत पड़ गई है और उनसे जितना सादृश्य और आनुकूल्य पाती है, उतना ही स्वाद और आनन्द हमें देती है। कभी कभी इस स्वादमें यदि कुछ अधिकता हो जाती है, तो अधिक आनन्द प्राप्त होता है। परन्तु यदि यह अधिकता बारबार प्राप्त हो, तो हमारे स्वभाव अर्थात् संस्कारमें परिणत हो जाती है, इस लिए फिर हम उससे अधिक आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते। स्वादकी खातिर हम ज्यों ज्यों नये नये बढ़िया पदार्थोंका सेवन करने लगते हैं, त्यों त्यों पुराने पदार्थ फाँके पड़ते जाते हैं और उनमें हमें वह स्वाद नहीं आता, जो पहले आता था। अर्थात् फिर उनका जिह्वाकी रसवाहिनी शिराओं-पर वह प्रभाव नहीं पड़ता, जिससे हमें स्वाद आता था।

अब मैं इन ऊपर कहे गये परिणामोंका आपको फिर स्मरण कराता हूँ। प्रकृति-विरुद्ध भोजनने ही मानव-जातिमें विजातीय द्रव्यका भार उत्पन्न किया है। प्राकृतिक आहार इस दुर्द्रव्यको उत्पन्न नहीं करता और यदि कभी करता भी है, तो उन्हीं मनुष्योंमें जो उस आहारको पूर्ण रूपसे जीर्ण नहीं कर सकते; अर्थात् भोजनको मात्रासे अधिक खाते हैं। यदि दुर्द्रव्य शरीरसे निकल जाय, तो प्राकृतिक आहारके सेवनसे स्वास्थ्यका अच्छा रहना लाजम्बा है। हाँ, अन्य स्वास्थ्यसम्बन्धी बातोंपर भी हमारा ध्यान बना रहना चाहिए।

ईश्वर करे आहारके सम्बन्धमें यह दिव्य ज्ञान संसारमें घर घर फैल जाय और इससे सब लोग सुख-शान्ति प्राप्त करें।



विना छने आटेकी रोटी बनानेकी विधि ।

(इसे डाक्टर कोहनी सन् १८६८ ई० से बर्त रहे हैं ।)

गेहूँका या और किसी अनाज (जुआर, बाजरा, मक्का या चावल) का बिना छना हुआ आटा ३ पौंड (डेढ़ सेर) लेकर थालीमें रखो, फिर उसमें कोई १५ छटांक ठंडा पानी डालकर उसे अच्छे प्रकारसे गूँदो । यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि गर्म जलसे ठंडा जल अच्छा होता है । अनुभव बताता है कि शीतल जलकी अपेक्षा गर्म जलसे मले हुए आटेकी रोटीमें शीघ्र उद्वेग उत्पन्न होता है और गर्म जल यद्यपि रोटीको हल्का कर देता है तथापि रोटी स्वादहीन और कमजोर हो जाती है । फिर आटेको दो हिस्सोंमें बाँटकर प्रत्येकको अलग अलग लम्बा फैला लो । इसके बाद सूखे खपड़ेकी तलीपर विना छना थोड़ासा सूखा आटा बुरककर उसपर उन रोटियोंको बराबर बराबर डाल दो । फिर रोटियोंके ऊपरी भागको पानीमें भिगोये हुए हाथसे थपथपा दो और रोटियोंके उस खपड़ेको गर्म तन्दूरके भीतर खाली गमलेपर रख दो । उस समय तन्दूरमें और कोई चीज या पात्र नहीं रखना चाहिए और उसमें आग ठीक होनी चाहिए ।

आध घंटे बाद यह देखो कि रोटियोंका ऊपरी भाग अच्छे प्रकारसे सिककर सख्त हो गया है या नहीं; क्योंकि उनके बीचका भाग साधारणतः नर्म रहता है । फिर रोटियोंको ऊपर नीचे लौट देना चाहिए । रोटियोंको तबतक सिकने दो, जबतक उनमें अँगुली मारनेसे खाली या खोखला होनेका शब्द न हो । इसमें कोई आध घंटा और लगता है । जब यह समझ लो कि रोटियाँ अच्छे प्रकारसे सिक गई हैं, किन्तु उनके ऊपरका हिस्सा बहुत सख्त नहीं हुआ है, तब उन्हें उतार लो ।

विना छने आटेकी लपसी बनानेकी विधि ।

एक तश्तरी लपसी बनानेके लिए एक चम्मच विना छना आटा लो । उसको थोड़ेसे जलमें घोलकर पतली लेहीसी बना लो । फिर उस लेहीको खोलते हुए गर्म पानीमें डाल दो और कुछ मिनटतक करछीसे चलाते हुए पकाओ । घी और नमक या तो बिलकुल न डालो और यदि डालो तो बहुत थोड़ा डालो । मधुर और रुचिकर बनानेके लिए मुनक्का और किशमिश भी डालो जा सकती है ।

प्राकृतिक आहारके सेवन करनेके सम्बन्धमें कुछ सूचनायें और शिक्षायें

प्रातःकाल—नाश्ता या कलेवा करनेके समय विना छने आटेकी रोटी और फल, अथवा विना छने आटेकी लपसी और रोटी, या जईके आटेका हलुवा, फल, रोटी, कच्चा दूध ।

मध्याह्न-कालमें—यदि कोई जूष या शोल हो, तो गाढ़ा होना चाहिए । हलुवके समान सरस बना हुआ कोई अन्न, जैसे चावल, जौ गेहूँ या जईका मोटा दलिया या आटा, केवल पानीमें कुछ घी डालकर बनाया हुआ । उसमें फल या मेवे भी डाले जा सकते हैं । दाल उड़द, मूँग, मसूर, मटर, अरहर, लोभिया, मोठ आदि किसी भी अन्नकी हो, परन्तु वह थोड़े जलमें पकाकर दानेदार और खुश्क अवस्थामें रखनी चाहिए । वह खूब घुटी हुई या रसेदार न हो । यदि इच्छा हो, तो उसको मरुवे या तरातेजके पत्तोंसे स्वादिष्ट बनाया जा सकता है । इसके अतिरिक्त कोई शाक भी लिया जा सकता है । अथवा ताजे कच्चे या उबाले हुए फल और रोटी । प्रत्येक देशवासीको अपने ही

देश और ऋतुके अनुकूल उत्पन्न हुए शाक, पात और फल खाने चाहिए ।

सायंकालमें—वही बिना छने आटेकी रोटी और ताजे कच्चे या उबाले हुए फल, अथवा बिना छने आटेकी गाढ़ी पकी हुई लपसी या रोटी फलोंके साथ खानी चाहिए ।

कुछ साधारण भोजन बनानेकी विधि

लाल बन्द गोभी (करमकल्ला) और सेब । एक बड़ीसी लाल बन्द गोभीके लम्बे लम्बे टुकड़े कर लो, फिर उनको जलमें डालकर भापसे पकाओ । जब गोभी अचपकी हो जाय, तब उसमें चार पाँच खट्टे सेब बारीक काटकर और थोड़ासा नमक तथा घी मिला दो । (बिना घी और बिना नमकके भी यह रुचिकर होती है ।) जब पकते पकते उसका सब पानी जल जाय, तब उतार लो । यह शाक तीन मनुष्योंके लिए हो जायगा ।

सफेद बन्द गोभी और टिमाटर । एक सफेद बन्दगोभीको उक्त विधिसे काटकर उबालो । फिर उसमें आधा प्याला टिमाटरोंका रस डाल दो, अथवा ४ से १० तक ताजे टिमाटरोंको एक चलनीमें छानकर डाल दो । फिर कुछ घी और नमक डाल दो । बादके ७-८ आलू छीलकर प्रत्येकके दो दो टुकड़े करके उसके ऊपर रख दो और उन्हें बिना चलाये पकने दो । टिमाटरोंके अतिरिक्त तरातेजसे भी काम लिया जा सकता है । (यह शाक भी बिना नमक और घीके बड़ा स्वादिष्ट होता है ।) यह भी तीन मनुष्योंके लिए है ।

हरा शाक और आलू । सोया, पालक या बथुएके शाकको पहले अच्छी तरह दो तीन बार धोकर कतर लो, और बहुत थोड़े

जलमें उबालकर गला ले । फिर कुछ आलू, थोड़ा नमक और घी डालकर पका ले । पक जानेपर यदि कुछ जल शेष रह जाय, तो एक बड़ा चम्मच विना छना आटा डालकर उसे सुखा दो ।

बन्द गोभी और गोट्स । बन्द गोभीको बारीक कतरकर और धोकर दो कलछी पानीमें पकाओ । जब अच्छे प्रकारसे गल जाय, तब उसमें कुछ नमक, धो और आधी कलछी गेहूँ या जईका मोटा दलिया डाल दो और जबतक दलिया गल न जाय, तबतक पकाओ ।

गाजर और आलू । ५ से ८ तक गाजरोँके मोटे मोटे टुकड़े करके एक प्याले पानीमें पकावे और उनके ऊपर ६ या ८ आलू दो दो टुकड़े करके रख दे । फिर थोड़ासा नमक और घी डाल दे । (विना घी और नमकके भी यह शाक बड़ा मधुर होता है ।) अच्छे प्रकारसे पक जानेपर उतार ले । यह भी तीन व्यक्तियोंके लिए है ।

शलजम और आलू । दो चार बड़े बड़े शलजमोंको टुकड़े करके एक या डेढ़ प्याले पानीमें पकावे । जब वे अधगले हो जायँ, तब कुछ नमक और घी तथा सात आठ छिले हुए कच्चे आलूके अद्वे उसमें डालकर अच्छे प्रकारसे पकावे । शलजम, आलू और गाजर इन तीनोंको एक साथ पकानेसे भी अत्यन्त स्वादिष्ट शाक बनता है । (ये सब शाक विना घी और विना नमकके भी बड़े स्वादिष्ट होते हैं ।) यह तीन मनुष्योंके खानेके लिए है ।

चावल और सेब । पाव भर चावलोंको ४ से ८ सेवोंके टुकड़ोंके साथ चार प्याले पानीमें मन्द मन्द अग्निसे पकावे । जब पककर गाढ़ी खिचड़ीके समान हो जायँ, तब उनमें कुछ नमक और घी भी डाल लिया जाय । यह बहुत स्वादिष्ट आहार है । इसमें भी नमक और घीकी विशेष आवश्यकता नहीं है ।

चावल्लेके पकौड़े । उपर्युक्त विधिसे पके हुए चावल्लेके हलुवेमें १० तोले किशमिश और रोटीके टुकड़ोंका चूर्ण डालकर एक तश्तरीमें घी चुपड़कर जमा दे । यह आहार अत्यन्त स्वादिष्ट बनता है ।

लोभिया और टिमाटर । पात्र भर लोभियेको शामके वक्त ठंडे पानीमें भिगो दो । प्रातःकाल उसमें इतना पानी और डालो, जिसमें वह डूब जाय । फिर चूल्हेपर चढ़ाकर मन्द मन्द अग्निसे पकाओ । जब गल जाय, तब उसमें टिमाटरोंका रस आधा प्याला या ८-१० ताजे टिमाटर चलनीमें छानकर मिला दो और इच्छा हो तो कुछ घी तथा नमक भी डाल दो । टिमाटरका रस मिला देनेपर यदि इसे १-२ घंटे तक गर्म रक्खा रहने दिया जाय, तो अच्छा हो । यदि कुछ जल शेष रह गया हो, तो एक चम्मच विना छना आटा मिलाकर गाढ़ा कर लेना चाहिए । टिमाटरोंकी जगह हालम या तरतेजसे भी काम चल सकता है । यह हलुवा दो व्यक्तियोंके लिए काफी है ।

हरी फलियाँ और सेव । हरे लोभिये, सेम या बाँकलेकी फलियोंकी नसें अलग करके कतर लो और खोलते हुए पानीमें डाल दो । फिर दो तीन खट्टे सेव काटकर डाल दो । पीछेसे प्याज या अजमोद, थोड़ा घी और नमक मिला दो । जब फलियाँ गल जायँ और जल शेष रह जाय, तो उसे गाढ़ा करनेके लिए पूर्वोक्त विधिसे विना छना आटा मिला दो ।

मोठ, मसूर और मून । शामको पात्र सेर मोठ या काली मसूरको पानीमें भिगो दो । सुबहको जिसमें वह डूब जाय, इतना पानी डालकर मन्द मन्द अग्निसे पकाओ और उसमें ३० आलूबुखारे डाल दो । पीछेसे यदि जी चाहे तो थोड़ासा नमक और घी भी मिला दो । यह भी तीन मनुष्योंके लिए है ।

छतरी और आलू । पृथ्वीके फूलों (साँपकी छतरी) को अच्छी प्रकारसे धोकर हरे अजमोद या प्याजके साथ थोड़े पानीमें पकाओ और कुछ नमक तथा घी डाल दो । पानीको सोखनेके लिए पूर्ववत् दो चम्मच बिना छना आटा मिला दो । फिर उबाले हुए आलुओंको छीलकर टुकड़े करके उक्त फूलोंमें मिला दो । सबके अच्छी तरह पक जानेपर कुछ देर तक गर्म रखना चाहिए ।

चुकन्दरकी चटनी । चुकन्दरको अच्छी तरह धोकर और अग्नि-पर कुछ उबालकर छील लो । फिर उसके टुकड़े करके हल्के नीबूके रसमें मिलाकर खाओ ।

काहू । काहूको धोकर टुकड़े करके थोड़ेसे तेल, नीबूके रस और थोड़ीसी ख़ाँड़में मिलाकर सेवन करना चाहिए । (इसमें नीबूका सत या जौहर न डाला जाय ।)

आलू और सेवकी चटनी । छिलके सहित आलुओंको उबालकर छील लो और उनके टुकड़े कर लो । फिर इसी प्रकार कुछ खट्टे सेवोंको छीलकर और काटकर दोनोंको थोड़े तेल और नीबूके रसमें मिला लो । बस, अति उत्तम चटनी तैयार हो जायगी ।

मटर और मसूर । छिलके सहित सूखी मटर, मोठ अथवा मसूर शामको ठंडे जलमें भिगो दो । शुद्ध मीठे जल (Soft Water) में भिगोया जाय तो और भी अच्छा । फिर सुबहको जिसमें कि वह डूब जाय इतने पानीमें डालकर पकाओ और यदि इच्छा हो तो बहुत थोड़ा नमक, तरातेज तथा मरुवेकी पत्तियाँ डाल दो । इस अन्नको इस प्रकार पकाना चाहिए कि प्रत्येक दाना अलग अलग रहे और जल सूख जाय । मटर, मोठ अथवा मसूर घोटकर और घी डालकर पकानेकी अपेक्षा इस प्रकार पकानेसे अत्यन्त बलवर्द्धक और लघुपाक होती है ।

आलूके मोदक । कोई आध पाव आलुओंको उबालकर छील ले और कद्दूसपर कस ले । फिर रोटीके थोड़े बारीक टुकड़े करके उन्हें घीमें भून ले । इसके बाद मुर्गीका एक अण्डा, कसे हुए आलू और थोड़ासा विना लुना आटा लेकर सबको एकमेक करके अच्छे प्रकारसे मिला ले । फिर तीन तीन तोलेके लड्डू बनाकर खौलते हुए पानीमें डालकर १० मिनट तक रक्खो, परन्तु उनको इस प्रकारसे रक्खो कि वे उसमें घुलने न पावें । ये लड्डू, फल, प्याज या मक्खनके साथ खाने चाहिए ।



द्वितीय भाग

द्वितीय भाग

स्नायु (Nervous diseases) और मनके रोग

नींद नहीं आना

रोगोंकी एकताका सिद्धान्त स्नायु और मानसिक विकारोंमें भी लागू होता है । उन्नीसवीं शताब्दि स्नायु-विकारोंकी शताब्दि है; क्योंकि अब ये विकार हर जगह तरह तरहके रूपोंमें पाये जाते हैं । इन सब नये रूपोंका अलहदा नाम स्थिर करनेकी तथा उनकी प्रकृति और उनका कारण ढूँढनेकी बहुत कोशिश की जाती है, जिससे कि उनकी कुछ न कुछ चिकित्साकी विधि निश्चय की जा सके ।

जैसे नर्वसनेस (Nervousness), न्यूरेसथेनिया (Neurasthenia), न्यूरेल्लेजिया (Neuralgia), हाइपोकोड्रिया (Hypoch-

१ शरीरके भीतर सिरसे लेकर पैरों तक, जो अत्यन्त सूक्ष्म तन्तुओंका जाल पुरा हुआ है, उन्हें स्नायु कहते हैं । स्नायुओंका शरीरके सम्पूर्ण अवयवोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसी लिए उनमें किसी प्रकारका विकार होनेसे वे अवयव पीड़ित और कभी कभी निकम्मे हो जाते हैं ।

२ जल्दी क्षुब्ध हो जाना । ३ स्नायुओंकी कमजोरी । ४ स्नायुओंकी पीड़ा, जिसके दौरे हुआ करते हैं । ५ स्नायुओंकी वह बीमारी जो अपचसे पैदा होती है और जिसमें रोगी भयभरी कल्पनायें किया करता है ।

ondria), हिस्टीरिया (Hysteria), इन्सेनिटी (Insanity), इम्बेसिलिटी (Imbecility), और पैरेलेसिस (Paralysis) आदि स्नायु रोगोंको आज सब जानते हैं ।

स्नायु-विकारोंके बहुत बड़ जानेसे व्याधिके नये नये रूप प्रकट हो रहे हैं; परन्तु व्याधिके इन नये रूपोंसे हमें रोगकी प्रकृतिका पता नहीं चलता । यदि हम स्नायु-रोगियोंकी जाँच करें, तो हमको सदैव भीतरी बेचैनी और अशान्तिके वे ही लक्षण मिलते हैं । रोगीको हमेशा एक कष्ट रहता है, जिसे वह बता नहीं सकता और न उसे उसका कारण मालूम होता है, इसी लिए वह बीमार भी नहीं कहा जाता ।

स्नायु-विकारका कोई रोगी बहुत बोलता है—उसकी बातकी बड़ ही नहीं टूटती, कोई मौन और गुम रहता है, किसीको निद्रा नहीं आती, कोई दिन-रात काम करता है, किसीको आलस्यके मारे उठने तकको जी नहीं चाहता, किसीका इस विचारसे कि वह दुनियाँमें बेकार जीव है आत्महत्याकी धुन लगी रहती है—वह दुनियासे असन्तुष्ट रहता है । किसी लखपतीको दिनरात आगेका भय नहीं छोड़ता, कोई सदा काँपता रहता है, किसीका एक अवयव या अङ्ग या सारा शरीर बेकार हो जाता है । इसी प्रकार उन्माद रोगके भी अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं, जिनमें कहीं कहीं तो लक्षण बिल्कुल एक दूसरेके विरुद्ध मिलते हैं, इनमें सबसे बुरा रोग फालिज यानी पक्षाघात है । इन रोगोंके होनेसे मनुष्यकी मानसिक शक्तियाँ काम नहीं देतीं ।

१ योषापस्मार—स्त्रियोंको फिट आना । २ पागलपन । ३ मनकी अथवा शरीरकी कमजोरी । ४ लकवा, किसी खास अंग अथवा अवयवको हिलाने झुलानेकी शक्तिका अभाव ।

कोई कोई रोगी अपने अवयवोंपरहीसे काबू खो बैठता है । किसी किसीके विचार, इच्छा और शब्द ही खोये-हुएसे हो जाते हैं । यह स्नायुगत विकार इतने अधिक रूपोंकी रचना कर लेते हैं कि यदि हजारों रोगियोंकी भी परीक्षा करके देखा जाय, तो ऐसे कोई दो रोगी भी न पाये जायँगे जिनमें बाहरी लक्षण एकसे मिलते हों । अतएव यदि औषध-सम्प्रदायको इन रूपोंके बखेड़ेके कारण स्नायु-विकारोंका यथार्थ निदान करने, उनके नाम रखने और उनके उपयुक्त औषधियाँ ढूँढ़नेका कोई आधार न मिलता हो, तो आश्चर्य ही क्या है । और रोग दूर करनेके विषयमें तो भला कहना ही क्या है ! औषधियोंसे इन व्याधियोंमें इससे अधिक अवतक कोई लाभ नहीं पहुँचा है कि स्नायुओंमें विकारकी ओरसे वेसुधी आ जाय । अर्थात् कुछ समय-के लिए विकारका बोध होना बन्द हो जाय ।

यह समझना भूल है कि कोई औषधि भीतर जाकर स्वयं कुछ फायदा पहुँचा देती है । वास्तवमें यह शरीरका धर्म है कि वह अपनेमें-से दूषित द्रव्यको निकालनेका प्रयत्न करता है, चाहे उस प्रयत्नकी गति तीव्र हो या शिथिल ।

एक समय हम देखते हैं कि शरीर अपनेमेंसे दुर्द्रव्यको निकालनेका तीव्र प्रयत्न कर रहा है । यह बात तब पैदा होती है, जब औषधि इतनी थोड़ी मात्रामें दी जाय कि वह शरीरपर कोई घातक प्रभाव नहीं डाले । जब डाक्टर लोग औषधिकी बड़ी मात्राके द्वारा विष पहुँचा देते हैं, तब उसका आघात शरीरपर साफ तौरसे दिखाई पड़ता है । साथ ही साथ शरीर तीव्र व्याधिके रूपमें स्वास्थ्य सम्पादन करनेके लिए प्रयत्न किया करता है और बाहर दीखनेवाले मन्द व्याधिके लक्षण एक तरह दबसे जाते हैं । डाक्टरी इलाजमें रोगके दूर होनेका और बादको

फिर उभर आनेका भी यही कारण है। पहले स्नायुओंके निर्जीव हो जानेसे वे रोग दब जाते हैं, परन्तु जब शरीरमें चेतनता लौटती है, तो वे रोग फिर प्रकट हो जाते हैं। तीव्र ओषधिके रूपमें विषकी बड़ी बड़ी मात्रायें शरीरमें इतनी अधिक बेसुधी पैदा कर देती हैं कि रोगी मर जाता है। यदि मात्रा थोड़ी होती है, तो भले ही यह बेसुधी मृत्यु तक न पहुँचे, परन्तु सारे शरीरको हानि अवश्य पहुँचा देती है।

यह निश्चय है कि बहुतसे स्नायु-विकार तो उस औषधके प्रयोगसे पैदा हो जाते हैं, जो कि एक छोटी व्याधिको दूर करनेके लिए व्यवहार की जाती है। बहुत छोटी मात्रामें ओषधिका असर प्रायः बिलकुल उलटा दिखाई पड़ता है। शरीर बेसुध होनेके बजाय उस विषको निकालनेके लिए और दूना उद्योग करने लगता है, जिससे उसमें एक तरहकी जागृति प्रतीत होती है। परन्तु ध्यान रहे कि यह जागृति उस बेसुधीकी भूमिकाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

स्नायु-विकारकी चिकित्साके सम्बन्धमें यह तो मानना पड़ेगा कि धुरन्धर डाक्टरी सम्प्रदायको अभीतक कुछ भी सफलता प्राप्त नहीं हुई है। उसके प्रसिद्ध प्रसिद्ध अनुयायियोंने यह प्रायः स्वीकार किया है कि इन रोगोंकी दशमें सहायता देनेके लिए वे अभीतक तैयार नहीं हैं। हवाकी तबदीली, यात्राके द्वारा मनोरञ्जन इत्यादि ऐसे ही सीधे-सादे उपायोंसे कालक्षेप किया जाता है। इस तरह तबीयतको थोड़ा बहुत चैन भले ही मिल जाय, परन्तु इन उपदेशोंसे यह बात प्रकट होती है कि डाक्टर लोग स्नायु-विकारोंकी प्रकृति और उनके कारणोंको कितन कम जानते हैं। जो काम अबतक उनके किये न हो सका, जिसके समझनेमें अबतक उनके बड़े बड़े आचार्य असफल रहे, उसको इस

नवीन चिकित्सा-विज्ञानने पूरा कर दिखाया है। मेरी चिकित्साकी रिपोर्टें और रोगियोंके धन्यवाद-पत्र इस विषयको इतना स्पष्ट कर देते हैं, जितना कि वैज्ञानिक ढकोसलोंसे नहीं होता। अब मैं इन विकारोंके सम्बन्धमें कुछ मुख्य मुख्य बातें सुनाना चाहता हूँ।

हमारे शरीरमें दो प्रकारके स्नायु हैं—एक वे जो हमारी इच्छाके अधीन हैं और दूसरे वे जो स्वाधीन हैं और श्वासोच्छ्वास, भोजनक परिपाक और रक्त-संचारका काम करते हैं। इस लिए यदि यह कह दिया जाय कि शरीरमें विजातीय द्रव्यके भारसे जितने रोग होते हैं, वे सब स्नायु-विकार भी हैं, तो लोग हैरान रह जायेंगे। परन्तु बात साफ है। हमको पहले-पहल रोगका पता उस समय चलता है, जब कि शरीरके कामोंमें अड़चन होती है या दर्द होता है। परन्तु वास्तवमें ऐसा तभी होता है जब कि रोग थोड़ा बहुत बढ़ जाता है। इस दशाका ठीक ठीक पता मुखाकृति-विज्ञानसे अच्छी तरह चल सकता है। हम यह जानते हैं कि शरीरमें विजातीय द्रव्यकी स्थितिके बिना रोग उत्पन्न ही नहीं हो सकता। यह विजातीय द्रव्यका भार केवल शरीरके किसी विशेष अवयवहीके कार्यमें बाधा नहीं डालता, बल्कि उन स्नायुओंके काममें भी अड़चन पैदा कर देता है, जो उन अवयवोंसे सम्बन्ध रखते हैं अथवा उनके कार्यको नियन्त्रित करते हैं—और जब तक स्नायुओंपर आघात नहीं पड़ता, तबतक हमको रोगका बोध ही नहीं होता। साधारण मनुष्य केवल उन रोगोंकी ओर ही ध्यान देता है, जो उन अवयवोंमें होते हैं जो उसकी इच्छाके अधीन हैं।

जो व्याधियाँ श्वासोच्छ्वास, रक्त-संचार और पाचनशक्तिके कार्यमें बाधा उत्पन्न करती हैं, वे बहुत शनैः शनैः प्रकट होती हैं। इस दशामें भी स्नायुओंमें विकृति हो जाती है और हमें रोगकी सूचना

मिलती है। ये स्नायु इच्छाधीन नहीं होते हैं, परन्तु इनकी अच्छी हालत-पर ही उन अङ्गोंके सञ्चालनका दारमदार होता है। जो इच्छाधीन नहीं हैं—जैसे फेफड़े, हृदय, उदर, गुर्दे, आँतें और बस्ती—उन स्थानोंकी अथवा जठराग्निकी बिगड़ी हुई अवस्थाका ज्ञान हमको तबतक नहीं होता, जबतक इन स्थानोंके स्नायुओंकी भी साधारण क्रियामें विजातीय द्रव्यके भारके कारण कोई बाधा उत्पन्न न हो जाय। अतएव इन रोगोंमेंसे प्रत्येकके साथ साथ उनके सम्बन्ध रखनेवाले स्नायुओंका भी रोगी होना अवश्यम्भावी है। इस प्रकार यह एक असम्भव बात है कि मनुष्यकी जठराग्नि तो बिगड़ जाय, परन्तु उसके कार्यको संचालन करनेवाले स्नायुओंकी दशा ठीक बनी रहे।

पहले यह कहा जा चुका है कि उत्तम जठराग्नि आरोग्यताकी पहली सीढ़ी है; क्योंकि परम्परासे प्राप्त हुए विजातीय द्रव्यको छोड़कर समस्त विजातीय द्रव्य जठराग्निके बिगड़नेहीसे शरीरमें प्रविष्ट होता है। इसलिए प्रत्येक व्याधि और स्नायुगत विकार या तो पाचनके बिगड़नेसे हो सकता है या वंश-परम्परासे। सम्पूर्ण व्याधियोंका मूल कारण यही है—उनके नाम चाहे जो हों। यदि शरीरमें यथेष्ट जीवनी शक्ति वर्तमान होती है, तो वह रोगोंके द्वारा विजातीय द्रव्यको निकालनेका तीव्र (Acute) प्रयत्न करती है, जिसका नाम शोधन-प्रक्रिया है। किन्तु जब जीवनी शक्ति घट जाती है, तब दीर्घकालव्यापी अर्थात् मन्द (chronic) व्याधिके लक्षण प्रकट होते हैं। व्याधियाँ दूर नहीं होती हैं; किन्तु उनके रूपोंमें परिवर्तन हो जाता है और अन्तमें वे चलते चलते दुःखदायी स्नायु-सम्बन्धी और मानसिक रोगोंके रूपमें परिणत हो जाती हैं। स्नायुगत रोग

केवल मन्द और छिपी हुई शारीरिक व्याधियाँ हैं, उनके बाहरी लक्षण चाहे कुछ भी क्यों न हों ।

स्नायुगत रोगोंमें भी और रोगोंकी तरह हमें वही दो मुख्य लक्षण मिलते हैं—या तो ठंड अथवा बढ़ी हुई गरमी, जो कि इस बातका पता देती हैं कि शरीरके भीतर ज्वर है ।

इससे यह सिद्ध होता है कि स्नायु-विकार भी ज्वरकी ही मन्द और गुप्त दशाको प्रकट करते हैं । ऐसी दशामें यदि मैं यह कहूँ कि स्नायु-सम्बन्धी रोगोंकी उत्पत्तिका भी वही हेतु है, जो कि शीतला, खसरा, डिफ्थेरिया, रक्तविकार आदि रोगोंका है, तो इससे यह नतीजा भी निकलता है कि उक्त रोगोंकी जो चिकित्सा है, उसी चिकित्सासे स्नायु रोगोंमें भी फायदा होगा । और इसे मैं हजारों रोगियोंको अपनी चिकित्सासे अच्छा करके सिद्ध कर चुका हूँ, जैसा कि इस पुस्तकके अन्तमें छपे हुए मेरे प्रशंसा-पत्रोंसे विदित होता है ।

इन प्रमाणोंसे हमें तमाम स्नायु-विकारोंकी प्रकृति, उत्पत्ति और चिकित्साका साफ साफ पता लग जाता है । अब हमको प्राचीन डाक्टरोंकी तरह निराश होकर मुँह नहीं ताकना पड़ता । जब रोगकी अस-लियतको समझ लिया गया, तब हम उसका प्रतीकार भी बखूबी कर सकते हैं ।

जो मनुष्य व्याधियोंकी अगणित सेनाको मेरे दृष्टिकोणसे देखेगा, वह उसी समय समझ जायगा कि केवल वही मनुष्य चिकित्सा करनेका अधिकारी है, जो रोगोंके लक्षणोंसे रोगके यथार्थ तत्त्वका निर्णय कर सकता है । किसी सेनाके लिए वही सेनापति ठीक होता है, जो उसके विविध विभागोंसे अच्छी तरह परिचित हो । जो सेनापति अपनी सेनाके योद्धाओंसे अपारिचित होगा,

उसकी पराजय निश्चित है। यही बात आजकलके स्पेशलिज्मकी है। यह स्पेशलिज्म चिकित्सा-विज्ञानके लिए अवश्य घातक है और सर्व-साधारणके मनमें इस विज्ञानके प्रति नित्य नवीन अश्रद्धा पैदा करता जाता है। भला यह किस तरह सम्भव हो सकता है कि स्पेशलिज्म विज्ञानका तो दम भरे और मानव-शरीरको चलानेवाले प्राकृतिक नियमोंकी अवहेलना करता हुआ केवल किसी एक ही भागकी चिकित्सा करे और बाकी शरीरकी ओर ध्यान न दे ?

हमारे विचारसे स्पेशलिज्म चिकित्सा-विज्ञानमें एक कदम पीछे हटना है, अथवा वह भाग है जो अपनी समष्टिसे पृथक् होकर हमारी विचारदृष्टिका अवरोध करता है। केवल वही मनुष्य जिसको कि समष्टिका ठीक ठीक ज्ञान है, जो प्रकृतिको एक बड़ी अखण्ड व्यष्टि मानता है, इस योग्य है कि जो कुछ वह देखे उसका ठीक ठीक मतलब निकाले और उन नियमोंसे लाभ उठाए जिनपर वह दृश्य बैधा हुआ है। प्रकृति कितनी बार एक वस्तुको अनेक रूपोंमें दरसाती है, जो कि एक दूसरेसे बिल्कुल पृथक् होते हैं। ये सब रूप केवल तापमानके आश्रित हैं। एक पानीका ही दृष्टान्त ले लीजिए। देखिए, वह कितने रूप धारण करता है। कभी तरल है, कभी कुहरा है, कभी भाप है और कभी बादल है। केवल गरमीकी कमी-वैशी ही इसमें कारण है, वस्तु हर हालतमें एक ही है। केवल

× किसी कला-कौशल्य या विषयके अंश विशेषको लेकर उसीमें उन्नति करनेको स्पेशलिज्म (specialism) कहते हैं। जैसे कोई चिकित्सक केवल नेत्रकी, कोई अर्शकी, कोई प्रमेहकी और कोई स्नायुसम्बन्धी रोगोंकी ही चिकित्सा करता है तथा उन्हीं रोगोंके विषयमें तरह तरहके अन्वेषण किया करता है।

वही मनुष्य अपनी दृष्टिमें पड़नेवाली वस्तुओंका वास्तविक अर्थ समझ सकता है और उनका संचालन करनेवाले नियमोंसे लाभान्वित हो सकता है, जिसे समस्त वस्तुओंका पूरा ज्ञान है और जो प्रकृतिको एक महाशक्तिके रूपमें देखता है ।

एलोपथिक विज्ञान स्नायु-रोगोंके निदानमें वैसा ही अपूर्ण है जैसा कि उनको अच्छा करनेमें । स्नायु-रोगोंकी अनेक अवस्थाओंको तो डाक्टर लोग बिल्कुल पहिचान भी नहीं सकते । मेरे पास जो अनेक रोगी और सब जगह टक्करें मारनेके बाद आये हैं, वे डाक्टरी चिकित्सा-विज्ञानकी अपूर्णताकी जीती जागती मिसाल हैं । उनमेंसे अनेक रोगियोंको तो डाक्टरोंने यह कहकर पूरा तन्दुरुस्त बता दिया था कि उन्हें बहमके सिधा कोई रोग नहीं है । किन्तु मैंने अपने 'मुखाकृति-विज्ञान' के द्वारा यह तत्काल निश्चय कर दिया कि रोगीके शरीरमें विजातीय द्रव्य कितना अधिक भरा हुआ है । मेरे स्नायु-रोगी इस चिकित्सासे अपनी शारीरिक दशा सुधरती देखकर चकित हो गये हैं । वे यह भी देख चुके हैं कि जितना जितना विजातीय द्रव्य उनके शरीरसे निकलता गया, उतना ही उतना उन्हें आराम होता गया । जिन मनुष्योंने विजातीय द्रव्यके निकलने और उससे स्थायी लाभ होनेपर एक बार भी दृष्टि डाली है, वे मेरे निदान और मेरी चिकित्सा-विधिमें कदापि सन्देह नहीं करेंगे ।

मेरे निदानकी विधि मेरे अनुगामियोंको चिकित्साशास्त्रमें एक उच्च आसन दिलाती है । केवल इसीकी सहायतसे स्नायुओंकी साम्या-वस्थाका ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है और विकारोंका विकास भी रोगी-को माद्धम होनेसे वर्षों पहले जाना जा सकता है । मुख्यतः

विजातीय द्रव्यका एकत्र होना स्नायु-विकारका बोधक है। ‘मुखाकृति-विज्ञान’ में यह बात विस्तारके साथ बताई गई है।

मानसिक रोग—मानसिक रोगोंकी प्रकृतिका भी डाक्टरोंको ठीक पता नहीं है। वे जिन बातोंको दिमागके परेशान होनेका कारण बताते हैं, वे ठीक नहीं हैं। उनका भी असली कारण वही दुर्द्रव्य है, जो शरीरमें वर्षोंसे जमा होता रहता है। मानसिक रोगकी वह अवस्था—जिसे पक्षाघात कहते हैं—रोगकी अन्तिम तथा असाध्य दशा है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ अस्वाभाविक जीवन-चर्याके कारण धीरे धीरे बिगड़े हुए पाचनमे दुर्द्रव्य शरीरमें शनैः शनैः इकट्ठा हो जाता है। परन्तु साधारण रीतिसे सब मनुष्य एक ही तरहका जीवन-निर्वाह और एकसा मिथ्या आहार-विहार नहीं करते हैं, इस लिए सब लोगोंको मानसिक रोग भी नहीं होता। इस रोगका होना विजातीय द्रव्यकी मात्रा और विकासपर ही आश्रित है। मानसिक रोग सिर्फ तभी उत्पन्न हो सकता है, जब कि विजातीय द्रव्य अधिक परिमाणमें संचित हो गया हो। वह भी तब जब कि पीठके भारका आक्रमण सिरकी तरफ हो चला हो। मानसिक रोगोंके अधिक और प्रबल रूपसे होनेका एक प्रधान कारण आजकलकी नई रोशनी है। क्योंकि इसीके कारण लोग प्रकृतिके अटल नियमोंको तोड़कर विरुद्धाचरण करनेपर उतारू हो जाता है। इसका दोष अधिकतर उस डाकटरी सम्प्रदायके सिरपर है, जिसके स्वास्थ्यसम्बन्धी विचार और नियम प्रकृति जो सिखाती है उससे बिल्कुल विरुद्ध हैं। पानी तो स्वास्थ्यके लिए हानिकार बताकर रोक दिया जाता है और उसकी जगह बियर, आसव तथा भौंति भौंतिकी मदिराएँ और सोडा-वाटर आदि खनिज जल (Mineral Water) पिलाये जाते हैं। मनुष्य

इतना अधिक धूम्र-पान करने लगे हैं कि बिल्कुल चिमनी बन गये हैं और इतना मद्य पीते हैं कि बिल्कुल शराबके पीपे हो गये हैं। परिणाम यह हुआ है कि शरीरोंमें क्षीणता और आलस और बढ़ गया है। ऐसा दशार्थे यदि शिथिल स्नायु-जालको उत्तेजित करनेके लिए तीव्र ओषधियोंका प्रयोग करना पड़ता है, तो आश्चर्य ही क्या है। घुट्ट मकान और भीड़से भरे कारखाने भी स्वास्थ्यके लिए कुठार हैं।

ग्राम्य जीवन अब भी मानसिक व्याधियोंसे बचा हुआ है, क्योंकि वहाँ अब भी कुछ न कुछ प्राकृतिक नियमोंका पालन होता है, स्वच्छ वायु मिलती है और डाक्टरी शिक्षाका प्रवेश नहीं हुआ है। वहाँ दैवात् यदि कोई रोगी मिलता भी है, तो बस वही, जो किसी मद्यप या शराबीकी सन्तान है। ऐसी सन्तानके शरीरोंमें पैतृक दुर्देव्य भरा होता है, जिससे मानसिक व्याधि अथवा और कोई बड़ी व्याधि उठ खड़ी होती है; क्योंकि सन्तान सदैव माता-पिताकी प्रतिरूप होती है। एल्कोहल मिली शराब पाचन-शक्तिपर इतना अधिक कार्य-भार डाल देती है कि उसमें और कोई कार्य करनेकी शक्ति शेष ही नहीं रहती। शराबियोंको इतनी अधिक थकान होने और इतना अधिक नींद आनेका यही कारण है। उनके हाज्मेको असाधारण कार्य करना पड़ता है। उसे पचानेके लिए हाज्मेमें उत्पन्न हुए उद्वेगसे जो गैसें उठती हैं, उनसे मस्तिष्कपर बहुत जोर पड़ता है। इसीसे मद्यपोंमें मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। पिताके उन्मत्त या अर्धोन्मत्त होनेके समय यदि गर्भाधान होता है, तो बच्चेकी प्रवृत्ति अवश्य पागलपनकी ओर होती है। शर्त यह है कि उस अवस्थापर पहुँचनेसे पहले उसकी मृत्यु न हो जाय।

प्रत्येक मानसिक रोगकी उत्पत्ति पाचनके बिगड़नेसे ही होती है—

चाहे वह परम्परासे प्राप्त हुआ हो अथवा देश, काल और प्रकृति-विरुद्ध पदार्थोंके सेवन करनेके कारण हुआ हो। इसी तरह चाहे रोगीके शरीरमें दुर्द्रव्य उसका स्वयं संपादित किया हुआ हो या परम्परासे उसके शरीरमें आया हो, और सब रोगोंके समान उसका आरम्भ पेड़से ही होता है।

मनुष्य जितना सादा और प्राकृतिक जीवन निर्वाह करता है, उतना ही वह नीरोग और प्रसन्न रहता है। इसी कारण हब्शी लोग जिस समय दासत्व प्रथाके कारण सादगीसे रखे जाते थे और लगातार मेहनत करते थे, मानसिक व्याधियोंसे मुक्त थे; परन्तु अब स्वतन्त्र होकर वे भी उच्च जीवन निर्वाह करनेके कारण नई रेशनीके खुराब नतीजोंके शिकार हो रहे हैं।

यह प्रसिद्ध बात है कि मानसिक व्याधियाँ पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंको बहुत कम होती हैं। निश्चय ही इसका कारण यह है कि स्त्रियाँ पुरुषोंकी अपेक्षा बहुत सादगीसे जीवन व्यतीत करती हैं। इस दशामें यदि स्त्रियोंमें कहीं उन्माद आदि मानसिक व्याधियाँ पाई जाती हैं, तो उसका कारण परम्परागत विजातीय द्रव्य होता है।

बहुतसे मानसिक रोगोंमें देखा जाता है कि बीमारीके पहले या साथ ही साथ शारीरिक और मानसिक चञ्चलता बढ़ जाती है। इसका कारण वर्णन करनेमें हमारे स्पेशियालिस्ट भाई बिल्कुल असमर्थ हैं। दुर्द्रव्य जो कि शनैः शनैः शरीरमें और विशेषकर दिमागमें भरता है, दिमागपर उत्तरोत्तर जोर डालता चला जाता है और इस तरह उसका स्नायु-जालपर भी असर पड़ता है। नतीजा यह होता है कि कुछ साल बाद उन अवयवोंमें उत्तेजना आ जाती है। यह दशा अपने आपको नानारूपोंमें दरसाती है, जैसा कि स्नायु-रोगोंके प्रस-

झमें बताया जा चुका है । शरीर और मन एक कामसे दूसरे कामकी ओर भागे भागे फिरते हैं; परन्तु कहीं शान्ति और सन्तोष नहीं मिलता । बाल्यकालमें प्रायः इस बुरी हालतको ज़हानतके नामसे पुकारा जाता है, परन्तु इस दशाका परिवर्तन युवावस्था आनेसे पहले नहीं होता । उन आश्चर्यजनक कार्य करनेवाले बालकोंमें तरुण होने-पर वह योग्यता नहीं पाई जाती ।

मानसिक रोगोंका एक कारण पीठकी ओर विजातीय द्रव्यका इकट्ठा हो जाना है । वह यदि किसी तीव्र व्याधिके द्वारा शरीरसे बाहर नहीं निकलता है, तो पेड़की मुख्य मुख्य शिराओं, स्पेशल कार्ड और रीढ़की शिराओंपर बहुत बुरा प्रभाव डालता है । गुप्त ज्वरके द्वारा कोई स्थायी मन्द व्याधि पैदा हो जाती है, जो कि मानसिक विक्रियाके रूपमें अपनी चरम सीमाको पहुँच जाती है । तीव्र रोगोंकी दशामें यदि दूषित द्रव्य भीतर ही भीतर काफी दबाव डालने लगता है, तो मानसिक विकार प्रायः सहसा प्रकट और लुप्त होता रहता है । साथ ही यह भी देखा जाता है कि पागल आदमी किसी किसी समय बिल्कुल अच्छे हो जाते हैं और उनके दिमागमें फितूरका कोई चिह्न नहीं दिखाई देता । इसका कारण यह है कि उस समय दूषित द्रव्यका उपद्रव शान्त हो जाता है; परन्तु जैसे ही वह उपद्रव फिर सबल हो पड़ता है, वैसे ही वह चार दिनकी चाँदनी छिप जाती है ।

फालिज भी मानसिक रोगकी बड़ी हुई अवस्थाके सिवा और कुछ नहीं है । डाक्टरोंका यह कथन कि जिन लोगोंपर फालिज गिरता है, वे प्रायः हृष्ट, पुष्ट और पूर्ण स्वस्थ होते हैं, केवल इस बातका प्रमाण है कि वे लोग वास्तविक स्वास्थ्यके कितने जानकार हैं । किन्तु इस विषयका हमें उनसे अच्छा ज्ञान है । हमारी समझमें कोई भी

प्रोप्रेसिव पेरेलेसिस जैसा भयङ्कर रोग अकस्मात् कदापि नहीं हो सकता। इस रोगके पूर्व लक्षण और उसकी उत्पत्ति मुखाकृति-विज्ञानके द्वारा बहुत पहले जानी जा सकती है। इसलिए यह कहना नहीं बनता कि स्वास्थ्यसम्पन्न मनुष्योंके शरीरमें कोई मानसिक विकार सहसा खड़ा हो सकता है।

मानसिक व्याधि तभी शान्त हो सकती है, जब कि उसके कारण-रूप विजातीय द्रव्यको निकाल दिया जाय। मैं उन्मादके अनेक रोगियोंको इस चिकित्सा-विधिसे आराम कर चुका हूँ, जिनसे मेरे कथनकी सत्यता पूरी तरहसे सिद्ध होती है। नीचे एक ऐसे ही रोगीका उल्लेख किया जाता है:—

एक लड़की जिसकी अवस्था २३ वर्षकी थी, कई सालसे बिल्कुल पागल थी। उसे उसके माता-पिता—जो उसकी दशासे अत्यन्त दुखी थे—मेरे पास लाये। इस रोगीके भीतर विजातीय द्रव्या अनुकूल स्थितिमें थे, इस लिए मैंने उसके माता-पिताको धैर्य देकर कहा कि आप कुछ दिन तक मेरी चिकित्साकी परीक्षा करें। बीमारकी दशा इतनी खराब थी कि वह स्वयं स्नान भी नहीं कर सकती थी, उसकी माताको उसे स्नान कराना पड़ता था। किन्तु चार सप्ताह-में ही उसकी अवस्थामें इतना परिवर्तन हो गया कि वह स्वयं स्नान करने लगी और उसकी गन्दी आदतें बिल्कुल न रहीं। छह महीनेके भीतर ही वह अपने तन्दुरुस्त घरवालोंमें मिल-जुल गई।

उसको इतनी जल्दी आराम हो गया, इसका कारण विजातीय द्रव्यकी अनुकूल स्थिति थी, जिससे पाचन-क्रिया शीघ्र ही सुधर गई और इस कारण भी उसे शीघ्र लाभ हुआ कि वह चिल्लाती न थी; बल्कि चुपचाप पड़ी रहती थी।

किन्तु उन दशाओंमें रोग असाध्य हो जाता है जब कि विजातीय द्रव्य अनिष्ट स्थान ग्रहण कर लेता है, अथवा रोगीकी दशा ऐसी हो जाती है कि मेरी चिकित्साका बनना ही असम्भव हो जाता है। जैसे कभी कभी ऐसे रोगी मिल जाते हैं जो स्नानके लिए किसी तरह राजी ही नहीं होते। मानसिक व्याधि प्रायः क्षयकी तरह रोगकी अन्तिम अवस्था होती है। इस लिए रोगके साथ तभी तक युद्ध सम्भव है जबतक कि उसके लिए कुछ समय भी शेष हो। अबसे पहले यह बात असम्भव थी; क्योंकि चिकित्साका ठीक रास्ता मालूम न था। और रोगहीका पहले पहल तब पता चलता था जब कि वह असाध्य हो जाता था। परन्तु आज हमारे मुखाकृति-विज्ञानके द्वारा मानसिक रोगोंकी उत्पत्ति वर्षों पहले जान ली जा सकती है, जिससे हम उसके साथ पूरी सफलतासे युद्ध कर सकते हैं।

आजकल बहुतसी मानसिक व्याधियोंको असाध्य कहा जाता है, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। प्रमाणमें मैं एक रोगीकी चिकित्साका हाल सुनाता हूँ।

एक आदमीको उपदंश (गर्मी) रोगके पश्चात् प्रबल पक्षाघात हो गया था। उसकी पाचन-शक्ति कई सालसे निर्बल हो रही थी, और व्यापारिक चिन्ताओंके कारण मानसिक उत्तेजनासे और भी बिगड़ती जाती थी। नाना प्रकारकी चिकित्सायें हुईं, परन्तु अवस्था दिनपर दिन बिगड़ती ही गई। अन्तमें अनेक चिकित्सकोंके परामर्शसे जुलाई सन् १८९७ में वह एक जगह एक खनिज सोतेका जल सेवन करनेके लिए गया। परन्तु उस जलका इतना बुरा प्रभाव पड़ा कि रोगीकी दशा और भी बिगड़ गई। उसकी वाक्शक्तिपर खराब असर पड़ा और उसका

यह ज्ञान भी जाता रहा कि मैं क्या बोल रहा हूँ । तब चार बड़े बड़े डाक्टर बुलाये गये । उन्होंने बहुत सोच-विचारकर रोगीके शरीरपर पारा (मरक्युरी) मलनेकी सम्मति दी । इसका कोई दो बार ही प्रयोग हुआ होगा कि रोगीका कष्ट और भी बढ़ गया । जब चिकित्सक उससे कोई बात पूछता था, तो वह उस प्रश्नको दुहरानेके सिवा और कोई उत्तर ही नहीं दे सकता था । जब उक्त चिकित्सकोंसे भी आरोग्य-लाभ होनेकी कोई आशा न रही, तब उसे वायना (Vienna) के एक सुविख्यात और अनुभवी डाक्टरके पास ले गये, जो इन रोगोंका स्पेशियलिस्ट था । रोगपरीक्षा करके उसने यह निर्णय किया कि इसको मस्तिष्कका क्षय (Atrophia cerebri) और वर्धमान पक्षाघात है और यह भी कहा कि रोगीको शीघ्र ही पागलखानेमें बन्द करना पड़ेगा, इसके आरोग्य होनेकी कोई आशा नहीं है, तथापि आयोडीन (Iodine) सेवन करनेकी अनुमति दी; किन्तु वह सेवन नहीं कराया गया । आखिर एक मित्रके अनुरोधसे उसके संरक्षक लोग मेरी चिकित्सा-विधिकी अन्तिम परीक्षा करनेके लिए उसे लिपज़िग (Leipsic) ले आये । चिकित्साके आरम्भमें रोगी बिल्कुल नहीं बोल सकता था और बिल्कुल अचेत था । उससे जो कुछ पूछा जाता था, उसका कोई उत्तर नहीं मिलता था । इसके सिवा बिल्कुल निरुत्साह और निश्चेष्ट हो जानेके कारण वह मल-मूत्रत्याग आदि क्रियाओंके करनेमें भी असमर्थ हो गया था । शीतल-स्नान और प्राकृतिक आहारके करानेसे उसका रोग शीघ्र शमन होने लगा और तीन दिनमें ही उसकी जठराग्नि अच्छी होने लगी । एक सप्ताहमें उसमें पूर्ण रूपसे चेतनता आ गई और वह अच्छी तरह बातचीत करने लगा । क्रमशः उसकी अवस्था

सुधरती गई और आठ सप्ताहमें, वह पूर्ण आरोग्य हो गया—पक्षाघात-का कोई भी लक्षण उसके शरीरमें बाकी न रहा ।

इन दोनों रोगियोंकी चिकित्सासे रोगोंकी एकताके सम्बन्धमें आश्चर्यजनक प्रमाण मिलता है । यदि वास्तवमें मानसिक रोगोंका मूल कारण वह न होता जो और रोगोंका होता है, तो जिस चिकित्सासे और रोगोंमें सफलता प्राप्त हुई है, उस प्राक्रियासे मानसिक रोगोंका दूर करना सर्वथा असम्भव होता ।

फेफड़ोंके विकार, उनमें प्रदाह, क्षय, प्ल्यूरिसी और ल्यूपस

दूसरी व्याधि—जो कि चिकित्साके पैरे उखाड़कर डाक्टरोंके दाँत खड़े किये हुए हैं—राजयक्ष्मा अथवा क्षयके नामसे प्रसिद्ध है । यह फेफड़ोंकी बीमारी है । वर्तमान कालमें यह प्रबल शत्रु संसारका बड़ा नाश कर रहा है । यह अवस्था और व्यवसायका कोई ध्यान न रखकर लोगोंको अपना प्रास बनाये चला जाता है, और यह देखकर मनुष्य-जाति भयके मारे काँप रही है । संसारमें कदाचित् ही किसी दूसरे रोगका इतना दौरेदौरा हो, जितना कि अनेक रूप और अवस्था धारण किये हुए फेफड़ोंके विकार या क्षयका है । इस भयंकर रोगके लक्षण इतने भिन्न भिन्न होते हैं कि कोई दो रोगी एक दशामें कभी न मिलेंगे । एकको साँसकी बीमारी होती है, दूसरेको सिर-दर्दकी, तीसरेका पाचन बिगड़ा होता है, और चौथेको कुछ माद्धम भी नहीं पड़ता । बस,

मृत्युसे १०—१५ दिन पहले फेफड़ोंमें कुछ प्रदाह होता है अथवा सहसा द्रुतगामी क्षय—(Galloping Consumption) के लक्षण प्रकट हो जाते हैं और कुछ ही दिनोंमें रोगी चल बसता है । किसी किसीकी कोई हड्डी गलने लगती है; परन्तु वास्तवमें उसको क्षय होता है । बहुतसे रोगी जिनके फेफड़ोंमें विकार उत्पन्न हो जाता है, अपने कन्धोंमें पीड़ाका अनुभव करते हैं । बहुतेरोंके आँख, या कानकी कोई बीमारी खड़ी होकर असली कारणपर परदा डाल देती है । इसमें प्रायः गलेकी बीमारी, श्वास-नालीका कफ, खँसी, पुराना जुकाम और क्षयके चिह्न होते हैं । किसीके पैरोंके पुराने विकार या टाँगों और पैरोंमें फोड़े हो जाते हैं । किसीके ल्यूपस और हर्पीज मिलते हैं, जो कि मुखाकृति-विज्ञानके न जाननेवालेको रोगके वास्तविक निदानमें धोखा दिया करते हैं ।

क्षयके प्रायः सभी रोगियोंका मुँह थोड़ा बहुत खुला रहता है । ऐसा दिनमें ही नहीं होता, सोते समय भी उन्हें साँस जल्द लेनेके लिए मुँह खुला रखना पड़ता है । इसका कारण यह है कि शरीर अन्दरकी बढ़ी हुई गर्मीसे बाहरकी ठंडी हवाके लिए व्याकुल रहता है ।

फेफड़ोंका यह काम है कि वे शरीरमें घूमनेवाले खूनको शुद्ध वायुके द्वारा साफ करते रहते हैं । जब विजातीय द्रव्यके भर जानेसे फेफड़े इस कामको पूरा नहीं कर सकते, तब वह कूड़ा—जो कि निकल जाना चाहिए था—शरीरके भीतर रुककर नित्य बढ़ता रहता है और वहाँ पहलेसे मौजूद दुर्द्रव्यके परिमाणको बढ़ाता रहता है । यह व्यापार मुख्यतासे फेफड़ोंका है । इसी कारण वे सबसे अधिक बीमार होते हैं । इसका यह परिणाम होता है कि खून बिगड़ जाता है और उससे शरीरके भीतर खुश्की और भस्म करनेवाली गर्मी पैदा हो

जाती है। इसीसे फेफड़ोंमें मन्द प्रदाह और सड़न पैदा हो जाती है। ये सड़े हुए भाग निर्जीव होकर बलगमके रूपमें खाँसीके साथ बाहर निकलने लगते हैं।

क्षयकी बीमारीकी विभीषिका आए दिन बहुत फैल रही है। असाध्य अवस्थाको पहुँचनेसे पहले डाक्टर लोग फेफड़ोंको बजाकर या उनका शब्द सुनकर भी, दुःख है, कि बीमारीका ठीक निदान नहीं कर सकते हैं। वास्तवमें क्षय-रोग आरम्भ होनेसे वर्षों पहले जाना जा सकता है; किन्तु औषध-सम्प्रदायकी झूठी निदान-पद्धति उसे पहचाननेमें सर्वथा असमर्थ है।

फेफड़ोंकी बीमारीको प्रसिद्ध (?) ट्यूबरक्यूलिनके टीकेसे अच्छा करना उतना ही असम्भव है जितना कि उसे नश्वर देकर अच्छा करना। जैसा कि हालमें फेफड़ोंके गढ़ेदार हिस्सेको काटकर व्यर्थ उद्योग किया गया है। वास्तवमें ऐसी कोई औषध नहीं है, जो फेफड़ोंकी विनाशकारी क्रियाको रोक सके। केवल एक ही साधन है, जिसके द्वारा हम फेफड़ोंकी नाशकारी क्रियाको उसी रास्ते-पर वापिस लौटा सकते हैं, जिसपर वह शनैः शनैः वर्षों तक चलकर आगे बढ़ी है; अर्थात् संचित होती रही है। मेरी विधिसे रोगकी गति अपने ही मार्गपर लौटाई जा सकती है। फेफड़ोंकी चिकित्साके लिए इस बातकी सबसे बड़ी आवश्यकता है कि रोगकी प्रारम्भिक अवस्थाओंको ठीक समयपर पहचान लिया जाय, जिसका पता 'मुखाकृति-विज्ञान'के द्वारा वर्षों पहले प्रायः बचपनमें ही चल सकता है। इस कारण मेरी निदान-विधि क्षय-रोगीके लिए बड़ी उपयोगी है। वास्तवमें औषध-सम्प्रदायके लिए रोगका समयपर पहचान लेना भी निष्फल है; क्योंकि वे लोग क्षय-रोगको दूर ही नहीं कर

सकते, चाहे रोग प्रारम्भिक अवस्थामें हो और चाहे बड़ी हुई अवस्थामें। प्रारम्भिक अवस्थामें तो स्वयं रोगीको ही खबर नहीं होती, इसलिए रोगीको उसके भावी रोगका विश्वास दिलाना प्रायः असम्भव हो जाता है। एक बार मैंने अपनी एक बालिका दासीको जो कि देखनेमें दृष्ट-पुष्ट और तन्दुरुस्त दिखाई देती थी, उसकी भलाईके विचारसे बतला दिया कि तुझे 'क्षय' होनेवाला है और समझाया कि अच्छा हो यदि तू अभीसे अपनी चिकित्सा आरम्भ कर दे, नहीं तो एक वर्षके भीतर ही रोग असाध्य हो जायगा। इसपर उसने बिगड़कर कहा कि मैं बिल्कुल अच्छी हूँ, मुझे चिकित्साकी आवश्यकता नहीं है। मैं चुप हो गया। इसके बाद उसकी मृत्युसे चार महीने पहले उसे फिर सचेत किया; किन्तु दुर्भाग्यसे उसने फिर भी ध्यान न दिया। तीन महीने बाद वह बीमार पड़ी और एक महीनेके भीतर ही द्रुतगामी क्षयका शिकार होकर मर गई।

मैं अब फेफड़ोंकी व्याधिके हेतुका वर्णन करूँगा। फेफड़ोंके विकार—किसी पहली बीमारीकी अन्तिम अवस्थाका नाम है जो कि पूरी तरह आराम न हो सकी थी; बल्कि किसी औषधके द्वारा दबा दी गई थी। जननेद्रियसम्बन्धी रोग फेफड़ोंके विकारकी जड़ है, चाहे यह दुर्द्रव्य माता-पितासे ही सन्तानमें क्यों न पहुँचा हो। शरीरमें विजातीय द्रव्य गुप्त रीतिसे संग्रह रहता है, जो गर्भाधानके द्वारा बालकके शरीरमें प्रविष्ट होकर कालानुक्रमसे कण्ठमाला या क्षयके रूपमें प्रकट होता है। वास्तवमें वीर्य शरीरका सार है, जिसमें माता-पिताकी प्रकृति स्थित रहती है और उसीके द्वारा वह बालकको प्राप्त होती है। मैंने देखा है कि कण्ठमाला-के रोगियोंको आगे चलकर क्षय अवश्य होता है। कारण, कण्ठमाला-क्षयकी पहली अवस्था है। इसलिए यह बात भले प्रकार देखी जा

सकती है कि पहली अवस्था, अर्थात् कण्ठमालाकी दशामें शरीरके भीतर इतनी शक्ति होती है कि वह दुर्द्रव्यको बाहर निकालकर अपने मार्मिक अवयवोंकी रक्षा कर सके । परन्तु शनैः शनैः वह शक्ति क्षीण होती रहती है और अन्तमें जब कि उसकी दशा क्षयरोग तक पहुँच जाती है, तब शरीरमें इतना सामर्थ्य ही नहीं रहता कि वह विजातीय द्रव्यसे होनेवाले विनाशसे भीतरी अवयवोंको बचा सके । यह बिल्कुल असम्भव है कि नीरोग मनुष्योंपर—जिनके भीतर थोड़ा सा दुर्द्रव्य अस्थायीरूपसे पहुँच गया है—ट्यूबरक्यूलोसिस अर्थात् क्षयका सहसा आक्रमण हो जाय, चाहे वे कितने ही ट्यूबरकल बेसिलाई क्यों न पी जायें । ट्यूबरक्यूलोसिसकी उत्पत्तिके लिए भीतर बहुत बड़ी हुई गर्मी होनी चाहिए, जो कि नाश करनेवाली हो; क्योंकि ट्यूबरकल बेसिलाईकी परवरिश किसी असाधारण गर्मीमें ही हो सकती है । परन्तु शरीरके भीतर बड़ी हुई यह असाधारण गर्मी विजातीय द्रव्यकी किन्हीं विशिष्ट दशाओंमें ही सम्भव है । वह या तो पितृ-परम्परासे आती है और या रोगी स्वयं अपने शरीरको अप्राकृतिक रहन सहनसे-उसे प्राप्त करता है ।

यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है कि अन्यान्य रोगोंके समान फेफड़ोंके रोग भी ऊपरसे अर्थात् पाचन-शक्तिके बिगाड़से ही उत्पन्न होते हैं । क्योंकि यह रोग चाहे वंश-परम्परासे ही क्यों न प्राप्त हुआ हो, परन्तु यह नहीं माना जा सकता कि फेफड़ोंको सीधे तौरसे भेदकर विजातीय द्रव्यका भीतर संचार हुआ है । अन्यान्य अवयवोंकी अपेक्षा फेफड़ोंका विकास कम हुआ होता है, वे निर्बल और कोमल होते हैं और इस लिए उनमें आत्मरक्षाकी शक्ति बहुत कम होती है । इस लिए यह स्वाभाविक है कि वे विजातीय द्रव्यके

अधिक संचित होनेके लिए घर बन जायें । शरीरमें पाचन-शक्तिके बिगाड़से विजातीय द्रव्य संचित होता है । वह तनावके मार्गपर चलता हुआ ऐसे स्थानमें इकट्ठा होता है, जहाँ उसे कोई छेड़ न सके । इस लिए जो मनुष्य जन्मसे ही फेफड़ोंका विकार लिये आते हैं, उनको चाहिए कि अपने शरीरमें विजातीय द्रव्यको और अधिक न बढ़ने दें ।

जिस कारणसे ठंडे देशोंके अजायब-घरोंमें गर्म देशोंके बन्दरोंकी क्षयसे शीघ्र मृत्यु हो जाती है, (अर्थात् आहारके परिवर्तनसे उनकी पाचन-शक्ति बिगाड़ जाती है), वही इस बातका भी हेतु है कि उनको क्षय-रोग ही क्यों होता है । सब दोष केवल ठंडे जल-वायुके सिर ही डाल दिया जाता है । परन्तु नहीं, यह बात केवल यहीं तक ठीक है कि ठंड पाचनके उद्वेगको शीथिल और मन्द कर देती है । इसका असली सबब यह है कि उन जीवोंको प्रकृति-प्रदत्त आहार नहीं मिलता और इस प्रकार उनको हानि पहुँचानेवाली दो बातें एक साथ मिलकर एक और एक ग्यारह हो जाती हैं । बन्दरोंको उनके गर्म निवास-स्थानसे हटानेके बाद मैंने उनके स्वास्थ्यका अच्छी तरह निरीक्षण किया है और अपनी निदान-विधिसे मैंने यह जान लिया है कि प्रारम्भमें तो केवल पाचन बिगाड़ा, फिर और और विकार उत्पन्न हुए । मनुष्योंके सम्बन्धमें भी यही बात है । अन्तर केवल इतना है कि हम जल-वायुके अभ्यासी होकर कम हानि उठाते हैं । इस लिए वास्तवमें हमको अपने आहार-विहारपर दृष्टि डालनेकी विशेष आवश्यकता है ।

क्षय-रोगियोंमें मैंने प्रायः देखा है कि भीतरी बड़ी हुई गर्मीसे खुश्क हो जानेके कारण उनका शरीर इस योग्य नहीं रहता कि वह बहुत अनुसन्धान किये हुए पथ्यसे भी अपना पोषण कर सके । पोषण-क्रिया

कृत्रिम भोजनोंके तत्वों (अंशों) पर अथवा उनकी पाक-विधिपर अवलम्बित नहीं है। वह केवल पाचन-शक्तिपर आश्रित है। परन्तु पाचन-शक्तिकी क्या दशा है, यह केवल वही जानता है जिसको रोगीकी परिचर्याका अधिक काम पड़ता है। अगर शरीरमें विजातीय द्रव्य अधिक भरा होता है, तो फेफड़ोंके लिए भी उनका आकार बड़ा होनेके कारण अधिक खटका है; क्योंकि जो विजातीय द्रव्य सिरकी तरफको जोर करता है, उसको अक्सर फेफड़ोंमें होकर जाना पड़ता है। अतएव जब फेफड़े विजातीय द्रव्यसे बेतरह भर जाते हैं, तब वह दुर्द्रव्य उनमें अपना घर कर लेता है। ऐसा होनेपर फिर विजातीय द्रव्य सिरकी ओर नहीं बढ़ता।

फेफड़ोंका गलना प्रारम्भ होनेपर प्रथम उनके ऊपरके सिरे गलते हैं। इसका कारण यह है कि दूषित द्रव्यमें जब कि उद्वेग उत्पन्न होता है अथवा उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन होता है, तो उसकी गति सदैव ऊपरको हुआ करती है। फेफड़ोंके ऊर्ध्वभाग कन्धोंमें जुड़े हुए हैं। जब विजातीय द्रव्यमें उद्वेग होने लगता है, तब वह उफानके समान ऊपरको जाता है और फिर कन्धोंके कारण रास्ता बन्द होनेसे बढ़ नहीं सकता। इस लिए इन स्थानोंमें सबसे अधिक विनाशकी क्रिया होने लगती है। इसी कारण फेफड़ोंमें सुई चुभानेके समान पीड़ा होती है, जिसकी कि क्षय-रोगी फेफड़े नष्ट होनेसे पहले ही शिकायत किया करते हैं।

अब क्षयरोगकी ग्रन्थियोंके मूल कारणकी विवेचना की जाती है। क्षयकी ग्रन्थियाँ उसी तरह बनती हैं, जिस तरह अर्श रोगके मस्से अथवा फूटकर बहनेवाले बड़े बड़े फोड़ोंसे लगाकर छोटीसे छोटी फुड़ियाँ तक पैदा होती हैं। इस विषयको अच्छी तरह समझनेके लिए

इसका विस्तृत रूपसे वर्णन किया जायगा। पहले यह कहा चुका है कि स्वस्थ शरीरकी त्वचा सदैव मृदु और कोमल रहती है; किन्तु लम्बे बीमारके शरीरकी त्वचा शुष्क और शिथिल हो जाती है। स्वस्थ अवस्थामें शरीरमें यथेष्ट जीवन-शक्ति रहती है, इस लिए वह दूषित द्रव्यको बाहर निकाल सकता है। परन्तु अस्वस्थ अवस्थामें ऐसा नहीं होता। इससे दूषित द्रव्य जो कि ठीक मार्गसे निकल जाना चाहिए था, शरीरमें रुक जाता है और रोगकी विशेष प्रवृत्ति होने लगती है। प्रायः लोगोंके समय-समयपर फोड़े, फुन्सी निकल करती हैं—विशेषकर चूतड़ोंमें, गर्दनमें या बाँहोंमें। रोगीके शरीरमें पहले जो भारीपन रहता है, वह इन फोड़ोंके फूट जानेपर कम हो जाता है। इस शोधन-प्रक्रियाके हो चुकनेपर रोगीको अपने शरीरमें नव-जीवनका संचार सा प्रतीत होता है। उसके शरीरमें हल्कापन और प्रसन्नता आ जाती है। अब हमें आगे इन फोड़ोंके मूल-तत्त्वपर विचार करना चाहिए। हम देखते हैं कि जिस जगह फोड़ा निकलनेको होता है, वह जगह कुछ दिन और कभी कभी कुछ सप्ताह पहले सख्त और लाल रंगकी हो जाती है। वहाँ उभार आने लगता है और सूजन हो जाती है। फिर उसमें गौंठसी पड़ जाती है, जिसमें दर्द और सोजिश होती है। वहाँकी त्वचा सुकड़ने लगती है और हिलनेसे उसमें बहुत कष्ट होता है। यह बात जब हृदको पहुँच जाती है, अर्थात् शोधन-क्रियाका सूत्रपात हो जाता है, तब उसमें मुलायमियत आने लगती है। अन्तमें उसकी पीब त्वचाको फाड़कर बाहर निकल जाती है। इस प्रकार फोड़ेका उत्पादक विजातीय द्रव्य शरीरसे बाहर निकलता है। विजातीय द्रव्यका बाहर निकालना शरीरकी स्वाभाविक

शोधन-क्रिया है। परन्तु यह शंका होती है कि ऐसी क्रिया हर जगह होती हुई क्यों नहीं पाई जाती। मैं पहले कह चुका हूँ कि जिस तरह किसी आदमीको पसीना आता है और किसीको नहीं, उसी तरह यह बात भी शरीरकी जीवनी-शक्तिपर निर्भर है। शरीरमें जब कि यथेष्ट जीवनी-शक्ति विद्यमान होती है और सारा विजातीय द्रव्य स्वाभाविक रूप-से बाहर नहीं निकलता, तब वह शक्ति उस विजातीय द्रव्यको फोड़े फुन्सी आदिके रूपमें बाहर निकाल देती है। ओषधिके सेवनसे, बराबर शोधन-क्रियाके होनेसे और प्रकृति-विरुद्ध जीवन-निर्वाहसे यदि शरीरमें इतनी जीवनी-शक्ति नहीं बची है कि फिर शोधनक्रियाका आरम्भ हो सके, तो दूषित द्रव्य इकट्ठा हो जाता है और वहाँ सिकुड़न पड़ जाती है। किन्तु जीवनी-शक्ति मन्द हो जानेके कारण उसे खिंचकर फोड़ा नहीं बना सकती, इस लिए वह जगह कड़ी पड़ जाती है। उसमें दर्द नहीं होता। इससे मूल बातमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, इतना होता है कि फोड़ेकी जगह गाँठ पड़ जाती है। यह गाँठ फोड़ेका अधूरा रूप है, या विजातीय द्रव्यकी वह राशि है, जो खिंचकर एक जगह आ गई है और बहुधा शरीरमें बन्द पड़ी रहती है। यदि शरीरमें जीवनी-शक्तिकी मात्रा पर्याप्त होती है, तो ये ग्रन्थियाँ या गाँठें रसौलीके रूपमें जिल्दपर उभर आती हैं। ये हमको गर्दन तथा अन्य हिस्सोंमें साफ़तौरपर कभी कभी बड़ी तादादमें मालूम पड़ती हैं। जब शरीरमें इतनी भी जीवनी-शक्ति नहीं होती, तब ये गाँठें शरीरके भीतरी भागमें बनती हैं और बवासीरके मस्से या कर्कट (कैंसर) रोगकी ग्रन्थियोंके नामसे पहचानी जाती हैं। यदि हम उस खोई हुई जीवनी-शक्तिको किसी साधनसे फिरसे प्राप्त कर लें, तो हमको इन ग्रन्थियोंमें तुरन्त परिवर्तन दिखाई पड़ जायगा। बहुधा देखा गया है कि जल-

चिकित्साके करनेसे बहुतसी ग्रन्थियाँ फोड़ेके रूपमें बदल गई हैं । प्राचीन पद्धतिके जल-चिकित्सालयोंमें देखा गया है कि इस चिकित्साके करनेसे शरीर ऐसा शक्तिसम्पन्न हो जाता है कि उसके भीतर रुकी हुई क्रिया फिरसे जाग्रत हो जाती है और फोड़े बनने लगते हैं । यदि हम शरीरकी जीवनी शक्तिको उससे भी अधिक प्रखर कर सकें, जितनी प्राचीन जल-चिकित्सासे कर सकते हैं, तो हम इन दुर्ग्रन्थियोंको सीधे तौरपर शरीरमें ही घुलाकर नष्ट कर सकते हैं । अब यदि हम उस दुर्द्रव्यको निकालनेके लिए कोई ऐसा तीव्र प्रयत्न कर सकें जैसा कि मेरी स्नान-विधिसे होता है और साथ ही इतनी सावधानता रखें कि किसी कुपथ्यके द्वारा कोई नवीन दुर्द्रव्य पैदा न हो सके, तो हम इन दुःखदायी फोड़ोंको शरीरपर न बनने देंगे और इन दुर्ग्रन्थियोंको भीतर ही भीतर जिस रास्तेसे वे आई थीं, उसी रास्तेसे स्वाभाविक उत्सर्ग मार्गों-द्वारा बाहर निकाल देंगे । यद्यपि प्राचीन जल-चिकित्सासे भी ग्रन्थियाँ तितर बितर हो जाती थीं, किन्तु उससे विजातीय द्रव्य खिंचकर बाहर नहीं निकल सकता था । इस लिए शरीरमें शक्तिके यथेष्ट रूपमें आते ही फोड़े और फुड़ियाँ बनने लगती थीं । परन्तु मेरी आविष्कृत जल-चिकित्साके करनेसे ऐसा बहुत कम होता है । इस चिकित्साके द्वारा विजातीय द्रव्य बहुत शीघ्र और सहजमें ही बाहर निकल जाता है । अब यह साफ जाहिर है कि क्षयकी ग्रन्थियाँ अपक्व फोड़ोंके सिवा और कुछ नहीं हैं । वे उसी तरह उत्पन्न होती हैं जिस तरह अन्यान्य ग्रन्थियाँ उभर आती हैं । भिन्न भिन्न लोगोंके भिन्न भिन्न स्थानोंमें ग्रन्थियोंकी उत्पत्ति केवल दुर्द्रव्यकी विभिन्नतासे होती है ।

क्षय आदि सब प्रकारकी ग्रन्थियोंका प्रकृत कारण जाननेके बाद हमारे लिए उनकी चिकित्सा करनेका मार्ग भी सुगम हो जाता है ।

अब हम तत्काल ही जान सकते हैं कि डाक्टर लोग जो ऑपरेशन करके ग्रन्थियोंको दूर करना चाहते हैं, सो कितना निरुपेक्ष है। यद्यपि इस रीतिसे रोगका बाहरी रूप नष्ट कर दिया जाता है; किन्तु इससे रोगका मूल कारण नष्ट नहीं होता। ये ग्रन्थियाँ केवल जीवनी-शक्तिको तीव्र करनेसे ही दूर हो सकती हैं, क्योंकि इससे विजातीय द्रव्यको बाहर निकालनेकी शरीरमें चेष्टा उत्पन्न हो जाती है। ये ग्रन्थियाँ चाहे सफेद द्रव्यसे ही भरी हों, परन्तु जीवनी-शक्तिके प्रभावसे अपनी स्थितिके अनुसार अपने पुराने ही रास्तेपर लौटाकर नष्ट की जा सकती हैं। इस प्रकार वे शरीरसे बिल्कुल निकाल दी जा सकती हैं। परन्तु यह सम्भव है कि इसके लिए मेरी चिकित्सा कई वर्ष तक करनी पड़े।

उद्वेगसे चलायमान होकर विजातीय द्रव्य सदैव एक ही रास्ता नहीं पकड़ता; बल्कि ऐसा होता है कि कभी तो फेफड़ोंके सिरे खराब हो जाते हैं और कभी उद्वेगजन्य राशियाँ उनके मध्यभाग या सामनेके हिस्सेमें आकर अपना डेरा डाल देती हैं, जिससे जुकाम या दमा अथवा श्वास-नालीमें शोथ और दाह पैदा हो जाते हैं। वास्तवमें क्षय-रोगियोंकी श्वास-नालीके भीतर प्रायः सूजन और दाह होती है। कभी कभी यह बात गुप्त स्थितिमें ही रहा करती है।

जब कि फेफड़ोंमें विजातीय द्रव्य मन्द या गुप्तरूपसे बैठ जाता है, तो उससे कोई न कोई प्रदाहजनक तीव्र व्याधि खड़ी हो जाती है, जैसे—

फेफड़ोंका तथा उनके आवरणोंका प्रदाह (Pneumonia of Pleurisy)—ये लक्षण उस समय होते हैं जब कि शरीर ज्वरके द्वारा विजातीय द्रव्यको बाहर निकालकर अपने शोधनका प्रयत्न करता है। इसमें उस समय प्राणान्त होता है, जब कि ठीक चिकित्सा नहीं की जाती। परन्तु यह अवश्य

है कि ज्वरके रूपमें इन तीव्र व्याधियोंसे साधारणतया कोई भी भयकी बात नहीं है; बशर्ते कि मेरी चिकित्सा तुरन्त आरम्भ कर दी जाय। ठण्डे स्नानोंमें रोगको दमन करनेकी पूरी शक्ति है, जिससे शरीरको किसी प्रकारकी हानिका भय नहीं रहता और बहुत शीघ्र नीरोगता प्राप्त हो जाती है।

अब यहाँ इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए कुछ ऐसे रोगियोंका उल्लेख किया जाता है, जिन्होंने मुझसे जल-चिकित्सा कराई थी। एक बार एक गृहस्थने अपनी ना वर्षकी कन्याकी चिकित्साके लिए मुझे बुलाया। कन्याके फेफड़ोंमें सोजिश थी। डाक्टर दो महीने-से क्रियोजोट (creosote) के द्वारा चिकित्सा कर रहा था, किन्तु उससे लाभ कुछ नहीं हुआ था। ओषधियोंके विषसे हाज्मा इतना खराब हो गया था कि उस कन्याके बचनेकी कोई सूरत नहीं दीखती थी। जब मैंने उसे देखकर उसके संरक्षकोंसे कहा कि यदि आप डाक्टरोंकी अनुमति न मानकर मेरी सम्मतिके अनुसार दृढ़-चित्त होकर चिकित्सा करेंगे, तो इसको बहुत जल्द लाभ होने लगेगा। चुनौचे ऐसा ही हुआ। दूसरे ही दिनसे उसके शरीरमें आरोग्यके लक्षण दीखने लगे और एक सप्ताहमें ही उसकी वह भयानक दशा जाती रही। कुछ सप्ताह बाद वह खूब अच्छी तरहसे मैदानमें खेलने-कूदने लगी। यदि रोगके आरम्भ-कालसे ही मेरी चिकित्सा की-गई होती, तो उसे बहुत थोड़े दिनोंमें ही पूर्ण आरोग्य प्राप्त हो गया होता।

फेफड़ोंकी सभी बीमारियोंमें भीतर बहुत गर्मी बढ़ जाती है। श्वासोच्छ्वासके समय फेफड़ोंमें वायुके पृथक्करणकी तीव्र प्रक्रिया होती है। जब हम साँस लेते हैं, तो हमारे फेफड़े उस

हवाको उन भागोंमें विभक्त कर देते हैं, जिनसे (आक्सीज़न और नाइट्रोजनसे) कि वह मिलकर बनती है । आंशिक रूपमें आक्सीज़न तो शरीरमें रह जाती है और नाइट्रोजन शरीरकी दूषित वायुके साथ प्रश्वास-द्वारा बाहर निकल जाती है । पृथक्करणकी यह प्रक्रिया फेफड़ोंमें निरन्तर होती रहती है । बड़े बड़े रासायनिक तत्त्ववेत्ताओंने दीर्घकाल तक प्रयत्न करके यह बात जानी है । इस प्रक्रियासे विशेष गर्मी स्वयं पैदा होती है और जब कि फेफड़ोंमें विजातीय द्रव्य इकट्ठा होने लगता है, या उनमें उद्वेग शुरू हो जाता है, तब वह गर्मी असाधारण रूपसे बढ़ जाती है ।

पहले कहा जा चुका है कि बेसिलार्ड केवल शरीरस्थ विजातीय द्रव्यमें उद्वेग होनेसे पैदा होते हैं और उनकी बढ़ौतरी तभी हो सकती है जब कि उनकी जातिके अनुकूल गर्मीकी मात्रा होती है । क्षय-रोगमें पहलसे ही गर्मी बहुत बढ़ी हुई होती है । इस कारण क्षयके कृमियोंको बढ़नेका बहुत अच्छा मौका मिल जाता है । यद्यपि डाक्टर लोग इस बातको जानते हैं; किन्तु आश्चर्य है कि वे सूक्ष्म बुद्धिसे काम नहीं लेते । वे उन कृमियोंको नष्ट करनेके लिए सदा अप्राकृतिक ओषधियोंके ही अन्वेषणमें लगे रहते हैं और प्रधान कारणपर कुछ भी ध्यान नहीं देते । वे प्रत्येक रोगकी उत्पत्ति भिन्न भिन्न कृमियोंके द्वारा मानते हैं; पर यह भूल जाते हैं कि जैसे एक प्रकारके वृक्ष भिन्न भिन्न देशोंकी जल-वायुमें जाकर विभिन्न प्रकारके हो जाते हैं, अथवा जैसे एक ही जातिके पक्षियोंके पंखोंके रंगपर भिन्न भिन्न जल-वायुका भिन्न भिन्न प्रभाव पड़ता है, वैसे ही समस्त कृमियोंकी सूरत और छोटे-बड़ेपनपर भी ताप-

मानके भेदसे प्रभाव पड़ा करता है। वह गर्मी ही उनके लिए जल-

जिसने मेरे वक्तव्यको यथार्थ रूपसे समझ लिया है, उसको क्षय-रोगके निवारण करनेका उपाय सहजमें ही अवगत हो सकता है। भीतरकी बढ़ी हुई गर्मीको घटाना चाहिए और जीवनी-शक्तिको प्रखर करनेकी चेष्टा तबतक करते रहना चाहिए जबतक कि वह बढ़ी हुई गर्मी पूरे तौरसे लौट न जाय। इस अभीष्टको सिद्ध करनेके हेतु पथ्यापथ्य तथा स्वास्थ्यसम्बन्धी बातोंपर दृष्टि रखते हुए मेरी बातें हैं।
हुई स्नान-विधिका पालन करना अत्यावश्यक है। परन्तु सबसे प्रधान बात यह है कि स्नानोंका क्रम ठीक तौरपर रहना चाहिए। शरीरकी बढ़ी हुई भीतरी गर्मी दीर्घकालतक शमन नहीं होती। अत एव किन किन स्नानोंका क्रम, कितने कितने समय तक, किस किस रोगोंके लिए उप-युक्त है, यह रोगीकी दशाके अनुकूल ठीक करना अत्यावश्यक है। इन विषयोंको ऐसे मनुष्यसे जानना चाहिए जो मेरी चिकित्सा-विधिसे भलीभाँति परिचित हो, और इस बातकी इस लिए विशेष आवश्यकता है कि इस विषयमें लोग बड़ी बड़ी भूलें कर बैठते हैं। रोगीको धूप और स्वच्छ वायु काफ़ी मिलनी चाहिए। आरोग्य-लाभके लिए ये परम आव-श्यक वस्तुएँ हैं। इनकी कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्षय-रोगियोंके लिए आतप-स्नान विशेष उपयोगी होते हैं।

ट्यूबरकुलिन (Tuberculin) का टीका लगानेके मैं सर्वथा विरुद्ध हूँ। इसका मर्म समझना सहज है। यह विषैला पदार्थ जिसका क्षयके रोगीको टीका दिया जाता है किन्हीं खास हालतोंमें विजातीय द्रव्यके अन्दर उद्देग (अर्थात् ज्वर) पैदा कर देता है, जैसे कि गूँघे हुए आटेमें खमीर। इस लिए विजातीय द्रव्यके उद्देगकी पहली हालतमें

एक तबदीली पैदा हो जाती है, जिससे उसकी गर्मीमें भी परिवर्तन हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि क्षयके कृमि-ट्यूबरकिल बेसिलस (Tubercle Bacillus)—जो पहली गर्मीमें ही वृद्धि को प्राप्त हो सकते थे, वे द्वितीयावस्थामें परिणत हो जाते हैं, जिसको कि सामान्यतः मृतप्राय अवस्था (Extinction) कह सकते हैं। इससे न तो विजातीय द्रव्य ही बाहर निकलता है और न रोगका कारण ही जड़से दूर होता है। टीका लगाना सदैव एक झूठा इलाज है और रहेगा। इसका स्वास्थ्यनाशक प्रभाव आगे पीछे अवश्य सामने आवेगा। कुछ ही महीनों बाद वह हर्षका पर्दा—जो कि टीकेने डाल दिया था—फट जायगा और निराशाकी और भी अधिक भयानक मूर्ति सामने आ जायगी। आज दिन चारों ओरसे बड़े बड़े स्वतन्त्र विचारवाले डाक्टरोंके मुखसे भी इस टीकेकी घोर निन्दा सुनी जाती है। इसी प्रकार चेचकके अथवा अन्यान्य सभी टीके बाढ़की भीतके समान धोखेकी टट्टी हैं।

मेरी चिकित्साको विधिपूर्वक दीर्घकाल तक करनेसे बढ़ा हुआ क्षय-रोग भी दूर हो सकता है। बहुत बड़ी हुई अवस्थामें सम्भव है कि नीरोगता प्राप्त करना कठिन हो, परन्तु यह निश्चय है कि और चाहे जो हो, रोगीकी अवस्था इतनी सख्त अवश्य हो जाती है कि उसको अन्त समय तक कुछ कष्ट नहीं होता। क्षय-रोगीका नीरोग होना केवल इस बातपर निर्भर है कि उसकी जीवनी-शक्ति कैसी है और उसकी पाचन-शक्ति सुधरने योग्य है या नहीं। यदि रोगीकी पाचन-शक्तिको हम स्थायीरूपसे सुधारकर साम्यावस्थामें ला सकते हैं, तो रोगी बहुत शीघ्र ही आरोग्य होने लगता है और यदि उसकी पाचन-शक्तिका सुधार न हो सका, तो उसका आरोग्य होना असम्भव हो जाता है। मेरे यहाँ बहुतसे क्षय-रोगी चिकित्साके लिए आये, जो कि बहुत जल्दी अच्छे हो गये; क्योंकि

उनकी पाचन-शक्ति शीघ्र सुधर गई थी। परन्तु जिन रोगियोंके फेफड़ोंमें कड़ी और पीबवाली गाँठें पड़ गई थीं, उनके अन्तर्गत पदार्थको लौटानेमें कई कई वर्ष लग गये और प्रत्येक गाँठके पिघलनेपर एक प्रकारकी अत्यन्त भयंकर वेदना हुई, जो मारक न होनेपर भी अत्यन्त कष्टदायक थी। मेरी चिकित्सा भीतरी गर्मीको ठीक करती है। अतएव इसको यथाविधि करनेसे विजातीय द्रव्य अपने स्थानसे हटकर पीछेको लौट जाता है और रोग धीरे धीरे शान्त हो जाता है।

यदि शरीरमें बल हो, तो फेंफड़े और पेड़ूसे विजातीय द्रव्यको निकालनेके लिए मेहन-स्नान सबसे अच्छा साधन है। बाष्प-स्नान (बफारा) और ग्रीष्मऋतुमें उसकी जगह आतप-स्नान भी ठीक है। उचित पथ्य और स्वच्छ वायुकी विशेष आवश्यकता है।

जब रोग अधिक बढ़ा हुआ होता है, तब ये स्नान इतनी उत्तेजना लाते हैं कि वह रोगीको बर्दाश्त नहीं होती। स्नानके जलकी उष्णता ८१ से ८६ फेरन हाइट तक हो और जल रोगीके कन्धों तक पहुँचता रहे। उदर-स्नान पहले पाँच मिनटका दिया जाय और फिर क्रम क्रमसे रोगीकी रुचिके अनुसार समयकी मात्रा बढ़ाई जाय। ऐसे स्नान दिनमें कई बार देने चाहिए। जब शरीरमें कुछ बल आ जाय, तब मेहन-स्नान भी आरम्भ कर देना चाहिए। प्रायः जीवन-शक्ति और शरीरकी प्रतिक्रियाकी शक्ति रोग निवृत्त होनेके लिए काफी नहीं होती। परन्तु चाहे कुछ हो, ये स्नान रोगीकी दशाको सहा कर देते हैं। जहाँ पाचन-शक्ति सुधरनेके योग्य हो, वहाँ आरोग्यताकी आशा नहीं छोड़नी चाहिए।

अब कुछ चिकित्साओंका हाल सुनाकर यह बयान समाप्त किया जायगा। एक ६५ वर्षकी स्त्री दमा (Asthma) से पीड़ित थी।

उसके चिकित्सकने क्रियोनोट नामक ओषधिका विशेष रूपसे सेवन कराकर उसकी अवस्थाको, विशेषकर उसकी पाचन-शक्तिको, बहुत खराब कर दिया था और अन्तमें उसे असाध्य बताकर दक्षिण देशमें जाकर रहनेकी सलाह दे दी थी। क्योंकि दमेकी ऐसी बढ़ी हुई दशामें डाक्टर साहबके पास और कोई अनुभूत ओषधि ही नहीं थी। रोगीको साँस लेनेमें इतना कष्ट होता था कि वह दस कदम भी कठिनतासे चल सकती थी। वे सभी मनुष्य—जो डाक्टरी ओषधियोंसे अभिज्ञ हैं—जानते हैं कि रोगीको गर्म देशमें भेजना यह कहनेके बराबर है कि तुम्हारे लिए अब कुछ नहीं किया जा सकता है। हम तो तुम्हें अपनी तरफसे छोड़ चुके; अब प्रकृति देवीकी शरण लो, शायद उससे कुछ उपकार हो जाय। इस रोगिणीने भी उक्त सलाहको इसी दृष्टिसे देखा। किन्तु फिर एक मित्रके कहनेसे उसने मेरी चिकित्सा आरम्भ की और डाक्टरसे कह दिया कि परदेश जानेकी अपेक्षा अपनी जन्मभूमिमें मर जाना ही मुझे अधिक पसन्द है। शीतकालमें दिसम्बरके शुरूमें जब कि अत्यन्त शीत और कोहरा पड़ता है उसने मेरी चिकित्सा प्रारम्भ की। उसके शरीरमें विजातीय द्रव्यका वेग ऊपरकी ओरको बहुत था। उसने मेरी शिक्षाका दिलसे पालन किया। इससे थोड़े ही समयमें उसके शरीरका दूषित द्रव्य जो कि ऊपरकी ओरको अपना दबाव डाल रहा था—कम होने लगा और उसकी पाचन-शक्ति भी सुधरने लगी। दूषित द्रव्य पसीना और मल-मूत्रके द्वारा बहुत कुछ बाहर निकल गया। उसको प्रतिदिन शीतल-स्नान दिये गये। कभी कभी वाष्प-स्नान भी कराये गये। इस प्रकार कुछ दिनोंमें ही उसका रोग पीछेको लौट गया। जो जो उपद्रव उसके रोगके आरम्भमें प्रकट

हुए थे, वे अब फिर प्रकट हुए। रोगके लौटनेकी प्रक्रिया रोगकी रफ्तारसे कोई १२ गुनी तेज थी। हर महीनेमें इतना विजातीय द्रव्य निकल जाता था जितना कि एक सालमें इकट्ठा हुआ होगा। इस प्रकार वह रोगिणी तीन महीनेमें श्वास-रोगसे बिल्कुल मुक्त हो गई।

अब एक दूसरे श्वास रोगीका हाल सुनिए—

एक साठ वर्षकी आयुवाले महाशय कई वर्षसे श्वास-रोगमें ग्रस्त थे। वे भी दीर्घ कालसे ओपधि सेवन करते करते अत्यन्त थक गये थे और उन्हें भी डाक्टरोंने जवाब दे दिया था। उनको स्नान करानेसे तत्काल शान्ति मिली; परन्तु यह शान्ति केवल स्नान करते हुए ही रहती थी या कुछ थोड़ी देर बाद तक। तब रोगीने मेरे बतानेसे अधिक बार स्नान किये। खाँसीका अधिक वेग होनेका कारण यह था कि उसे रातमें भी कई कई बार स्नान करना पड़ता था। इसका फल यह हुआ कि ज्वर और खाँसीका इतना वेग बढ़ा कि उसे तनिक भी निद्रा नहीं आती थी। किन्तु हर एक स्नानसे उसके शरीरमें जीवनी-शक्तिका इतना संचार होने लगा कि उसको बहुत अधिक कफ आने लगा, जिससे उसे शान्ति मालूम होने लगी। इस तरह यह मृतप्राय रोगी मेरी चिकित्सासे हर महीने बलवान और प्रफुल्लित होता गया। लगभग एक वर्षमें उसने बहुत कुछ स्वास्थ्य प्राप्त कर लिया; यहाँतक कि उसके सिरके गिरे हुए बाल भी फिर जम आये, और यह देखकर उसके मित्र आश्चर्य-चकित हो गये।

बढ़ा हुआ क्षय-रोग (Tuberculosis-advanced)—एक ३० वर्षकी युवती जो (Tuberculosis) प्रबल क्षय-रोगसे पीड़ित थी, चिकित्साके लिए आई। वह सोते-जागते प्रायः हर समय मुँहसे श्वास लेती थी। उसकी माता क्षय-रोगमें ही ४५ वर्षकी आयुमें मर गई

थी। उसीसे उसकी सन्तानमें भी रोगका बीज पहुँचा था। बचपनमें ही इस युवती और इसके भाई-बहनको कण्ठमालाका रोग हो चुका था। जब इसकी अवस्था बीस वर्षकी थी, तब इसका चेहरा गोल और भरा हुआ था। कपोलोंमें अस्वस्थता प्रकट करनेवाली लाली थी, और वे जाड़ोंमें नीले पड़ जाते थे। ३० सालकी उम्र होते होते उसका मोटापन, गालोंका रंग और उसकी शारीरिक दशा बिल्कुल ठीक हो गई। २९ वें वर्षके अन्तमें उसे शनैः शनैः क्षय-रोग हो गया। उसकी पाचन-शक्ति घिगड़ गई। कब्ज और दस्तोंका दौरा शुरू हो गया। मल-मूत्रकी विवर्णता और दुर्गन्ध आदि लक्षणोंसे यह प्रतीत होता था कि उसकी पाचन-शक्ति अत्यन्त विकृत हो गई है। कभी सिरमें और कभी दाँतोंमें दर्द, कभी सीने और कन्धोंमें सुई चुभानेके समान पीड़ा। इस प्रकारकी पीड़ायें फेफड़ोंका विनाश होते समय ही हुआ करती हैं। जब फेफड़ोंका कुछ भाग पूर्णरूपसे नष्ट हो जाता है, तब ये पीड़ायें जाती रहती हैं। उस स्त्रीको मासिक धर्म भी कष्टके साथ और अनियमित रूपसे होता था। कभी तो महीनों बन्द रहता था और फिर एकदम जल्दी जल्दी होने लगता था। साथ ही आलस्य, चिन्ता और अप्रसन्नता सदैव बनी रहती थी। मुखा-कृति-विज्ञानको न जाननेवाला प्रत्येक मनुष्य इस स्त्रीको मेरी चिकित्सा आरम्भ करनेके समय पूर्ण आरोग्य समझता था। अच्छा सुर्ख रंग, ओर भरा हुआ चेहरा देखकर किसीको यह गुमान भी न होता था कि यह युवती एक भयंकर रोगसे पीड़ित है। परन्तु उसने अपनी शोचनीय दशाका विचार करके मेरी चिकित्सा आरम्भ कर ही दी। मैंने उसको ठंडे स्नान और वाष्प-स्नान कराये। खुली हुई स्वच्छ वायुमें रक्खा और हल्का भोजन दिया। इससे वह लगभग छह महीनेमें बहुत कुछ

स्वस्थ हो गई। पहले ऊपर नीचे आने जानेमें और घूमने फिरनेमें वह बिल्कुल थक जाती थी, परन्तु अब उसको कुछ भी थकावट न आती थी। उसकी पाचन-शक्ति सुधर गई, चित्तमें शान्ति रहने लगी और सिरकी पीड़ा जाती रही। उसका दूषित द्रव्य पेटकी ओर धीरे धीरे लौटने लगा। चिकित्साके पहले वर्षमें फेफड़ोंकी ग्रन्थियोंके घुलते समय उसे दो बार भयंकर कष्टोंका सामना हुआ। इन दो तीन सप्ताहके कष्टोंमें रोगिणीको निर्बलता अवश्य प्रतीत हुई; परन्तु यह शरीरकी शोधन-क्रिया थी, जो कि उसकी दीर्घ व्याधिके विचारसे कुछ असंगत न थी। दूसरे वर्षमें उसको बहुत लाभ मालूम हुआ। दो बार संकटपूर्ण अवस्था आई। इस प्रकार दो वर्षके प्रयत्नसे उसकी फेफड़ोंकी भयंकर व्याधि बिल्कुल जाती रही।

क्षय (Tuberculosis)—एक और रोगीका वृत्तान्त सुनिए। एक सुशिक्षित व्यक्ति ४० वर्षकी अवस्थामें इस रोगका शिकार हुआ। कितने ही बड़े बड़े प्रसिद्ध चिकित्सकोंने निदान करके निश्चय किया कि उसे क्षय हो गया है और इससे उसे दक्षिण इटलीमें निवास करनेकी अनुमति दी गई। किन्तु मैंने अपने ‘मुखाकृति-विज्ञान’ के द्वारा निदान करके यह निश्चय किया कि उसका रोग अत्यन्त पुराना है, इस लिए गर्म देशमें भी निवास करनेसे उसका जीवन एक सालसे अधिक नहीं टिक सकेगा। मैंने तुरन्त उसकी चिकित्सा आरम्भ कर दी। एक मासमें ही उसकी शारीरिक दशामें बहुत कुछ परिवर्तन हो गया। उसके मसाने और आँतोंमें दाह होनी शुरू हुई, जो कि अबसे नौ वर्ष पहले बहुत दिनों तक रही थी। किन्तु वह दाह पूर्वकी अपेक्षा बहुत कम हुई और १५ दिनमें ही शान्त हो गई। मेरी चिकित्साके द्वारा जीवनी-शक्तिका अधिक संचार होता है, इस लिए पहले गुप्त और

ओषधियोंद्वारा शमनकी हुई मन्द व्याधियों (Chronic) ने फिर तीव्र रूप धारण किया । यह रोगी युवावस्थामें मूत्रकृच्छ (सोजाक) से भी पीड़ित रह चुका था, जिसको कि डाक्टरोंने टीकेके द्वारा दबा दिया था । यह रोग भी दो सप्ताहमें दूर हो गया । फेफड़ोंके रोगने भी अब एक बिलकुल दूसरा ही रूप धारण कर लिया, जिससे रोगी अपनेको पूर्ण आरोग्य समझने लगा । परन्तु मेरे कहनेसे उसने और भी कुछ समय तक चिकित्सा की और इस तरह वह लगभग १॥ वर्षमें पूरी तरह आरोग्य हुआ ।

हड्डियोंका क्षय और उनका सड़ना—इस रोगके रोगियोंने भी मेरी चिकित्सासे बहुत लाभ उठाया है । उन रोगियोंके बाल्यकालमें रिकेट (Rickets) रोग हो चुका था, जो कि अस्थि-क्षयका एक प्रकारसे पूर्वरूप है । बाल्यावस्थाहीसे उनकी अस्थियाँ रोगसे भरीं, आसानीसे टूटनेवालीं और कृमियुक्त थीं । किसी किसी रोगमें इन बातोंका पूरा पता चल गया था । उनके यौवन-कालके आरम्भमें अस्थि-क्षय प्रकट हुआ । टाँग या बाँहकी हड्डी सूजकर स्पंजकी शकलकी बन गई और पीव छोड़ने लगी । जोड़ोंपर भी बरम आ गया । उनमेंसे किसी किसीकी टाँग या बाँह काट दी गई । उनमेंसे अनेक व्यक्तियोंको मेरे पास आनेसे पहले डाक्टरोंने असाध्य बतला दिया था । मेरी चिकित्साके द्वारा उनका रोग शीघ्र ही पीछेको लौटने लगा; किन्तु कटे हुए अङ्ग कहाँसे आवें ? किसी भी रोगमें शस्त्र-क्रियाका करना मेरे मतके सर्वथा विरुद्ध है । यह निश्चय है कि इस अस्वाभाविक विधि (शस्त्र-क्रिया) के द्वारा न तो अबतक किसी रोगको आराम हुआ है और न उस रोगका कारण ही दूर हुआ है । हम किसी रोगको तभी दूर कर सकते

हैं, जब कि उसको उसी मार्गपर लौटा देनेकी विधि जान लें, जिस मार्गसे वह आया है।

एक लड़केकी घुटनोंसे लेकर पैरोंतक दोनों टाँगोंकी अस्थियाँ मांस-रहित और पीवसे भरी हुई थीं। डाक्टरने उसकी दोनों टाँगें काटनेका निश्चय किया था, किन्तु इस बातको स्वीकार न कर उसके संरक्षक उसे मेरे पास ले आये। मैंने उसको ठंडे स्नान कराये और सादा अनुत्तेजक आहार कराया। ऐसा करनेसे एक मासमें ही उसकी अस्थियोंपर नया मांस आने लगा और आठ इंच बड़े व्रणपर इस तरह खाल आने लगी, जैसे किसी पेड़के जड़मी हिस्सेपर छाल आ जाती है। बस छह महीनेमें ही उसकी दोनों टाँगें अच्छी हो गईं। सिर्फ दो जगह छोटे छोटे दाग रह गये, जिनमें खुजली होती थी। वे भी दो मासमें दूर हो गये। इसके अतिरिक्त उस लड़केका शारीरिक स्वास्थ्य भी सुधर गया। उसका उदास चेहरा प्रसन्नतासे खिल गया।

दूसरा एक १० वर्षका बालक था, जिसके घुटनेमें क्षयका प्रभाव था। उसके लिए भी डाक्टरोंने टाँग काटना ही निश्चित किया था। मेरी नौ महीनेकी चिकित्सामें घुटनेकी सन्धियोंमेंसे विजातीय द्रव्य खिंचकर अपने निवासस्थान पेड़में आ गया और वहाँसे वह जंघाके एक अश्विब्रणके द्वारा तीन मास तक रिस रिसकर निकला। अगले तीन महीनेमें वह लड़का अन्य बालकोंकी तरह आनन्दसे खेलने कूदने लगा।

ल्यूपस (Lupus)—इस रोगकी चिकित्सामें भी मुझे विशेष सफलता प्राप्त हुई है। इससे यह सिद्ध होता है मेरे मतानुसार अन्यन्य रोगोंके समान इस रोगकी उत्पत्तिका मूल कारण भी वही एक विजातीय द्रव्य है। यहाँ मैं एक ल्यूपस रोगीकी चिकित्साका वर्णन करता हूँ—

यह रोगी एक ४१ वर्षकी स्त्री थी। दो वर्षकी अवस्था तक जब

कि उसके टीका लगाया गया था, वह पूर्ण निरोग थी। टीकेके बाद-से ही उसपर आपत्तिका आक्रमण हुआ। शरीरमें बड़े बड़े दाग पड़ गये। अन्तमें उन्होंने बढ़ते बढ़ते कोई १० वर्षमें चेहरेपर ल्यूपस रोगका रूप धारण कर लिया। तबसे वह लगभग ३० वर्ष तक इस कुरूपतामें फैसी रही। इस बीचमें उसने बड़े बड़े प्रसिद्ध डाक्टरोंसे चिकित्सा कराई, किन्तु लाभसे सर्वथा वंचित रही। उसकी हालत बहुत खराब थी। रास्तेसे जानेवाले मनुष्य घृणाके मारे उसकी ओरसे मुँह फेर लेते थे। जब समस्त चिकित्सकोंने उसके रोगको असाध्य कह दिया, तब विवश होकर अन्तिम निर्णयके लिए वह मेरे पास आई और दैवयोगसे मेरा निदान उसके पक्षमें ठीक उतरा। विजातीय द्रव्यने बहुत अनुकूल रूप धारण कर रक्खा था, इसलिए मैं उसे शीघ्र आरोग्य करनेका वचन दे सका। चिकित्सा करनेके दो सप्ताह बाद ही उसके मुँहपर स्थित ल्यूपसके चिह्नोंमें परिवर्तन हो गया और वे उतने घृणित न रहे। विशेषकर उसकी पाचन-शक्ति जिसकी और अवतक किसीका ध्यान नहीं गया था, बहुत कुछ सुधरने लगी। उत्सर्ग-मार्गोंसे मल बहुत तादादमें निकला, जिससे दुर्द्रव्य कम हो गया और सात हफ्तेमें उसकी त्वचाका रंग तन्दुरुस्त आदमियों जैसा हो गया।

उस स्त्रीके शीघ्र आरोग्य होनेका कारण यह था कि उसका विजातीय द्रव्य अप्रभागमें था। मेरे 'मुखाकृति-विज्ञान' को जानने-वाले यह बात आसानीसे समझ लेते हैं।

इसके सिवा मेरे पास ऐसे रोगी भी आये, जिनके शरीरपर ल्यूपस रोगने इतना बड़ा प्रभाव नहीं जमाया था, किन्तु उनके आरोग्य होनेमें बहुत अधिक समय लगा। इससे यह सिद्ध होता है कि विजातीय द्रव्य जब पीठकी तरफ या बाईं तरफ संचित होता है, तब आरोग्य होनेमें अधिक समय बगता है।

प्रायः रोगी इस चिकित्साको इस कारण शीघ्र छोड़ बैठते हैं कि उनकी शारीरिक अवस्थामें अथवा पाचन-शक्तिमें किसी प्रकारका परिवर्तन या सुधार जल्दी नहीं होता। अभाग्यसे वे उस अवधि तक चित्तमें धैर्य धारण नहीं कर सकते, जो आरोग्यप्राप्तिके लिए आवश्यक है। मेरी चिकित्सा एक स्टेटिन-नगर-निवासिनी महिलापर बहुत सफल सिद्ध हुई, जिसको १० वर्षसे मुखपर ल्यूपस रोग था। उसका इतना उग्र-रूप था कि वह किसीको अपना मुख दिखलाना नहीं चाहती थी और इसलिए वह सदैव एक मोटा नकाब पहने रहती थी। वह गत १९ वर्षोंमें सभी प्रकारकी दवाएँ करा चुकी थी, किन्तु उसे किसीसे भी कुछ लाभ नहीं हुआ था। अन्तमें उसने मेरी चिकित्सा की। उसको तत्काल लाभ हुआ और शीघ्र ही आरोग्य हो गई। उसने मुझे जो धन्यवाद पत्र भेजा था, वह पाठकोंके अवलोकनार्थ नीचे दिया जाता है—

प्रिय कुने महोदय,

अत्यन्त भयंकर रोगमें आपकी चिकित्सा-विधिके द्वारा जो मुझे लाभ हुआ है, उसके लिए आपको बहुत बहुत धन्यवाद देती हूँ। मैंने आपके निर्दिष्ट नियमोंके अनुसार चिकित्सा की, जिससे मुझे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। अब मेरा शरीर पूर्ण स्वस्थ और बलिष्ठ है। इस समय मैं बिना किसी कठिनताके अपना सब कार्य अच्छी तरह कर सकती हूँ। मुझे इस चिकित्सा-विधिसे इसलिए विशेष हर्ष हुआ कि गत १९ वर्षोंमें मैंने हर तरहके डाक्टरोंसे चिकित्सा कराई, लेकिन वे मेरे कष्टको तनिक भी कम न कर सके। अतएव मैं इस चिकित्सा-विधिकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करती हूँ और रोगियोंसे अनुरोध करती हूँ कि उनका रोग चाहे किसी भी कारणसे क्यों न उत्पन्न हुआ हो, उनको इस चिकित्सासे अवश्य लाभ होगा। और आपसे यह नम्र निवेदन है कि इस चिकित्साकी उन्नति और रोगियोंके हितके लिए मेरे इस हस्तपत्रको आप प्रकाशित कर दें।

स्टेटिन }

आपकी—
ए. एस.

जननेन्द्रियसम्बन्धी रोग



मिथ्या संकोच और मिथ्या लज्जा ! तुम दोनोंका नाश हो जाय । तुम लोगोंकी आँखोंके कुटिल आवरण हो । तुम्हारी आड़में लोगोंकी दृष्टिसे बची हुई वे सब बुराईयाँ फलती फूलती हैं जो कि विद्या और बुद्धिके प्रकाशमें नष्ट हो जाती हैं । यदि हमको मनुष्य-जातिकी छिपी हुई बुराईयों अथवा गुह्य व्याधियोंका वर्णन करना है, तो वह निस्संकोच रूपसे स्पष्ट शब्दोंमें होना चाहिए । ये हानियाँ जो इन रोगोंसे होती हैं, इतनी फैली हुई हैं और मनुष्य-जातिके लिए इतनी घातक हैं कि यदि यह जानता हुआ भी मैं चुप हो जाऊँ कि मेरी चिकित्सा-विधिने इन व्याधियोंके ऊपर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, तो मेरे लिए पाप होगा । इन रोगोंका ठीक कारण न जाननेसे और विशेषकर ओषधिद्वारा इनकी चिकित्सा करानेसे मनुष्य-जातिको एक बड़ी मुसीबतका सामना करना पड़ रहा है । केवल इसी कारणसे यह बहुत आवश्यक जान पड़ता है कि इस विषयको स्पष्ट रूपसे समझा दिया जाय । इसमें तो किसीको सन्देह ही नहीं है कि इन रोगोंका दैर-दैरा पूर्वकालकी अपेक्षा अब अधिक है । इनमें मुख्यकर आतशक (Syphilis) या गर्मी है, जो प्रतिवर्ष हजारों मनुष्योंका संहार करती है और अपने साथमें अकथनीय कष्टों और आपत्तियोंकी सेना लाती है ।

प्राकृतिक चिकित्सा-विधिके अतिरिक्त और कोई भी चिकित्सा-विधि आतशक जैसे भयंकर रोगको दूर नहीं कर सकती । रोगीको पारा या वैसी ही अन्य ओषधियाँ खिलाकर रोगको दबा दिया जाता है ।

उस समय रोगीको रोगमुक्त कहा जाता है और रोगी भी अपने आपको ऐसा ही समझ लेता है। परन्तु केवल इसी कारणसे अकथनीय आपत्तियाँ खड़ी हो जाती हैं। ऐसे कितने ही रोगियोंने—चिकित्सकोंके यह विश्वास दिलाने पर कि तुम बिल्कुल नीरोग हो गये हो—अपने विवाह कर लिये; परन्तु अन्तमें विवाहने उनकी वास्तविक दशा और भी जल्द खोल दी। उस समय उन्हें ज्ञात हुआ कि हाय, हमने चिकित्सकोंके हाथमें पड़कर कैसा धांखा खाया। स्त्रीका स्वास्थ्य और जीवन ये दोनों ही ऐसे पतिके साथ संसर्ग करनेसे बड़े खतरेमें पड़ जाते हैं। मैथुनका यह स्वभाव है कि वह दोनों शरीरोंमें परस्पर कुछ न कुछ परिवर्तनकी प्रक्रिया करता है। इस कारण यदि स्त्रीका शरीर विजातीय द्रव्यसे पूर्ण शुद्ध नहीं होता है, तो वह पतिके सहवाससे गुप्त आतशकका बहुत जल्द शिकार बन जाती है और उसके कोई न कोई व्याधि खड़ी हो जाती है। ऐसे व्यक्तियोंकी सन्तान सदैव निर्बल होती है और उनका शारीरिक विकास ठीक तरहसे नहीं हो पाता। इस लिए मेरा यह मत है कि तीव्र उपदंशकी अपेक्षा गुप्त उपदंश अत्यन्त भयंकर और बुरा है। क्योंकि तीव्र दशामें तो रोगका साफ साफ पता चलता है।

डाक्टर लोग भी उपदंशकी गुप्त अवस्थाका होना स्वीकार करते हैं। परन्तु उन्हें इसके अस्तित्वका तभी निश्चय होता है जब कि यह बीमारी गुप्त रहनेके बाद प्रकट हो जाती है। अब जब कि वे रोगसे किसी प्रकार इन्कार तो कर नहीं सकते, तब उनको कहना पड़ता है कि रोग शरीरमें गुप्त रूपसे मौजूद था। यदि उनको इस तरह प्रत्यक्ष प्रमाण न मिलता, तो शायद उनका विज्ञान अब भी उन्हें रोगकी गुप्त अवस्थाका परिचय न देता।

मेरे 'मुखाकृति-विज्ञान' के सामने उपदंशकी गुप्त अवस्था छिपी नहीं रह सकती, चाहे उसका दौरा न हो। इसके द्वारा शरीरमें जननेन्द्रिय-सम्बन्धी रोगोंकी उत्पत्तिका होना बहुत काल पहलेसे जान लिया जा सकता है, जिससे उसका पहलेहीसे विनाश किया जा सकता है। मुझे इन रोगोंके भिन्न भिन्न नामोंकी तफसीलकी कुछ आवश्यकता नहीं है। जैसे प्रमेह, स्वप्नदोष, उपदंश, सोजाक, बद, प्रदर, इत्यादि। हर एक रोगका पृथक् पृथक् नामकरण मेरे लिए व्यर्थ है; क्योंकि उन सबकी जड़ एक ही है। इन रोगोंके रूपमें तभी विभिन्नता हो सकती है, जब कि मनुष्यके शरीरमें स्थित विजातीय द्रव्यमें भिन्न भिन्न प्रकाशसे उद्वेग उत्पन्न होता है।

यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि प्रकृतिने जननेन्द्रिय और उत्सर्ग-मार्गोंकी रचना बहुत करीब करीब की है। शरीर बाहर निकलनेवाले मलोंको सदैव इन्हीं मार्गोंकी ओर लानेका प्रयत्न किया करता है, इस लिए विजातीय द्रव्यका सबसे अधिक संचय भी यहीं पाया जाता है। यह बात स्त्रियोंमें स्पष्ट रूपसे दिखाई पड़ती है, इसलिए मैथुनमें यह बात विशेष महत्त्वकी है। गुप्त अंगोंकी त्वचामें जो शोषण करनेका स्वभाव है, उसके कारण मैथुन-क्रियामें पूर्वोक्त संचित मलका एक दूसरेके शरीरके द्वारा उसी तरह सोखा जाना अनिवार्य है, जिस तरह कि त्वचा मरहमको सोख लिया करती है। इस तरह स्त्रीके शरीरका सबसे बुरा दुर्द्रव्य पुरुषके शरीरमें चला जाता है और पुरुषके शरीरका स्त्रीके शरीरमें। यदि पुरुषमें विजातीय द्रव्य स्त्रीकी अपेक्षा अधिक परिमाणमें होगा, तो उसका वीर्य जो कि शरीरके स्रावोंसे बना होता है, स्त्रीके शरीर-संस्थानमें प्रविष्ट होकर उसको पहलेसे भी अधिक रुग्ण बना देगा।

यहाँ एक और बात है, जिसपर कुछ अधिक विचार होनेको जरूरत है। काम-वासना स्वयं एक ऐसी वस्तु है जो विश्वव्यापी है, किन्तु जिसका निरूपण सन्तोषजनक रीतिसे नहीं किया गया है और कम या अधिक मात्रामें वह अबतक अस्पष्ट है। डाक्टर लोग इसकी प्रकृतिके एक तो यों ही बहुत कम जानते हैं, फिर इसकी सम-अवस्था कौनसी होती है, इस विषयमें और भी कम जानते हैं, और किस कारणोंसे वह विषम हो जाती है, इसे तो सबसे कम जानते हैं। पाठ्य पुस्तकोंमें लिखा है कि प्राण-रक्षाकी भावनाके बाद अपनी सन्तान-वृद्धिका भाव मनुष्यके अन्दर सबसे अधिक प्रबल है, इसलिए यह समझमें नहीं आता कि उस बातका—जो महत्त्वमें प्राण-रक्षासे समानता रखती है—इतना तिरस्कार किया जाय कि उसको अस्वाभाविक, बिल्कुल प्रकृतिविरुद्ध और अनुचित कह दिया जाय। काम-वासना अन्य इच्छाओंके समान सम और विषम दो प्रकारकी होती है। इनमेंसे जो विषम वासना है, वह शरीरमें विजातीय द्रव्यके संचित होनेका परिणाम है और यह काम-वासना मनुष्यके स्वास्थ्य जाँच करनेका सच्चा और सूक्ष्म थर्मामीटर है, विशेषकर गुप्त और मन्द व्याधियोंके जाननेका तथा यह जाननेका कि हमारे रहन-सहनके ढंगका स्वास्थ्यपर क्या प्रभाव पड़ा रहा है, यह बहुत ही सुगम साधन है। जब कि विजातीय द्रव्यका स्वाभाविक उत्सर्ग-मार्गोंपर दबाव पड़ता है और स्नायुजाल अन्यन्त उत्तेजित हो जाता है, तब विषम कामेच्छा उत्पन्न होती है। इस दबावका असर मैथुनके अङ्गोंपर पड़ता है और वह काम-वासनाको बहुत कुछ तीव्र कर देता है, जिसका कि परिणाम शनैः शनैः पुंस्त्वको क्षीण करना होता है। सम काम-वासनाका दुर्भावनाओं और बुरे विचारोंसे कुछ सम्बन्ध नहीं। वह केवल पूर्ण आरोग्य मनुष्योंके उत्पन्न होती है और वह तभी

तक सम बनी रह सकती है जब तक कि मनुष्य अनुसोजक, सात्विक आहार करता है और बिल्कुल प्रकृतिके अनुकूल जीवन-निर्वाह करता है। जब शरीरमें विजातीय द्रव्यका संचार होता है अथवा किसी गुप्त या मन्द अवस्थामें कोई रोग हो जाता है, तब यही वासना असम रूप धारण कर लेती है।

कोई भी जननेन्द्रियसम्बन्धी रोग केवल उसी मनुष्यको होता है, जो विजातीय द्रव्यके भारसे युक्त हो। यही कारण है कि सोजाक, गर्मीके चकत्ते और गर्मी इन रोगोंका संक्रमण एकपर होता है और दूसरेपर नहीं। मैंने यह देखा है कि छूत लगनेका एकसा खतरा होते हुए भी दो मनुष्योंमेंसे एकको तो रोग हुआ और दूसरा नीरोग रहा।

एक बार यह भी देखा गया है कि एक स्त्रीका कुछ काल तक किसी ऐसे पुरुषके साथ सहवास रहा, जो कि किसी दूसरी स्त्रीके पास बिल्कुल नहीं जाता था। दैवात् वह पुरुष किसी कारणसे उस स्त्रीको त्यागकर अन्यत्र चला गया और उस स्त्रीने पुनर्विवाह कर लिया। इन दोनों पुरुषोंमेंसे कोई भी बीमार न था और न कोई किसी अन्य स्त्रीसे सम्बन्ध रखता था। किन्तु फिर भी उस स्त्रीके साथ संसर्ग करनेसे इस नवविवाहित पुरुषको अल्प कालमें ही उपदंश रोग हो गया और उस स्त्रीपर रोगका कुछ भी प्रभाव न पड़ा।

पहले यह कहा जा चुका है कि जिसकी जननेन्द्रियमें विजातीय द्रव्य जमा होता है, वह मैथुनके समय सहज ही दूसरेके शरीरमें प्रविष्ट हो जाता है—और उसके शरीरस्थित विजातीय द्रव्यमें मिलकर वह अवस्था उत्पन्न कर देता है जो गीले आटेमें खमीर करता है—
विशेषकर उस दशमें जब कि पारस्परिक एकत्व होनेके कारण संस्थान-

पर शामक और शक्तिदायक प्रभाव पड़ता है। इस तरह जीवन-शक्तिका इतना उत्थान हो जाता है कि वह शरीरस्थ विजातीय द्रव्यको निकालनेके लिए प्रोत्साहित हो जाती है। इसीलिए उपदंश, सोजाक, क्षत आदिकी कोई न कोई शोधन-क्रिया होने लगती है। इस बातसे यह भी पता चलता है कि यदि कोई पति वर्षों अपनी स्त्रीके साथ सहवास करता है और फिर दैवयोगसे किसी अन्य स्त्रीके साथ उसका प्रसंग हो जाता है तो वह स्त्री, प्रत्यक्षमें चाहे नीरोग ही क्यों न हो, परन्तु उस पुरुषके लिए उपदंश-प्राप्तिका हेतु क्यों बन जाती है। विवाहित दम्पतिके सम्भोगमें यह असर इस लिए नहीं होता कि दोनोंके शरीर परस्परकी न्यूनाधिकताको परिपूर्ण कर लेते हैं। परन्तु उनमेंसे किसीका जब किसी अन्यके साथ नूतन सम्बन्ध होता है, जिससे कि उसकी समानता नहीं होती, तब वह शरीरोंकी परस्पर न्यूनातिरिक्त पूर्तिकानवीन प्रयत्न रोग उत्पन्न कर देता है।

ऊपरके दृष्टान्तोंका उल्लेख इस लिए किया गया है जिससे यह विदित हो जाय कि जननेन्द्रियसम्बन्धी रोगोंकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है और इन दशाओंमें संसर्ग-दोष किस प्रकार काम करता है। मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि निषिद्ध सम्बन्धका तनिक भी समर्थन किया जाय। मुझे यहाँ केवल रोग, उसकी प्रकृति, उसके कारण और चिकित्सा-विधिका वर्णन करना है। इस लिए ऐसे उदाहरण देने पड़ते हैं जो कि खेदजनक होनेपर भी बहुत प्रचलित हो रहे हैं।

निदान हम यह जान गये कि जननेन्द्रिय-सम्बन्धी रोग, शरीरकी शोधन-प्रक्रियाके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, जिनके द्वारा शरीर अपने भरे हुए विजातीय दुर्द्रव्यको बाहर निकालना

चाहता है । इसलिए यदि हम आरोग्य होना चाहते हैं, तो पहले हमें व्याधिके कारणको अर्थात् शरीरमें भरे हुए विजातीय द्रव्यको दूर करना चाहिए, जिसके हटते ही समस्त व्याधियाँ शनैः शनैः अपने आप शमन हो जायँगी । औषधोपचार करनेवाले चिकित्सकोंकी यह भूल बड़ी कष्टदायक है कि वे इंजेक्शनके द्वारा अथवा आयोडीन, आयोडाइड आफ़ पोटासियम, आयोडोफार्म आदि विषाक्त औषधियोंके द्वारा रोगको नष्ट करना चाहते हैं । वास्तवमें इनसे शोधन करनेवाली क्रिया रुक जाती है, जिसका दुष्परिणाम यह होता है कि वह शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है, जो शरीरको आरोग्यप्रद शोधन करनेकी शक्ति देती है । बस, शरीरमें विषका प्रवेश होते ही उसकी शक्तिका सारा वेग शरीररक्षाके लिए उस विषका दोष कम करनेमें लग जाता है और उसे आरोग्यप्रद शोधन-क्रियाका काम बन्द कर देना पड़ता है ।

जिस अवस्थाको औषधोपचार करनेवाले चिकित्सक आरोग्य कहते हैं, वह अवस्था रूग्णावस्थाकी अपेक्षा भी अधिक भयंकर है । क्यों कि रोग अपना वास्तविक रूप छिपाकर पीड़ाहित, धोखा देनेवाली, मन्द और गुप्त अवस्था धारण कर लेता है । वह अवस्था देखनेमें तो आरोग्य जैसी मालूम पड़ती है, परन्तु कपटसे भरी हुई और अरोगताका कवल आभास-मात्र होती है । इस प्रकार जब इन व्याधियोंके प्रारम्भिक तीव्र लक्षण लुप्त हो जाते हैं, तो अभाग्यवश बहुतेरोंको उसमें वास्तविक आरोग्यका भ्रम हो जाता है । प्राचीन प्रणालीके डाक्टरोंने बहुत बड़ी बड़ी भूलें की हैं, इस बातको सिद्ध करनेके लिए मेरे पास अकाट्य प्रमाण हैं और इस लिए मेरा इस प्रकार उपालम्भ देना अनुचित नहीं है । आगे कुछ प्रमाण दिये जाते हैं—

जननेन्द्रियके किसी भी रोगको ओषधिसे आराम नहीं होता । उससे जो आरोग्यता होती है, वह झूठी है । वह एक ऐसा परदा है, जिसमें रोग मन्द होकर छिपे छिपे बढ़ता रहता है । यदि हम किसीकी जीवन-शक्तिको—जो औषध-सेवनसे निर्बल पड़ गई है, अपनी चिकित्सा-पद्धतिसे—भले ही उसमें कुछ वर्ष लग जायँ—प्रखर बना सकें, तो रोगके वे लक्षण जो दवासे दबा दिये गये थे, कभी कभी थोड़े समयके लिए हल्के रूपमें फिर उभरेंगे । मैं इस बातको अपने चिकित्सालयमें अनेक बार देख चुका हूँ । मेरे स्नानोंका संसरण गुण (derivative effect) रोगको इतना वशीभूत रखता है कि वह फिर भीषण रूपमें प्रकट नहीं हो सकता । इसलिए किसी भी मनुष्यको इन आरोग्यप्रद शोधनोंसे डरनेकी जरा भी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि शरीरसे विजातीय द्रव्य और दवाका बुरा असर निकलते समय स्वभावतः ऐसा होता ही है । (विशेषकर तब जब कि ओषधिद्वारा व्याधि शमन की जा चुकी हो ।)

जल-चिकित्साके द्वारा उपदंश आदि जननेन्द्रियसम्बन्धी समस्त रोग सहजमें ही शमन हो जाते हैं । मैं इस बातको अत्युक्तिसे नहीं कहता हूँ कि उपदंश रोग जो औषध-सेवनसे सर्वथा असाध्य है, मेरी चिकित्सा-विधिसे अन्य रोगोंके समान सर्वथा निर्मूल हो जाता है । यहाँ तक कि इससे रोगोत्पत्तिका परम्परागत भय भी बाकी नहीं रहता । परन्तु इससे मेरा अभिप्राय यह नहीं कि मेरी चिकित्सासे उपदंशका प्रत्येक रोगी आरोग्य हो जायगा । नहीं, इससे केवल वे ही रोगी आरोग्य हो सकते हैं जिनकी पाचन-शक्ति सुधरनेयोग्य है । इस चिकित्साको दीर्घ काल तक करनेसे जीवन-शक्तिकी उन्नति होती है और विजातीय द्रव्यके हास होनेके अनुपातसे थोड़ी या बहुत आरोग्यता प्राप्त हो सकती है ।

जननेन्द्रियसम्बन्धी किसी भी रोगके उत्पन्न होनेसे यह जाना जाता है कि शरीरमें दूषित द्रव्य अधिक परिमाणमें भरा हुआ है और यदि इस रोगसे मुक्त होनेका शीघ्र प्रयत्न न किया गया, तो इससे श्वास, कास, फेफड़ोंके रोग, हृदय-रोग, जलोदर, वातव्याधि, सांघातिक फोड़े, व्रण आदि नाना प्रकारके भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यदि ये रोग उस रोगीके शरीरमें प्रकट नहीं होते हैं, तो फिर मिथ्या चिकित्साके दुष्परिणामसे सन्ततिमें जाकर होते हैं। अनेक सरलहृदया माताएँ यह नहीं जान सकतीं कि हमारे बालकोंमें फेफड़ोंका रोग, क्षय, कण्ठमाला, रिकेट्स (अस्थि-विकार) आदि रोगोंका आविर्भाव किस कारणसे हुआ है। वे इन रोगोंके वास्तविक कारणको नहीं जानतीं और अपने ऊपर दोष नहीं दे सकतीं। पतिके जननेन्द्रियसम्बन्धी गुप्त रोगोंसे तथा उनका बालकके ऊपर पड़े हुए प्रभावसे वे सर्वथा अनभिज्ञ होती हैं। यहाँ हमको फिर अपनी सन्तानके प्रति किये गये माता-पिताके अपराधोंका पता लगता है। रोगी तथा दुर्बल बालक दर्पणके समान होते हैं। उनके द्वारा हम उनके गर्भाधानके समय माता-पिताओंकी स्वस्थता और अस्वस्थताको भली भाँति जान सकते हैं।

जननेन्द्रियसम्बन्धी सबसे अधिक प्रचलित प्रमेह मूत्रकृच्छ्र आदि-रोगोंका सिलसिला देखनेसे विजातीय द्रव्यके सम्बन्धमें हमारे निर्द्वारित सिद्धान्तकी और भी अधिक पुष्टि होती है। स्थानिक सूजनके साथ साथ शरीर भीतरसे विजातीय द्रव्यको पीबके रूपमें बाहर निकाल फेंकता है। जब कि हम यह नहीं जानते कि इस क्रियाको शरीरके लिए उपयोगी किस तरह बनौं, तब यह उद्वेगजनित और ज्वरयुक्त क्रिया अभ्यन्तर-यन्त्रोंमें भी सूजन और पीड़ा उत्पन्न कर देती है। ऐसा हो जानेपर

यह प्रक्रिया वास्तवमें आरोग्यप्रद शोधन-क्रिया हो जाती है । शरीरसे जितना अधिक दूषित द्रव्य निकल जाता है, उतना ही अधिक वह शुद्ध हो जाता है । मुख्य बात यह है कि दुर्द्रव्य निकल-नेकी प्रक्रियाको यथासम्भव पीड़ाहित बनाया जाय और यह कि वह शरीरमें विक्षेप उत्पन्न न करे और साथ ही साथ स्वतः उस प्रक्रियाके कार्यमें भी कुछ व्याघात न होने दे । मेरे निर्दिष्ट स्नानोंके द्वारा प्रत्येक रोगी निश्चित रूपसे अपने इस अभिप्रायको पूर्ण कर सकता है । यह अवश्य है कि स्नानोंके क्रमको व्यक्तिगत अनुकूलता दे दी जाय । चिकित्सा करनेकी अवधि निजातीय द्रव्यके परिमाणपर अवलम्बित है ।

अब आप तनिक उन ओषधियोंपर ध्यान दीजिए, जिनको कि डाक्टर लोग इन रोगोंमें प्रयोग करते हैं । सीसा, पारा, जस्ता, आय-डोफार्म आदि तीक्ष्ण और विषैली ओषधियाँ पिचकारीद्वारा शिश्न और योनिमें इसलिए पहुँचाई जाती हैं कि दयामयी प्रकृति हमारे हितके लिए जिस उत्सर्ग-विसर्ग क्रियाको कर रही है, उसके प्रयत्नको बलात् रोक दिया जाय । स्वतः ओषधिका गुण हमको यह बताता है कि ऐसी चेष्टा करना पूर्णतया हेय है । एक बड़े आश्चर्यकी बात यह है कि आज तक किसीने यह शंका नहीं उठाई कि ओषधिद्वारा पीबको रोक देनेसे वह कहाँ चली जाती है ? प्रकृतिका कोई कार्य बिना किसी उद्देशके नहीं होता । इसलिए प्रकृतिके कार्योंमें प्राकृतिक उपायोंसे ही सहायता पहुँचती है । प्रकृतिविरुद्ध उपायोंसे—जो कि जीवनकी प्रत्येक दशमें हानिकारक होते हैं—कुछ लाभ नहीं हो सकता ।

यह डॉक्टरोंके अज्ञानका ही दुष्परिणाम है कि आजकल जहाँ तहाँ पागलखाने और तरह तरहके शफाखाने बढ़ते चले जा रहे हैं । यदि

ओषधियाँ वास्तवमें रोगसे मुक्त करनेवाली होतीं, तो इन ओषधियों और इन संस्थाओंकी कमी दिखाई पड़ती।

इस विषयको समाप्त करनेसे पहले मैं अपने चिकित्सालयमें आये हुए दो रोगियोंका उदाहरण देना चाहता हूँ। एक बार एक ५० वर्षके मनुष्यने हृदय-रोगके सम्बन्धमें मुझसे परामर्श किया। मैंने उसको जल-चिकित्सा करनेकी उपयुक्त सम्मति दी। १५ दिन तक मेरी चिकित्सा करनेपर उसके पहलेसे दबा हुआ गुर्देका रोग प्रकट हुआ और जब वह दूर हो गया, तब १५ दिनके बाद सोजाक प्रकट हुआ, जिसमें कि यह व्यक्ति १५ वर्ष पूर्व ग्रस्त रहा था। ये दोनों रोग उसके पूर्वकालकी अपेक्षा इस समय बहुत ही हल्के रूपमें प्रकट हुए। एक सप्ताहमें उसका सोजाक अच्छा हो गया और स्वास्थ्य बहुत कुछ सुधर गया। हृदय-रोग भी बिल्कुल जाता रहा। चिकित्सा-कालमें रोगीने मुझसे कहा था कि—

“मुझको पहले जिस समय मूत्रकृच्छ्र रोग (सोजाक) हुआ था, उस समय मैंने दो प्रसिद्ध और दिग्गज डाक्टरोंसे चिकित्साके लिए परामर्श किया था। उनकी चिकित्सासे सोजाकको उस समय तो आराम हो गया, लेकिन कुछ साल बाद वह फिर उभर आया। उस वक्त भी उस ओषधिको सेवन करनेसे वह शमन हो गया। उसके दो वर्ष बाद मेरे गुर्देमें विकार उत्पन्न हुआ, जिससे मुझे बहुत कष्ट भोगना पड़ा। उस समय सुप्रसिद्ध विद्वान् और अनुभवी आठ चिकित्सकोंकी सम्मतिके अनुसार चिकित्सा करनेसे वह रोग भी बिल्कुल शमन हो गया। उसके थोड़े ही दिनों बाद हृदय-रोगने आ दबाया, जिसको किसी भी ओषधिसे लाभ नहीं हुआ। उसका परिणमन हृदयके जलोदर रोगमें (Dropsy) होनेकी आशङ्का हो रही थी।” मैंने

उस रोगीको समझाया कि तुम्हारा मूत्रकृच्छ्र रोग नष्ट नहीं हुआ था, बल्कि ओषधियोंके द्वारा शरीरके भीतर दबा दिया गया था। बस, वही गुदाके कष्टकी भूमिका बन गया। फिर वह भी ओषधियोंके जोरसे छिपकर हृदय-रोगके रूपमें बदल गया। अब यदि मेरी जल-चिकित्सा न की जाती, तो अवश्य जलोदर रोग हो जाता। उसको मेरी चिकित्सासे इस सब शृंखलाका विश्वास हो गया।

अब नीचे एक सिफलिस या गर्मीके रोगीका वर्णन दिया जाता है। बैरन वान ई (Baron Von E.) नामक मनुष्यने—जिसकी आयु ४७ वर्षकी होगी—सिफलिसके विषयमें मुझसे परामर्श लिया, जो कि उसे १० वर्षसे धेरे हुए था। उसने कहा कि—“ बड़े बड़े विख्यात एलेपैथिक डाक्टरोंने मुझे चार बार पारेका सेवन कराया और उसके साथ साथ पोटोसियम, आयोडाइडका भी व्यवहार कराया, परन्तु इससे कुछ भी लाभ न हुआ। आतशकके लक्षण बार बार उभर आते थे। मुँह और पैरोंमें घाव हो गये थे। परिणाम यह हुआ कि ऐलेपैथी चिकित्सापर मेरा तनिक भी विश्वास न रहा। विशेषकर इसलिए कि मेरा साधारण स्वास्थ्य भी पारा मिली ओषधियोंके सेवनसे पहलेसे भी और ज्यादा खराब हो गया। कुछ ही समय बाद मेरे सिरमें भारीपन रहने लगा और स्मरण-शक्ति बिल्कुल बिगड़ गई। ” मैंने ‘मुखाकृति-विज्ञान’के द्वारा निदान करके यह निश्चय किया कि यह रोगी विजातीय द्रव्यके भारसे बहुत दबा हुआ है। इसके अतिरिक्त इसके शरीरमें जहरीली ओषधियाँ सेवन करनेके चिह्न भी प्रकट हो रहे हैं। इन बातोंसे यह स्पष्ट था कि पारेके द्वारा सिफलिस रोग गुप्त अवस्थामें पहुँचा दिया गया है। मैंने उसको प्रति-दिन दो तीन बार स्नान और सादा भोजन कराना शुरू किया।

परिणाम अनुकूल निकला और ६ महीनेमें ही रोगीकी दशा बहुत कुछ बदल गई। उसकी पाचन-शक्ति भी सुधर गई। शरीरपर स्वास्थ्य और नव-जीवनकी आभा चमकने लगी। कारणके नाश होनेपर कार्य्य (उपदर्श रोग) का भी समूल नाश हो गया, जो अब कभी न लौटेगा। इस चिकित्साकी विशेष रिपोर्ट चौथे भागमें देखिए।

ह्रीव्रत्व (नपुंसकता)—वर्त्तमान पीढ़ीकी हीनताका इससे अधिक प्रत्यक्ष प्रमाण क्या हो सकता है कि ह्रीव्रताका इतना अधिक प्रसार देखा जाता है। डाक्टरोंके हाथ अभीतक इसका कोई भी उपाय नहीं आया है। वे लोग तो इस रोगके सामने बिल्कुल हाथपर हाथ धरे बैठे हैं; क्योंकि उन्हें इसका कारण ही नहीं मालूम है। वे यह नहीं जानते कि सब रोग केवल शरीरमें विजातीय द्रव्यके भर जानेसे पैदा होते हैं। यदि रोगीके शरीरमेंसे विजातीय द्रव्यको बाहर निकाल दिया जाय; तो प्रत्येक नपुंसक रोगी आरोग्यलाभ कर सकता है। मैं अपनी चिकित्सा-विधिके अनुभव और उसके शुभ परिणामोंको लक्ष्य करके विश्वस्त रूपसे कह सकता हूँ कि रोगी इस रोगको दूर करनेमें अवश्य सफल-मनोरथ हो सकता है। मैं आपको यह विश्वास दिलाता हूँ कि मेरी चिकित्साके द्वारा इस प्रकारके अनेक रोगी आरोग्यलाभ कर चुके हैं। यदि इस विधिको अच्छे प्रकारसे समझकर दृढ़ विश्वासके साथ चिकित्सा की जाय, तो यह रोग अवश्य दूर हो सकता है। कारणका मूलोच्छेद हो जानेसे जननेन्द्रियकी असमर्थता भी दूर हो जायगी। उसी प्रकार कामेच्छा भी स्वाभाविक और सात्विक बनाई जा सकती है, जिससे मनुष्य फिरसे स्वाभाविक काम-वासनाके साथ सुखमय जीवन व्यतीत कर सकता है। इसके अतिरिक्त जो नव-युवक कुटुम्बमें पढ़कर सदा-चार-पथसे भ्रष्ट हो गये हैं और नाना प्रकारकी कृत्रिम कुप्रवृत्तियों

(हस्तमैथुनादि) के द्वारा वीर्य-नाश करनेके कारण बड़ी बड़ी कठिन यन्त्रणाएँ भोगते हैं, वे भी इस चिकित्सासे पूर्ण आरोग्य हो जाते हैं । इसकी उपयोगिता इसीसे सिद्ध है कि जिन पुरुषोंने इस चिकित्साको करके इससे पूर्ण आरोग्य लाभ किया है, उनके धन्यवादपूर्ण प्रमाण-पत्र मेरे पास मौजूद हैं, जिनको आप इस पुस्तकके चतुर्थ भागमें देख सकते हैं ।

स्त्रियोंकी क्लीबताको बन्ध्यात्व (बाँझपन) कहते हैं । स्त्रियोंकी जननेन्द्रियके भीतरी भागका केवल ठीक गठन न होनेसे अथवा वहाँ कोई साधारण दोष पैदा हो जानेसे ही यह रोग नहीं होता, बल्कि उन भागोंमें चेतनताका अभाव भी हो जाता है । इस विषयका वर्णन तृतीय अध्यायके भीतर स्त्री-रोगमें विस्तृत रूपसे किया गया है ।

पुरुषोंकी काम-वासना स्त्रियोंकी वासनासे सर्वथा भिन्न होती है, अतएव पुरुषोंकी क्लीबताका स्वरूप भी दूसरा ही होता है । इसके लक्षण रोग होनेसे वर्षों पहले प्रकट हो जाते हैं । किसी मन्द व्याधिके कारण क्लायु-सम्बन्धी उत्तेजनाके अधिक बढ़ जानेसे मैथुन करनेकी इच्छा प्रबल हो जाती है । यह होनेवाली क्लीबताका पूर्व लक्षण है । बालकों और युवकोंकी शिशनेन्द्रियोंमें विजातीय द्रव्यके कारण उत्तेजना होती है, जिससे वे हस्तमैथुनादि जैसे भयंकर और घृणित कुकर्म करने लगते हैं । जवान आदमियोंमें यह उत्तेजना अस्वाभाविक कामेच्छाके रूपमें प्रकट होती है और साथ ही साथ मनमें भी अश्लील और कामुक विचार भर जाते हैं । युवावस्थामें जब ऐसा मनुष्य किसी रमणीके सामने आता है, तब लज्जा और भीरुतासे कातर हो जाता है, जो पुंस्त्वहीनताके कारण होती है । आजकल उच्च कुलके नवयुवक प्रायः अविवाहित दिखाई देते हैं । इसका कारण क्या है ? यही कि वे पुरुषत्व-

शक्तिहीन (अर्थात् क्लीब) हैं । वे स्त्रीके सामने आते हुए झेंपते हैं; क्योंकि वे युवावस्थामें प्रवेश करते समय हस्तक्रिया आदि दुराचारों-द्वारा नपुंसक बन बैठे हैं । कितने ही पुरुष तो लज्जित होकर आत्म-घात तक कर बैठते हैं, या ऐसा करनेके लिए तैयार हो जाते हैं ।

इस विषयका एक वृत्त ही रोचक उदाहरण दिया जाता है । एक २२ वर्षकी आशुवाला नौजवान और कुलीन जो कि एक बड़ी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी था, मुझसे आकर मिला । वह १२ वर्षकी अवस्थासे हस्तमैथुन करता था । मेरी चिकित्साकी प्रशंसा सुनकर इस कुटेवपर विजय प्राप्त करनेके लिए उसने मुझसे परामर्श किया । वह दिन-रात इसी चिन्तामें व्यग्र रहता था और शिक्षा ग्रहण करनेकी शक्ति भी खो बैठा था । यद्यपि हस्तक्रिया जैसे दुष्कर्मसे बचनेके लिए वह स्वयं बड़ा उद्योग करता था, परन्तु उसको विवश होकर यह क्रिया करनी पड़ती थी । वह इसकी चिकित्सा भी करा चुका था, परन्तु कुछ लाभ नहीं हुआ था । उसके अन्तरात्मामें इतना बल नहीं रहा था कि वह अपनी चित्तवृत्तियोंको रोक सके । इससे उसका मन सदैव अप्रसन्न रहता था और वह अपना जीवन निष्फल समझता था । इसका एक कारण यह भी था कि उसके माता-पिता उसका विवाह कर देना चाहते थे और वह नपुंसक होनेके कारण घबड़ाता था । अन्तमें उसने मेरा आश्रय लिया और यह निश्चय कर लिया कि यदि इस चिकित्सासे भी मुझे लाभ न हुआ, तो मैं विवाह हर्गिज नहीं करूँगा ।

मैंने मुखाकृति-विज्ञानके द्वारा यह निदान किया कि उसकी नपुंसकताका कारण पाचन-शक्तिका अत्यन्त खराब होना है, जिसको ठीक करना पहली बात है । उसके शरीरमें युवावस्था होनेके कारण आरोग्य-

मृत्युके लिए बहुत अनुकूल प्रतिक्रिया होगी, इसलिए मैंने उसको पूरा विश्वास दिला दिया । उसने मेरी बातको सत्य मानकर बड़ी दृढ़ता और विचारके साथ चिकित्सा आरम्भ कर दी । इससे कुछ महीनोंमें ही उसकी अवस्था बहुत कुछ सुधर गई । इस उदाहरणसे मेरी चिकित्सा-विधि सर्वोत्तममें सत्य प्रमाणित हुई । मेरे निर्दिष्ट स्नानोंने उसके रोगको जड़से उखाड़कर फेंक दिया । उसे प्रकृतिके अनुकूल सात्व्य आहार कराया जाता था । १३ महीनेकी चिकित्सासे उसकी नपुंसकता और साथ ही हस्तक्रियाकी कुट्येव भी बिल्कुल दूर हो गई ।

मूत्राशय और गुर्दोंके रोग

मधुमेय, यूरेमिया (Uraemia), बेडवेटिंग
(Bedwetting), जिगरकी तकलीफें,
पित्ताशयकी पथरी (Gall stones), कामला
(Jaundice), अन्त्ररोग, तलुवोंका पसीजना,
हरपिज (Herpes) अर्थात् खाज

यह बात बहुत ही अनुचित और बिल्कुल ही नियमविरुद्ध माद्धम होती है कि उन सब व्याधियोंको एक ही श्रेणीमें रक्खा जाय जिनका प्रत्यक्षमें एक दूसरेसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं माद्धम पड़ता । यह ठीक है कि औषधोपचार करनेवाले चिकित्सकोंकी दृष्टिमें वे सब बिल्कुल भिन्न भिन्न रोग हैं और सबकी चिकित्सा पृथक् पृथक् है; किन्तु मेरे चिकित्सा-विज्ञानका चश्मा चढ़ाकर देखनेसे उक्त सब रोग एक और परस्पर सम्बद्ध दखिते हैं ।

इन सबकी उत्पत्ति भी हमको विजातीय द्रव्यके संचयमें एकदम मिल जाती है और यहाँ हमको विशेषकर उस संचयका वर्णन करना है, जिसके प्रभावसे विजातीय द्रव्यको निकालनेवाले हमारे शरीरके उन यन्त्रोंका काम ढीला पड़ जाता है, जिन्हें प्रकृतिने इसी कामके लिए बनाया है। वे यन्त्र हैं—गुर्दे और त्वचा। यहाँ उस दूषित वायुके सम्बन्धमें भी कुछ विचार करना है, जो पाचनके समय पेट-में पैदा हो जाती है और जिसके रीह, पाद, अपान आदि अनेक नाम हैं।

वह वायु पाचन-यन्त्रमें सर्वत्र फैल जाती है। आँतोंकी गति कृमिकी तरह आकुंचनशील है, इसलिए वह हवा एक ओर तो भोजनको आगेको सरकाती है; दूसरे फैलना उसका स्वभाव है इसलिए वह पाचन-यन्त्रकी दीवारोंसे टकराकर सारे शरीर और खूनमें मिल जाती है। यह बात नीचे लिखे दृष्टान्तसे भलीभाँति समझमें आ सकती है। पृथ्वीपर समुद्र, नदी, झील और तालाबोंमें जो जल भरा हुआ है, उसे पृथ्वीकी ऐसी जलवाहिनी नाड़ियाँ समझना चाहिए, जैसी कि शरीरमें रक्तवाहिनी नाड़ियाँ हैं। लेकिन इनके अतिरिक्त वाष्प या भापके रूपमें भी बहुतसा जल, वायु और पृथ्वीके समस्त विभागोंमें भरा रहता है। यही बात उस खान-पानकी है, जो हमारे शरीरमें जाता है। कहनेको तो खान-पान किन्हीं निर्दिष्ट मार्गों और स्थानोंमें ही रहता है, परन्तु हवाके रूपमें होकर वह सब शरीरमें पहुँच जाता है। इसलिए मद्यका असर पीते ही सारे शरीरमें और विशेषकर सिरमें मालूम पड़ने लगता है। यदि हमारी त्वचा अपना काम ठीक तौरपर कर रही हो, तो उस वायुका कुछ भाग पसीने और सौंसके द्वारा भी निकल जाता है। वह वायु पसीनेके द्वारा भी निकलती है और बिना

पसीनेके भी । हर मनुष्यके शरीरके पसीनेमें जुदा जुदा गन्ध आती है । जब पसीनेके साथ बहुत दिनोंका संचित हुआ दूषित द्रव्य अधिक परिमाणमें मिल जाता है, तब पसीनेमें बहुत बुरी बू आने लगती है । इसके विपरीत पूर्ण नीरोगी मनुष्यके पसीनेमें कोई दुर्गन्ध नहीं होती । शरीरके भीतर ही भीतर यह वायुरूप ताप गुदोंके द्वारा भी निकलता है । गुर्दे द्रव पदार्थमें मिश्रित उन तापोंको मूत्रके द्वारा वस्तीमें पहुँचाते हैं । इस तरहसे पसीना और मूत्र करीब करीब एक ही सी दो वस्तुएँ हैं, जिन्हें शरीर बाहर निकालता रहता है । जिस समय मूत्राशय पूरे तोरसे भर जाता है, उस समय मूत्र-त्यागकी इच्छा होती है । उसको उसी समय खाली करना चाहिए, नहीं तो शरीरको बड़ी भारी हानि पहुँचती है । यह इतना आवश्यक है कि इसपर ध्यान न देना बड़ी भूल है । आजकल मिथ्या संकोच और आधुनिक रीति-रिवाज हमें जैसा करना चाहिए वैसा करनेसे रोकते हैं । फिर यदि गुर्दे और वस्तीमें वह दूषित द्रव्य रुक जाय— जो शरीरसे निकल जाना चाहिए था—तो क्या आश्चर्य है । माता-पिता तथा शिक्षकोंके लिए यह आवश्यक है कि बालकोंको मल-मूत्रके रोकनेकी बुराइयाँ अच्छी तरह समझा दें । बालकोंमें वस्तुओंका परिवर्तन तरुण मनुष्योंकी अपेक्षा बड़ी शीघ्रतासे होता है । क्योंकि उनमें जीवन-शक्ति अधिक होती है । इसलिए यदि हम बालकोंकी किसी भयानक हानिसे रक्षा करना चाहते हैं, तो उन्हें मल-मूत्र कभी नहीं रोकने देना चाहिए । यदि मसानेमेंसे मूत्र-त्याग ठीक समयपर नहीं किया जायगा, तो शरीरस्थ अन्य वस्तुके समान उसमें भी रासायनिक प्रक्रिया होने लगेगी और उद्वेग उत्पन्न हो जायगा । इससे मसानेमें गर्मी बढ़ जायगी । परिणाम यह होगा कि

मूत्रका द्रवरूप अंश भाप बनकर उड़ जायगा और उसमेंसे नमकोंका भाग बाकी रह जायगा। इस कारण मूत्राशयमें जानेवाले गुर्दोंके पदार्थ गुर्दोंहीमें रुक जायेंगे और उनमें वहाँपर ही परिवर्तन-क्रिया होने लगेगी। यथासमय मल-मूत्रका त्याग न कर जब उनके वेगोंको रोका जाता है, तब उनकी हाजत ही मिट जाती है और जब हम उन्हें त्यागना चाहते हैं, तब वह नहीं उतरते। लेकिन फिर उस मूत्रका क्या हो जाता है? वह मूत्र बस्तीमें कम हो जाता है और इस कारण शरीरमें अवश्य ही प्रविष्ट हो जाता है। मूत्रका कुछ भाग रासायनिक क्रियाके कारण भापमें बदलकर शरीर तथा रुधिरमें फिर मिल जाता है। मूत्रके इस प्रकार उड़ जानेसे गुर्दों और मूत्राशयमें नमक और न घुलनेवाले पदार्थोंके पीले रंगके छोटे छोटे रेजे बाकी रह जाते हैं जो बादको अपूर्ण रूपसे निकाल दिये जाते हैं, अर्थात् वे हमेशा पूरी तरह नहीं निकलते। खुर्द-बीनसे मूत्राशयमें जमे हुए द्रव्यको दो सौ गुना बड़ा करके देखा जाय, तो हमें उसमें सूक्ष्म रवे दिखाई देते हैं। यदि उनको अलग अलग देखा जाय, तो पीले और इकट्ठा देखा जाय तो ललाई लिए हुए दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार जब मूत्राशय दूषित पदार्थसे बहुत भर जाता है, तब साधारणतः पथरी रोग पैदा हो जाता है।

पथरी—यह रोग शरीरमें विकार उत्पन्न होनेपर अथवा प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार करनेसे उसी तरह जमता है जैसे एंजिनके बाइलरमें पपड़ी जम जाती है। यह तभी जमती है, जब कि तापमान अधिक हो और खनिज द्रव्योंसे युक्त पानी व्यवहारमें आया हो। यह पपड़ी वर्षाके शुद्ध पानीमें बहुत कम जमती है। मूत्र भापके रूपमें उड़ जाता है और छोटे छोटे रवे मिलकर जुड़ जाते हैं। जबतक ये रवे बहुत छोटे रहते हैं, तब तक मूत्रके साथ नलिकाओंमें होकर निकलते रहते हैं और

किसी प्रकारका विक्षेप नहीं करते; परन्तु जब बड़े हो जाते हैं, तब नलीमें दर्द-गुर्दा पैदा कर देते हैं, जिसे वृक्क-शूल कहते हैं। पथरीकी तीक्ष्ण और नुकीली धार नलीकी झिल्लीपर आघात पहुँचाती है और उसमें प्रदाह पैदा कर देती है। यह मूत्राशयमें भी होती है। यदि पेड़में दुर्द्रव्यके अधिक भारसे मूत्र-नलिकाओंका मार्ग संकुचित हो जाता है, तो पथरीके यह टुकड़े मूत्रके साथ बाहर नहीं निकल सकते और मूत्राशयमें रहकर एक शिलाके रूपमें इकट्ठे हो जाते हैं। वहाँपर निरन्तर घूमते रहनेसे वह शिला गोलाकार हो जाती है; परन्तु फिर भी अपने नुकीलेपनको कायम रखती है।

यह नियम नहीं है कि मूत्रके अवरोधसे सदैव पथरी ही बने। मूत्रका यह स्वभाव है कि वह सबका सब स्वरूप बदलकर शरीरमें विजातीय द्रव्य बन जाता है। इससे और भी अनेक प्रकारके रोगोंकी उत्पत्ति हो सकती है। जैसे कि Nodular formation दुर्ग्रन्थियोंका उत्पन्न होना। एक बार मैंने एक बालककी चिकित्सा की। उसके सम्पूर्ण शरीरमें मटरके दानेके समान गुमड़ियाँ भरी हुई थीं। इसका कारण यह था कि एक बार अत्यन्त शीतसे आक्रान्त होनेके कारण उस बालकको कई दिन तक पेशाब नहीं उतरा था। मैंने समझाया कि ये गुमड़ियाँ यदि मूत्रावरोध होनेसे ही उत्पन्न हुई हैं, तो शीघ्र दूर हो जाँयगी। हमारा काम यह है कि इन गुमड़ियोंको फिर मूत्रमें तब-दील कर दें। उस बालकने मेरी चिकित्सा आरम्भ कर दी। इससे कुछ दिनोंमें ही उसको बहुत मूत्र आने लगा, जो कई दिन तक बराबर आता रहा और उसकी समस्त गुमड़ियाँ शीघ्र नष्ट हो गईं। इस अवस्थापूर्ण बालकको देवकर उसकी माता अत्यन्त चकित हुई।

जो विजातीय द्रव्य मूत्रसे गुमड़ियोंके रूपमें परिवर्तित हो गया था, उसे तीव्र जीवनी-शक्तिके प्रभावसे शरीर पुनः बाहर निकालकर फेंक सका ।

अतिसार और मलबद्ध रोग—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, अतिसार तथा मलबद्धता इन दोनोंका एक ही कारण है, शरीरमें विजातीय द्रव्यका अधिक भार होना । यही बात मूत्रके सम्बन्धमें भी है । अन्तर केवल इतना ही है कि रुकावटकी प्रतीति सरलतासे नहीं होती, परंतु त्वचाका लाल होना, खुजली आना, सिरदर्द, रसौली, पथरी आदि अन्य प्रकारोंसे होती है । एक प्रकारसे ये अन्यान्य रोगोंके पूर्वरूप हैं ।

बहुमूत्र अथवा मधुमेह (Diabetes)—यह रोग पेचिशके समान है; परंतु इसकी प्रतीति सीधे तौरसे ही होती है । इस रोगमें प्रदाहका कारण शरीरका गुप्त ज्वर है, जिससे कि व्याकुल कर देनेवाली प्यास भी उत्पन्न होती है । इस रोगमें कब्ज, पथरी और ग्रन्थियोंका आविर्भाव नहीं होता; परंतु विजातीय द्रव्य बहुत शीघ्रतासे निकल जाता है और उसके साथ साथ रसोंका विशेष रूपसे विच्छेद भी होने लगता है । इस प्रकार मूत्र बहुत दूषित, उद्विग्न और मीठा आता है । पथरी और मधुमेह एकसे रोग हैं । इनके बाह्य लक्षणोंमें ही भेद होते हैं । इन रोगोंसे पीड़ित लोगोंको मेरे बताये स्नान अत्यन्त उपयोगी होते हैं । इनसे आन्तरिक ज्वर घटता है और रोगीकी तीव्र प्यास मिट जाती है ।

पथरी और मधुमेह दोनों ही रोग कारणके नष्ट हो जानेसे मेरी चिकित्साके द्वारा एक ही तरहसे आराम हो चुके हैं, अर्थात् पहले पथरी धूलके अणुओंके समान विभक्त हो जाती है और फिर मूत्रके साथ उसी रूपमें आसानीसे निकल जाती है । पथरीकी चिकित्सामें यह आश्चर्यजनक

बात है कि स्नानके समय बहुत अधिक परिमाणमें पेशाब उतरता है। रोगी ताज्जुब करते हैं कि इतना सारा पानी कहाँसे आ गया ! परन्तु यह बात सहजही समझमें आ सकती है। जो मूत्र पहले भाप बनकर उड़ गया था और सारे शरीरमें दूषित रूपमें जमा हो गया था, वह अब अपने पुराने रास्तेपर लौटता है और मूत्ररूपमें शरीरसे बाहर निकल जाता है। मुझे ऐसे रोगी भी मिले हैं, जिन्हें कुछ दिनों तक केवल स्नानके समय ही मूत्र उतरता था। धीरे धीरे रोगका कारण दूर हो जानेसे मसानेकी हालत ठीक हो गई।

सम्राट् विलियम (प्रथम) के उदाहरणसे हम यह भली भाँति देख सकते हैं कि पथरीके होते हुए भी रोगी बहुत दिनों तक कैसे जीते हैं। सम्राट् विलियमके मूत्राशयमें एक बहुत बड़ी पथरी थी, परन्तु फिर भी वे ९० वर्ष तक जीवित रहे, इसका कारण यह था कि उनके शरीरमें दूषित द्रव्यने अनुकूल स्थिति धारण कर रखी थी। परन्तु उनके पुत्र स्वर्गवासी महाराज फ्रेडरिकको यह रोग पूर्व अवस्थामें ही अत्यन्त तीव्र हो गया था।

युरेमिया (Uraemia)—वह दशा है जिसमें यूरिया (urea) खूनमें मिलकर सारे शरीरमें फैल जाता है। यह प्रायः पथरी और मूत्राशयसम्बन्धी रोगोंके साथ साथ पाया जाता है। यह रोग आरम्भमें ही जब कि स्वतः रोगीको भी उसका बोध नहीं होता, मेरे मुखवाक्य-विज्ञानके जानकारसे छिपा नहीं रह सकता। मेरे निर्दिष्ट स्नानोंके अतिरिक्त कोई भी चिकित्सा-प्रणाली ऐसी नहीं है, जो इस दूषित पदार्थको निकालकर रुधिर और शरीरको इतनी शीघ्रतासे साफ कर सके।

बेड-वेटिंग (Bed-wetting)—यह वह दशा है जिसमें रोगी पेशाबको मसानेमें धारण नहीं कर सकता। क्योंकि पेडूमें दूषित द्रव्य संग्रह हो जाता है। प्रायः मसानेकी नलीमें एक क्षत (घाव) हो जाता है। इस रोगका कारण करीब करीब हर हालतमें वे रोग होते हैं, जो प्रकृतिविरुद्ध ओषधियोंके सेवन और नियम-विरुद्ध चिकित्साओंके द्वारा दवा दिये जाते हैं। इसका विशेष विवरण चतुर्थ भागमें देखिए। यह रोग तथा आँतोंके जर्म्स मेरी स्नान-विधिके द्वारा कुछ ही दिनों या सप्ताहोंमें जड़से जाते रहते हैं। मेरी चिकित्साको अधिक दिनों तक करनेकी तभी आवश्यकता पड़ती है, जब कि रोग पुराना पड़ गया हो और अधिक औषध-सेवनने उसे बिगाड़ दिया हो।

कैटार आफ दी ब्लैडर (Catarrh of the Bladder)

अर्थात् मूत्राशयकी श्लेष्मा—यह विकार कुछ दर्जे तक मूत्राशयमें होनेवाली किसी दारुण व्याधि अथवा पथरीका पूर्वरूप है, जिसमें मूत्राशय और मूल नालिकामें दारुण शोथ होता है और पेशाब आते समय अत्यन्त पीड़ा होती है। यह रोग भी मेरी चिकित्सा-विधिके द्वारा समस्त तीव्र ज्वरोंके समान शीघ्र ही नष्ट हो सकता है, क्योंकि इसका कारण भी वही है जो अन्य रोगोंका है। एक बार मैं मूत्राशयकी दाहसे पीड़ित एक रोगीकी चिकित्सा करनेके लिए बुलाया गया। रोगी उस पीड़ासे १५ दिनसे अत्यन्त व्याकुल हो रहा था। उसकी प्रोस्टेट ग्रन्थि बहुत सूज रही थी, उसे बड़ी वेदनाके साथ पेशाब आता था और दस दस मिनटके बाद मूत्राशयमें दर्दकी बड़ी हूल उठती थी। चूँकि पेशाब आनेमें कठिनता हो रही थी, इस लिए उसके चिकित्सकने चौदहवें दिन सायङ्कालके समय, सलाई डालनेका विचार किया, परन्तु मूल ग्रन्थिमें शोथ होनेसे ऐसा नहीं हो सका, इस लिए उसने

क्लोरोफार्म देना चाहा, परन्तु रोगीने इस बातको स्वीकार नहीं किया। उसी रातको उसने मुझे बुलाया। पहले स्नानसे ही उसकी ऐंठन, जो दस दस मिनटमें होती थी, जाती रही। आध घंटा स्नान करनेके पश्चात् उसको खूब खुलकर बिना कष्टके पेशाब आया। पौन घंटा तक स्नान करनेके पश्चात् वह पलंगपर चला गया। शयन करनेपर उसको खूब पसीना आया और पेशाब भी बिना किसी तकलीफके अधिक परिणाममें आया। इस प्रकारसे उसकी पीड़ा कुछ ही दिनोंमें बिल्कुल जाती रही।

यकृतके रोग (जिगरकी व्याधियाँ), पित्ताशयकी पथरी (Gallstones) कामला (Jaundice)—ये रोग विशेषकर तब होते हैं, जब कि दूषित पित्ताशयका द्रव्य-भार दाहिनी ओर होता है। कारण यह है कि यकृतका स्राव—जिसे पित्त कहते हैं—पित्ताशयसे खाली होकर पहले छोटी आँतमें (duodenum) जाता है, वहाँ पाचन-क्रियापर एक विशेष प्रभाव डालता है, जिससे उद्वेगमें कमी हो जाती है। जब कभी विजातीय द्रव्यके दाहिनी ओर स्थित होनेसे यकृतके पित्तोत्पत्तिके कार्य (पित्तको निकालने) में बाधा पड़ती है, तब मैंने निरीक्षण किया है कि बाईं ओर विजातीय द्रव्यका भार अधिक होनेसे पसीनेकी मात्रामें जो अंतर होता है, उससे बिल्कुल ही भिन्न प्रकारका अंतर तब होता है जब विजातीय द्रव्यका भार दाहिनी ओर होता है। इस प्रकारसे दूषित द्रव्यकी अवस्थानुसार यकृत अर्थात् जिगरमें सस्ती तथा पित्ताशयकी पथरी हो जाती है। इस रोगके रोगियोंको अत्यन्त दुर्गन्धित और दूषित स्वेद अल्प परिमाणमें आता है और उनके तलुवे विशेषरूपसे पसीजते हैं। पित्तके वाष्परूप होकर उड़ने, रासायनिक विच्छेद होने या उसमें उद्वेग होनेसे त्वचापर कुछ श्यामता आकर विवर्णता आ जाती है, तथा जगह जगह

विवर्ण बिंदु दिखने लगते हैं और कामला रोग उत्पन्न हो जाता है ।
(इस विषयकी रिपोर्टें चतुर्थ भागमें देखिए ।) उक्त रोगोंकी चिकित्सा करके मैंने अनेक बार अनुभव किया है कि मेरी चिकित्सा-विधि उपर्युक्त रोगोंको शीघ्रतासे विनाश कर देती है ।

पैरोंमें पसीना आना—उपर्युक्त व्याख्याके अनुसार यह रोग भी यकृत रोगसे विशेष सम्बन्ध रखता है । यह तभी होता है, जब कि जिगरमें खराबी होती है । पैरोंमें अधिक पसीना आना वर्षों पहले इस बातकी सूचना देता है कि दूषित द्रव्यका संग्रह दाहिनी ओर विशेष रूपसे हो रहा है । जब जिगर तथा पित्ताशयकी बीमारियाँ बहुत बढ़ चुकती हैं, तब यह पसीनेका निकलना एकदम बन्द हो जाता है । रोगीकी दशा तब नियमित रीतिसे अधिकाधिक खराब होती जाती है; क्योंकि उस समय पैरोंके रास्ते निकलनेवाला विजातीय द्रव्य शरीरके भीतर रुक जाता है और हर्पीज (एक चर्म रोग जिसमें शोथवाले प्रदेशमें मशक सरीखी फुँसियाँ होती हैं), कैन्सर जैसे कठिन रोगोंको पैदा कर देता है, जिन्हें आराम करना अति दुरूह और समयसाध्य होता है । क्रोनिक एसिड जैसी ओषधियोंके द्वारा तलुवे पसीजना बलात् बन्द कर देनेसे रोगीके स्वास्थ्यको बहुत हानि पहुँचती है । ओषध खानेसे जो हानि पहुँचती है, वह बहुत दिनतक और कभी कभी वर्षों तक छिपी रहती है और तब तक छिपी रहती है जब तक उसके द्वारा कोई बदतर रोग उत्पन्न नहीं हो जाता । ओषध आदि कृत्रिम उपायोंके द्वारा दूषित स्वेदको रोक देना मानों किसी बड़े नगरके मुख्य नालेको, जिसमें सब छोटी छोटी नालियाँ जाकर मिलती हैं, इस लिए बन्द कर देना है कि उसके मुँहपर बंदबू आती है । बेशक, उसके मुँहपरकी वह

दुर्गन्ध तो हट जायगी, लेकिन उस नगरमें महामारिरूप दुर्गन्ध फैल-
कर एक बड़ी भयंकर अवस्था पैदा कर देगी ।

बड़े अफ़सोसकी बात है कि हमारा सैनिक विभाग रोगकी प्रकृतिसे
अज्ञात आधुनिक डाक्टर लोगोंकी राय मानकर तलवे पसीजनेकी
हालतमें क्रोमिक (Chromic,) सेलीसिलिक (Salicylic,)
एसिड आदि ओषधियाँ सेवन करनेकी व्यवस्था देते हैं । मैं
सबको सावधान करता हूँ कि वे इस हानिकार ओषधिका व्यवहार
न करें । मेरी चिकित्सा-विधिसे यह स्वेद आना शीघ्र दूर हो जाता है ।
इससे रोगके कारणका नाश हो जाता है ।

हर्पीज़ (एक चर्मरोग जिसमें चमड़ी लाल होकर उसपर फुंसियाँ हो
जाती हैं), **त्वचासम्बन्धी रोग**—इन सब साधारण रोगोंकी उत्पत्तिका
कारण भी एक ही है, भले ही विस्फोट किसी रूपमें क्यों न प्रकट
हों । मैंने ऐसे अत्यधिक रोगियोंकी चिकित्सा की है और अत्युत्तम
परिणाम प्राप्त किये हैं और करीब करीब यह बात हमेशा सत्यसी प्रमाणित
हुई है कि तलवे तथा त्वचाके स्वेदकी बीमारीके ये विशेष परिवर्धित रूप
हैं । इन रोगोंसे यह बात प्रमाणित होती है कि ये किसी दीर्घकालसे दबाये
हुए रोगके परिणाम हैं, इसलिए इनकी चिकित्सा भी चिरसाध्य है और
बहुत सावधानीसे करने योग्य है ।

हर्पीज़ दो प्रकारकी होती है, एक शुष्क और दूसरी प्रवाहित ।
शुष्क अधिक कष्टसाध्य है । बालकोंको यह रोग विशेष होता है,
जिसका कारण विजातीय द्रव्यकी पैतृक संपत्ति, अथवा रोगोंका दबा
दिया जाना है । प्रायः यह टीका लगानेसे उत्पन्न होता है ।

इस विषयको विशदरूपसे समझानेके लिए यहाँ बहुतसे रोगियोंमें-
लिखे जाते हैं । पहलेका शरीर दुबारा टीका लगानेके बाद

फूट निकला और सारे शरीरमें यह रोग फैल गया । रात्रिमें उसे दस्ताने पहना दिये जाते थे और हाथ बांध दिये जाते थे, जिससे कि कहीं वह फुन्सियोंको खुरच न डाले । वह अपने पाजामेकी और कोटकी जेबोंपर जरा जरा देरमें खूब खुजाता था । इस भयंकर रोगके कारण वह किसीसे भी मिल नहीं सकता था और अकेला पड़ा पड़ा पुस्तकें पढ़कर अपना समय बिताता था, जिससे उसकी तबियत और भी गिरती जाती थी । जैसे जैसे उसकी उम्र बढ़ने लगी, उसका रोग भी साथ साथ बढ़ने लगा । वह हतोत्साह हो गया था और अपने जीवनसे निराश होकर सदैव मृत्युकी बाट जोहता रहता था ।

द्वैतयोगसे उसने प्राचीन प्राकृतिक चिकित्साका नाम सुना और फिर मेरी पुस्तक नवीन चिकित्सा-विज्ञान देखी । मेरी सम्मतिसे वह प्रति दिन दो स्नानोंको लेने लगा, और साथ ही उसने लघुपाक, मृदु और अनुत्तेजक आहार करना प्रारम्भ किया । इससे अल्पकालमें ही उसकी अवस्था सुधरने लगी और धीरे धीरे उसकी सब फुन्सियाँ अच्छी हो गईं । कुछ ही समयमें रोग—जो कि टीका लगनेसे उत्पन्न हुआ था—बिल्कुल जाता रहा ।

दूसरा रोगी छाजन (Eczema) का था । वह २४ वर्षका एक जवान आदमी था । उसके सिर और गर्दनपर छाजनका बहुत जोर था । इसको दूर करनेके लिए उसने अनेक प्रकारके मरहम तथा अन्यान्य ओषधियाँ व्यवहार कीं, किन्तु उनसे कुछ भी उपकार न हुआ । अतः एव डाक्टरोंपरसे रोगीका विश्वास उठ गया । अन्तमें वह मेरे पास आया और मेरे विशेष आदेशके अनुसार चिकित्सा करने लगा । मैंने उससे कहा कि तुम्हारे चंगे हो जानेकी आशा है । निदान करनेसे भलीभाँति विदित हो गया कि विजातीय द्रव्यका भार सामनेकी ओर है ।

कुल दिनोंमें ही उसकी बिगड़ी हुई पाचन-शक्ति तीव्र हो गई और इसके साथ ही छाजनमें भी स्पष्ट आराम मालूम होने लगा। तीसरे दिन द्रव्यका साव बन्द हो गया और कोई १६ दिनमें विस्फोटका चिह्न भी बाकी न रहा। इन दिनों रोगीकी गर्दन—जो विजातीय द्रव्यके भारसे अत्यन्त फूली हुई थी—डेढ़ इंच घट गई; दूषित द्रव्य, जो गर्दनकी मुटाईका खास कारण था, गुदों और आँतोंके द्वारा बिल्कुल बाहर निकल गया। इस रोगकी चिकित्साका विस्तृत विवरण जिसमें साईकोसिस (Sycosis) अर्थात् टोड़ीकी फुंसीका भी विवरण सम्मिलित है चतुर्थ भागमें देखिए।

हृदय-रोग और जल-रोग

Heart Disease and Dropsy

हृदय-रोगोंकी एक बड़ी संख्या है, जिनसे कि मनुष्य पीड़ित होता है। डाक्टर लोग लक्षणोंके अनुसार बहुत तरहकी चिकित्सा करते हैं। हृदयसम्बन्धी रोगोंके मुख्य दो प्रकार हैं, एक तो अंगसम्बन्धी और दूसरे तत्कालीन। अंगसम्बन्धी विकार वे हैं, जो हृदय-यंत्रके बिगाड़ तथा उसके ढक्कनोंके (Valves) बिगाड़से होते हैं। तत्कालीन विकार वे हैं, जो तत्कालीन कारणोंसे पैदा होते हैं। यदि हम पक्षपातरहित होकर हृदय-रोगके कारणोंका अनुसन्धान करें और उनको प्रकृतिके भीतर तलाश करें, तो यह पता चलेगा कि हृदयमें विजातीय द्रव्य इकट्ठा होना ही हृदय-रोगका मुख्य कारण है। इस लिए इन विकारोंको अलग अलग नामोंसे विभक्त करना निरर्थक है। रोगकी तीव्रता अर्थात् उसका वेग हृदयकी अवस्था तथा उसकी दोषोंसे युद्ध करनेकी शक्तिपर निर्भर है। उदाहरणके तौरपर यदि विजातीय द्रव्य बाई ओर अधिक है, तो रोगकी वृद्धिकी सम्भावना विशेष है और यदि दाहिनी ओर अधिक है, तो रोगकी सम्भावना उतनी नहीं है। जो हृदय बनावटमें ही दुर्बल होता

है, जिसका कारण प्रायः पैतृक होता है, वह स्वभावसे ही विजातीय द्रव्यके साथ युद्ध नहीं कर सकता।

हृदयमें विजातीय द्रव्यके मौजूद होनेपर करीब करीब सारे शरीरमें दुर्द्रव्यके लक्षण दिखाई पड़ते हैं। इस दशामें न केवल हृदयके निकट-वर्ती भागोंमें विजातीय द्रव्य विशेष होता है जो कि प्रायः मेदके रूपमें पाया जाता है बल्कि प्रायः हृदयके स्नायुओंमें भरकर रह जाता है और उन्हें इतना फुला देता है कि वे अपना काम ठीक तरहसे नहीं कर सकते। प्रत्येक रोगीमें यह आवश्यक नहीं है कि हृदय-स्नायु फूल ही जायें। स्नायविक तंतुओंमें विजातीय द्रव्यके इकठे होनेसे वे तनकर सख्त हो जाते हैं। ऐसा होनेपर उस अंगकी क्रियाशक्ति क्षीण पड़ जाती है। यह सब जानते हैं कि फोड़े आदिके कारण जब त्वचा तन जाती है, तो खिंचावके कारण सारी शारीरिक क्रियाओंमें किस प्रकार विक्षेप पड़ने लगता है। यही दशा हृदयकी भी होती है, जब कि उसमें विजातीय द्रव्य भर जाता है और जिससे उसकी प्रक्रिया अनियमित हो जाती है। फिर जब कभी हृदयको कोई विशेष परिश्रमका कार्य करना पड़ जाता है—उदाहरणके तौरपर कोई धक्का लगना अथवा किसी कठिन 'अकस्मात्' अथवा तीव्र शारीरिक परिश्रम करनेसे खूनका दौरान दिलकी ओर बढ़ जाना—तब हमें यह साफ़ तौरसे पता चल जाता है कि हृदय अपने कामके लिए उपयुक्त नहीं है। सम्भव है, इस दशामें हृदय-क्रम्प, चिन्ता, रक्तावरोध, पक्षाघात, श्वासवरोध, दमा आदिका अविर्भाव हो जाय। इन रोगोंमें प्रायः कोई वेदना नहीं होती; परन्तु कभी कभी या हमेशा तबियत गिरी हुई और उकताई हुई रहती है। ऐसा मालूम होता है, मानों कोई बाह्य वस्तु हृदयको दाब रही हो।

हृदयके ढक्कनोंकी क्रियामें गड़बड़ी भी तभी होती है, जब कि उनमें विजातीय द्रव्य भर जाता है और उनके तल इतने विषम हो जाते हैं कि द्वारको बराबर ढकनेका काम नहीं कर सकते। कभी कभी इस कारणसे भी बिगाड़ हो जाता है कि द्वारके मुखकी सतह जिसपर किवाड़ बन्द होते हैं खराब हो जाती है। दोनों अवस्थाओंका कारण एक ही है।

हृदयके नाडि-जालके विकारकी कल्पना एक नया ही ‘आविष्कार’ है, जैसा कि नाडिजाल-सम्बन्धी रोगोंके प्रकरणमें कहा गया है। किसी अंगमें तब तक रोग नहीं हो सकता, जब तक कि उसकी नाडियोंमें विकार उत्पन्न नहीं होता। यह कल्पना करना कि शरीरका कोई अङ्ग रोगग्रस्त है, किन्तु वहाँकी नाडियाँ निरोग हैं, अथवा नाडियोंको छोड़कर संपूर्ण शरीर रुग्ण है, प्रकृति और उसके नियमोंका अज्ञान प्रकट करना है। मेरे लिए तो यह विचार पुगत्तत्व जैसा हो गया है। हम जानते हैं कि हृदयकी विभिन्न व्याधियाँ अपने विभिन्न सैकड़ों नाम-रूपों और लक्षणोंके साथ एक ही मूल कारणसे उत्पन्न हुई हैं।

यदि हृदय-रोगका कारण शीघ्र दूर नहीं किया जायगा या औषधोपचार करके विषैले द्रव्य शरीरमें और अधिक भर दिये जायँगे, तो और भी अधिक बुरे रोग पैदा हो जायँगे। जिन पूर्ववर्ती रोगोंकी चिकित्सा भली भाँति नहीं की गई, उनकी अन्तिम अवस्थाका नाम ही जल-रोग है। जल-रोगमें शरीरके भीतर जो पानी हो जाता है, वह समस्त विजातीय द्रव्य ही होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर न तो साधारण शुद्ध रक्त उत्पन्न करता है और न पहले रक्तको ही शुद्ध करता है। इसका परिणाम क्या होता है? वे रस

जिनका खून बनता है विजातीय द्रव्यके प्रभावसे सड़ने लगते हैं और उनका स्वरूप और आकार बिल्कुल बदलने लगता है। अन्य किसी भी रोगमें शरीरके भीतर द्रव्यके पैदा होने, सड़ने और अन्य रासायनिक परिवर्तन होनेकी प्रक्रिया इतने साफ़ तौरसे नहीं दिखाई देती। एक बार एक जलोदरका रोगी मेरे पास आया। उसका शरीर जलसे इतना भरा हुआ था कि वह फूले हुए खड़के नलके समान प्रतीत होता था। शरीरमें जलका भीतरी दबाव इतना अधिक था कि वह टाँगोंकी त्वचामेंसे सदैव चूँता रहता था। जहाँ कहीं वह बैठ जाता था, वहाँ गीले निशान पड़ जाते थे। इस रोगीके विषयमें सबसे मुख्य बात यह थी कि वह मक्खनका व्यापारी था, इसलिए उसको प्रतिदिन नमूनेके तौरपर बहुतसा मक्खन चखना पड़ता था। अतएव उसके पेरसे निकले हुए जलमें मक्खनकी गन्ध इतनी अधिक आती थी कि उससे रोगके कारणके विषयमें संदेह नहीं रह सकता था। समय जाते उसका जठर इतना कमजोर हो गया था कि नमूनेके तौरपर उतने परिणाममें खाया हुआ मक्खन, जो कि वह बिना रोटीके खाता था, हضم न हो सकता था। इस कारण वह शनैः शनैः उसके शरीरमें बिना पचे हुए रूपमें इकट्ठा होता गया और अंतमें विजातीय द्रव्यके रूपमें परिवर्तित हो गया। वह रोगी प्रायः बाईं करबटसे सोया करता था, इसलिए उसके उसी तरफ, विशेष करके हृदयके और उसके निकटवर्ती स्थानोंमें और साधारणतः शरीरके अन्यान्य भागोंमें चर्बी बढ़ गई। इसका प्रथम दुष्परिणाम हृदय-रोगकी उत्पत्ति हुई, जो कई वर्षतक रहा। अन्तमें विजातीय द्रव्य सड़कर जलके रूपमें प्रकट हुआ।

हृदय-रोग सब अवस्थाओंको पार कर चुका था। पहली अवस्थामें उसका नाम हृदयकी धुकधुकीकी बीमारी (Palpitation) रक्खा गया है, दूसरी अवस्थामें उसका नाम हृदयका नाडि-दौर्बल्य रक्खा गया है, फिर तीसरी अवस्थामें उसका नाम हृदयमें मेद-वृद्धि हुआ और शीघ्र ही ढक्कनोंके (Valves) बिगड़नेका रोग हो गया। इसके बाद हृदय-हृदयका जलरोग उत्पन्न हो गया। वह सब प्रकारकी चिकित्साओंको करके निराश हो चुका था। अंतमें जब कि वह मेरे पास आया, तब रोग असाध्य हो गया था। उस समय उसकी अवस्था इतनी बुरी हो गई थी कि मेरे बताये उपायोंको भी वह न कर सकता था। चिकित्साके द्वारा सभी प्रकारकी ओषधियों और विषोंसे उसकी चिकित्सा की गई थी और रोग जैसे जैसे बढ़ता जाता था वैसे वैसे उसके नये नये नामकरण किये जाते थे, तथा उसके लिए भिन्न भिन्न प्रकारकी नवीन ओषधियाँ व्यवहार की जाती थीं।

शरीरमें जल इकट्ठा होनेका कारण यह होता है कि वास्ति-स्थानके मांसमें कुछ सड़न उत्पन्न हो जाती है, जिसपर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता। क्योंकि वह शनैःशनैः बढ़ती है। जब जल साँस लेनेमें कठिनता और हृदयमें बबड़ाहट उत्पन्न कर देता है, तब ही इस विकारकी ओर ध्यान दिया जाता है। जब शरीर रोगके साथ लड़ने लगता है तथा रोगी अपनी जीवनी-शक्ति लड़नेको काफी परिमाणमें एकत्रित करता है, तब ही जठर-मांसमें तीव्र सड़न पैदा होती है। यदि रोगकी दशा काफी बढ़ चुकी होती है, तो यह सड़न रोगीको इतना निर्बल बना देती है कि फिर पूर्ण आरोग्य असम्भव हो जाता है, क्योंकि रोग उसको भीतर ही भीतर क्षीण कर देता है। परन्तु यदि

रोगीमें उस समय भी यथेष्ट जीवनी-शक्ति विद्यमान होती है, जो कि रोगको परास्त करनेमें शरीरकी सहायता कर सकती है, तो प्रदाह भी शरीरसे निकाला जा सकता है। इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए अपनी संस्थामें आये हुए दो रोगियोंका उदाहरण देता हूँ।

एक बार एक रोगी बाहरसे मेरे पास आया। उसको दीर्घकालसे जलोदर था, जिसको बड़े बड़े प्रसिद्ध एलेपैथिक डाक्टर चंगा न कर सके थे। उसकी टाँगें जलकी अधिकताके कारण फूलकर दूनी मोटी हो गई थीं—और शरीरकी भी यही दशा थी। परन्तु रोगी केवल साँस लेनेमें कठिनता और टाँगोंमें भारीपनकी ही शिकायत करता था। वह अच्छे प्रकारसे चल फिर सकता था। मैंने उसके रोगको असाध्य बतलाते हुए कहा कि मेरी दृष्टिमें यह अच्छा है कि तुम मेरी चिकित्सा ही न करो। परन्तु मेरे निषेध करनेपर भी रोगीने आरोग्य-लाभकी आशासे हठात् मेरी चिकित्सा आरम्भ कर दी।

पहले कुछ सप्ताहोंमें तो उसे आशातीत लाभ हुआ। खूब पसीने और दस्तोंके द्वारा शरीरसे इतना पानी कम हो गया कि रोगीको बड़ा चैन मालूम पड़ा। यहाँ तक तो उसके शरीरसे रोगका परिणाम—पानी—ही निकल पाया था; परन्तु अब चिकित्साका परिणाम पानी इकट्ठा होनेके कारण—पर पड़ना आरम्भ हुआ। यह अन्दरकी सड़न थी, जिसकी ओर किसीका ध्यान शायद ही गया हो। इससे निवृत्ति पानेका केवल एक ही उपाय था कि मन्द सड़न तीव्रतर अवस्थामें बदलकर बाहर निकाली जाय। अब यदि शरीरमें आवश्यक जीवनी-शक्ति विद्यमान हो, तो वह विजातीय तत्त्वको—जो कि रोगका हेतु है—निकालकर रोगीको शीघ्र ही पूरी तरह चंगा बना देगी। अन्यथा विपरीत अवस्थामें शरीर भीतरकी गरमीसे नष्ट

हो जायगा । इस रोगीमें रोगने पिछला रास्ता ही पकड़ा, जिसका कि मुझे पहले ही ज्ञान हो चुका था । तीसरे सप्ताहमें ही उसकी अंदरूनी सड़न दाहिनी टाँगकी सड़नके रूपमें बदलने लगी । उभरकर वह यहाँतक बढ़ी कि पैरकी अँगुलियोंसे लेकर पिंडलीके मध्य तक एक खुला हुआ व्रण बन गया और दूसरे ही दिन उसका रंग बिल्कुल काला हो गया । उसके शरीरमें जो सड़न गुप्तरूपसे छिपी हुई थी, वह बाहर निकलने लगी और स्वभावतः रोगीको बहुत कष्ट देने लगी । चौथे सप्ताहमें काला पदार्थ खुरंटके रूपमें होकर छूट गया और जल्म आराम होने लगा । परन्तु उसके शरीरकी, जो कि अब भी बहुत स्थूल था, भीतरी गर्मी बराबर निकलती चली आ रही थी, जिससे यह पता लगता था कि उसकी भीतरी गर्मीका परिवर्तन अब भी हो रहा है । पहला परिणाम यह हुआ कि उसकी प्यास अत्यन्त बढ़ी । मेरी चिकित्सामें शामक शक्ति होते हुए भी वह सड़नको वशमें लाने और अतिशय गर्मीको दवानेमें समर्थ न हो सकी, जैसा कि रोगीकी दिनपर दिन बढ़ती हुई कमजोरीसे साफ जाहिर था । फिर शीघ्र ही स्नान करनेकी भी शक्ति न रही और रोगी उन्तीसवें दिन मूर्छित हो गया और तीसवें दिन कराल कालके गालमें समा गया । उसकी मृत्यु केवल आन्तरिक दाहकी अधिकताके कारण हुई, जैसा कि मैं उससे पहले ही कह चुका था ।

अब आगे ऐसे रोगीका वर्णन किया जाता है, जिसकी चिकित्सामें संतोषप्रद सफलता प्राप्त हुई थी । इस रोगीको भी दीर्घकालसे जलोदर था । दशा शोचनीय थी, परन्तु इतनी बात अच्छी थी कि पहले होमियोपैथिक चिकित्सा करनेके कारण उसके भीतर औषध बहुत कम मात्रामें पहुँची थी । मेरी चिकित्सा-विधिसे तीन सप्ताहमें ही उसका पानी निकल गया । चौथे सप्ताहमें उसके शरीरकी भीतरी गर्मी भड़की और

अनेक ध्यान देने योग्य लक्षण प्रकट हुए। चौथे हफ्तेके दूसरे ही दिन उसको हैजे या आँवके समान दस्त आये, जिनमें बड़ी बदबू थी। दस्तोंका तीन दिन दौर रहा। घरवालोंमेंसे किसीकी भी समझमें नहीं आया कि ऐसा क्यों हुआ; क्योंकि रोगीकी खुराक बहुत थोड़ी थी। उसकी स्त्री अतिशय चिन्ताके मारे मेरे पास दौड़ी आई। मैंने उसको समझाया कि तुम्हारा पति इन दस्तोंके होनेसे ही मृत्युसे बच गया। दस्तोंके होनेसे उसके शरीरकी केवल आन्तरिक सड़न ही न निकल गई, बल्कि उसका कारण भी दूर हो गया; अर्थात् वह विजातीय द्रव्य जो कि वरसोंसे उसके शरीरमें जमा हो रहा था, निकल गया। इन दस्तोंसे रोगी अत्यन्त कृश और दुर्बल हो गया था, परन्तु फिर शीघ्र ही दिनों दिन अच्छा होने लगा। आज वह बिलकुल वैसा ही तन्दुरुस्त है जैसा कि २० वर्ष पहले था और फिर उसके शरीरमें कभी कोई पानीका चिह्न प्रकट न हुआ। भाग्यवश इस रोगीका शरीर सड़नकी मन्दसे तीव्र रूपमें होनेकी प्रक्रियाको सहन करनेमें समर्थ ठहरा।

वास्तवमें जलोदर रोग तभी तक साध्य है, जबतक कि रोगी मेरे नियमोंका पूर्ण रूपसे पालन करता रहे और जिन अंगोंमें जलोदरका प्रभाव हो, वे बिना किसी रुकावटके अच्छी तरह पसीज सकें। तभी यह सम्भव हो सकता है कि जल तथा अन्य प्रकारका दूषित द्रव्य बाहर निकाला जा सके और हाज्मा ठीक हो सके। जब जीवनी-शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि वह दूषित द्रव्यको किसी प्रकार भी शरीरसे नहीं निकाल सकती, तब यह रोग असाध्य हो जाता है। उस हालतमें पाचन-शक्तिका स्थायी रूपसे सुधरना असम्भव हो जाता है।

अब मैं यहाँ फिर अपनी नवीन निदान-विधि, अर्थात् मुखाकृति-विज्ञानकी ओर आप लोगोंका ध्यान खींचना चाहता हूँ। इसके द्वारा

जलोदर रोगकी उत्पत्ति वर्षों पहले जान ली जा सकती है। इस निदानके होते हुए हमको यह मज़बूरी नहीं है कि रोगके असाध्य होनेसे पहले हम इलाज ही न कर सकें। हम इलाजको फौरन उसी समय शुरू कर सकते हैं जब कि रोग बिल्कुल सुखसाध्य अवस्थामें होता है।

उपयुक्त कथनकी सचाई केवल प्रत्यक्षद्वारा ही प्रमाणित हो सकती है। इसलिए मैं आपको एक ऐसे रोगीका वृत्त सुनाता हूँ, जिसे हृदय-रोग, जलोदर और कुष्ठरोग एक साथ थे।

जावा देशके अन्तर्गत बेटेविया नगरमें एक सभ्रान्त पुरुष २४ वर्षसे निर्यातका व्यवसाय करता था और उस समय जैसा कि उसने कहा था उसका स्वास्थ्य संतोषप्रद था। किन्तु कभी कभी उसे नेत्र-पीड़ा, टाँगोंमें व्रण, और ज्वर आदि विकार हो जाते थे। इन लक्षणोंसे यह माहूम हो सकता है कि वह पुरुष आरोग्य नहीं था, बल्कि उसके शरीरमें विजातीय द्रव्य अच्छी तरह भरा हुआ था। विजातीय द्रव्य प्रथम उसके शरीरके एक अङ्गमें इकट्ठा हुआ, फिर दूसरे अङ्गमें और गरम देशकी जल-वायुके कारण शीघ्र ही उद्वेगके प्राप्त हो गया। उसकी व्याधिने तीव्ररूप धारण कर लिया। हमारे कथनकी सत्यता उसके बादमें हुए लक्षणोंसे भलीभाँति साबित हो जाती है। नवम्बर सन् १८७९ ई० में उसके सिरके पीछे बायें कानके करीब कुछ बरम पैदा हो गया, जो विषैली ओषधियोंके प्रभावसे शरीरके भीतर ही दबा दिया गया। किन्तु कुछ दिनों बाद ही वह दूसरा रूप धारण करके प्रकट हुआ। उसके हाथकी एक अँगुली सूज गई और पक गई। पकनेपर उस अँगुलीकी हड्डीका एक हिस्सा भी निकाल दिया गया।

अँगुली आराम होने भी न पाई थी कि आँतोंमेंसे बहुतसा खून गिरने लगा, जिससे यह पता चलता था कि उसको खूनी बन्नासीर हो गई है। इसके पश्चात् बायें पैरमें एक बहता हुआ व्रण हो गया, जो कि बहुत दिनों तक बहता रहा।

इसके अतिरिक्त रोगाके हाथ पाँव ठंडे रहने, ठंडा पसीना आने और अक्सर ह्रारत सी हो आनेकी शिकायत रहती थी। इन सब लक्षणोंसे अनुमान किया जा सकता है कि रोगकी जड़ गहरी थी। फरवरी सन् १८८२ में उसको पहली सब दफाओंसे अधिक प्रबल ज्वर आया, जो कई दिनोंतक बड़े वेगसे चढ़ा रहा, यहाँ तक कि उसके चिकित्सक-ने, जो कि उसको कुष्ठका रोगी समझता था, उसे जल्दीसे योरपकी यात्रा करनेकी सलाह दी। तब १३ अप्रैल सन् १८८२ ई० को वह बेटेवियासे चल पड़ा। योरप पहुँचकर उसने वेसिल नगरके प्रोफ़ेसर जे० से सलाह ली। उन्होंने रुधिर-विकारका निदान कर उसे डाक्टर एच० के पास उत्तरी बैवेरियाके बेड क्रानकैन हॉल (Bed Kranken Heel) स्थानमें जानेकी सम्मति दी। उस डाक्टरकी चिकित्सा करनेसे रोगीकी दाहिनी बाँहपर एक लाल दाग पड़ गया, जो ' कारोसिव सबलीमेट ' आदिसे घिसनेपर भी नष्ट न हुआ। चिकित्साके समय रोगीको कुछ बल प्राप्त हुआ; परंतु वसन्त ऋतुमें उसके शरीरपर रक्तवर्णके और भी चकत्ते पड़ने लगे। इस तरह उसके ज्वरकी मन्द अवस्था बढ़ती गई। अप्रैल सन् १८८३ में वह जावाको लौट गया। वहाँ गरम जल-बायुसे पसीना आनेके कारण उसके लाल चकत्ते शीघ्र ही दूर हो गये। मईके महीनेमें जब वह बेटेविया पहुँचा, तो उसके हृदयमें विकार मालूम हुआ और साथ ही इतना तीव्र ज्वर हुआ कि उसको फिर डाक्टरोंकी शरण

लेनी पड़ी। यहाँतक कि उसे मई सन् १८८५ में चिकित्साके लिए बहुत दिनोंके लिए फिर योरप जाना पड़ा।

इससे यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि बेड क्रानकैन हिल नगरमें चिकित्सा करानेसे उसके रोगकी जड़ नहीं गई थी। जावामें आकर फिर उसका बीमार पड़ जाना इस बातका काफी सबूत है कि योरपके शीतल जल-वायुके कारण उसके रोगने एक विशेष गुह्य और मन्द अवस्था धारण कर ली थी, इसलिए रोगीको रोगका बोध नहीं होता था; क्योंकि उसके दौरे बहुत कम पड़ गये थे। घर पहुँचकर गरम जल-वायुमें रहनेसे रोग फिर तीव्र रूपमें आ गया। उसके चिकित्सकने जल-वायुके परिवर्तनद्वारा उत्पन्न हुई क्षणिक आरोग्यताको ही असली आरोग्यता समझ लिया।

योरप लौटकर रोगी बेडेन प्रान्तके अन्तर्गत फ्राईवर्ग नगरमें अच्छा होनेके लिए ही ठहरा और अपने गृह-चिकित्सक तथा शाही डाक्टर एन० के परामर्शसे चिकित्सा करने लगा। वसन्त ऋतुमें रोगीके शरीरपर सन् १८८२ के चकत्तोंसे भी अधिक भयंकर लाल लाल चकत्ते दिखने लगे, जिससे यह सिद्ध होता है कि रोगीके शरीरमें विजातीय द्रव्यकी मात्रा पहलेसे भी अधिक बढ़ गई थी। डाक्टरोंने 'किर्कर्टव्य-विमूढ़' होकर रोगीसे कहा कि चिकित्सा अब प्रकृतिपर ही छोड़ देना चाहिए। तब रोगी उनकी रायसे सन् १८८६ में सूलबाद रैनफेल्डन (Soolbad Rheinfelden) नगरको गया। वहाँ जानेका परिणाम और भी बुरा हुआ। रोग धीरे धीरे अधिकाधिक जीर्ण पड़ने लगा। शारीरिक कष्टोंके परिमाणमें उसका मन भी निराश रहने लगा। उस समय उसकी अवस्था ऐसी शोचनीय हो गई, जैसी कि किसीके स्वास्थ्यका बेड़ा निरुशाके तूफानमें पड़ जानेसे होती है। वह अपने असह्य

आत्मिक कष्टके कारण दुखी, निराश, शङ्कित और हतोत्साह हो गया। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या किया जा सकता है कि सन् १८८८ के अन्तमें उसकी चिकित्सा बड़े बड़े सुप्रसिद्ध चिकित्सक करके भी हार गये। वह अपने उत्साहपूर्ण यौवनसे जवाब पाकर असमय ही बुढ़ापेमें पड़कर मौतका मुँह ताकने लगा।

दैवयोगसे किसी विशेष कार्यवश उसे फिर १९ जनवरी सन् १८८९ को जावा जाना पड़ा। उसकी बीमारी इस समय इतनी मन्द हो गई थी कि उसकी त्वचाने—जिसपर तीन सालमें कभी मुश्किलसे ही पसीना आया होगा—उष्ण कटिबन्धके उग्र सूर्यके नीचे भी अपना काम करना बिल्कुल अपूर्ण रीतिसे शुरू किया। बेटेविया पहुँचनेपर रोगने तीव्र रूप धारण कर लिया। हृदयका पुराना रोग और भी अधिक वेगके साथ फिर प्रकट हुआ और उसके साथी ज्वरने रोगीको देखते देखते क्षीण कर दिया। उसकी टाँगोंमें पानी आ गया। बेटेवियावाले डाक्टरोंने उसे कुष्ठ रोग बताया। रोगीके पिछली बार योरप जानेपर वहाँके कुष्ठ-चिकित्सकोंने उसके रुधिरमें कुष्ठके जीवाणु और भी अधिक आवृत कर दिये थे। इसलिए बेटेवियाके डाक्टरोंने छूतके द्वारा कहीं कुष्ठ रोगकी वृद्धि न हो जाय, इस भयसे रोगीको वहाँसे चले जानेकी सम्मति दी। नहीं तो कोढ़ीखानेमें बन्द होकर उसका बाहरसे सम्बन्ध छुड़ा देनेकी भी राय दी। इन बातोंको सोचकर वह १९ दिसम्बर सन् १८८९ को फिर योरपके लिए रवाना हो गया। उसके साथी यह अनुमान कर रहे थे कि वह जेनेवा तक शायद ही जीवित पहुँच सकेगा; परन्तु समुद्रकी ठंडी हवा लगनेसे उसकी जीवनी-शक्ति प्रदीप्त हो गई और वह सकुशल योरप

पहुँच गया। वहाँ पहुँचनेपर उसकी दशा तीव्रसे फिर मन्द होने लगी और उस समय फ्राईबर्गके चिकित्सकोंने उसको सर्वथा असाध्य कह दिया।

ऐसी दयनीय परिस्थितिमें रोगीने अपने किसी लिपजिगनिवासी मित्रसे मेरी चिकित्साकी चर्चा सुनी। उसे सुनकर रोगी २० मार्च सन् १८९० को चार दिन पीछे लिपजिगमें आ गया और ४ दिनके बाद बड़े नैराश्यके साथ उसने मेरी चिकित्सा आरम्भ कर दी।

यह रोगी मेरी चिकित्सा-विधिकी सत्यताका एक उत्कृष्ट प्रमाण है और मेरे ‘मुखाकृति-विज्ञान’ नामक निदानकी पुष्टि करता है। सौभाग्यसे मैंने रोगीका एक फोटो चिकित्सा शुरू करनेसे पहले और दूसरा फोटो बादमें ले लिया था। उसका स्वरूप विजातीय द्रव्यके कारण बिल्कुल बदल गया था। गर्दन छोटी पड़ गई थी और उसमें घेंघा बन



पहला चित्र



दूसरा चित्र

गया था। गर्दन बिल्कुल धड़में धँस गई थी और दोनोंके बीचमें कोई फर्क ही नहीं रह गया था। माथेपर एक इंच ऊँची मांसकी गद्दी

बन गई थी । आँखोंका घेरा फूल गया था । यही हाल सारे सिरका था; जिससे माछूम पड़ता था कि विजातीय द्रव्यका बहुत अधिक भार है । दाहिनी पिंडलीमें सड़न आ गई थी । पैर और घुटनेमें पानी भरा था, जो कि पिंडलीसे ऊपर तक चला गया था और जिसके कारण टाँग ठीक काम नहीं देती थी । धड़में भी विजातीय द्रव्यका भार सिर और गर्दनके समान अनुपातमें था । पाचन-शक्ति अत्यन्त विकृत हो गई थी । गुर्दे और आँतें दोनों ही अपना काम ठीक तौरसे नहीं करती थीं । दिलकी खराबीके कारण रात दिन चैनका नाम न था । हरदम बेचैनी और भारीपन रहता था । हाथ पैर सदैव बर्फ़के समान शीतल रहते थे और उनकी कान्ति नील श्याम हो गई थी ।

मेरी चिकित्सा आरम्भ करते ही उसको लाभ प्रतीत होने लगा । पाचन-शक्ति सुधरने लगी । पहले उसको बस्तिद्वारा शौच कराया जाता था, किन्तु तीसरे ही दिनसे आँतों और गुर्दोंकी शक्ति प्रबल हो जानेसे उसको यथासमय सुखपूर्वक शौच आने लगा । मूत्र जो कि पहले हल्का और स्वच्छ था, अब गँदला और मलिन आने लगा, जिससे यह साफ़ जाना जाता था कि उसमें विकृत पदार्थका कुछ हिस्सा मिलकर निकलने लगा है । चिकित्साके दूसरे दिनसे ही उसे कुछ शान्ति और प्रसन्नता प्रतीत होने लगी; परन्तु साथ ही उस परिश्रमके चिह्न भी कुछ माछूम पड़ते थे जो कि शरीरको विजातीय द्रव्यके बाहर निकालनेके कारण करना पड़ता था । खूब पसीना आनेसे भी अधिक मदद मिली । उसकी सूरत शक्ल भी बहुत जल्द बदलने लगी, जिसका असली कारण यह था कि उसका विजातीय द्रव्य बहुत तेज़ीसे बाहर निकल रहा था ।

यह देखने योग्य बात थी कि उसकी पिंडलीमें सड़नका हिस्सा— जो पड़के रूपमें था—किस तरह लुप्त होने लगा। पहले वह काले और भूरे रंगका था, किन्तु फिर नीलवर्ण मिश्रित लालवर्णका चार इंच चौड़ा हो गया था। वह जल रूपमें परिणत हुआ और साथ ही साथ टाँगें मोटी होने लगीं। दाहिनी टाँग तो अंतमें बहुत ही मोटी हो गई थी। उस समय विजातीय द्रव्यके उद्विग्न और परिवर्तित होनेकी इस शक्तिको प्रकट करनेवाली क्रिया ध्यान देने योग्य थी।

यह शोधन-क्रिया रोगीके लिए बहुत कठिन थी, परन्तु उसकी जीवनी-शक्तिने साथ दिया। यद्यपि वह अच्छे प्रकारसे चलने फिरने योग्य नहीं था, किन्तु मेरी स्नान-विधिके बलसे उन अंगोंमें खूब पसीना आने लगा, जिनमें पानी उतर रहा था। इस बातसे साबित होता है कि शरीरमें रोगके विरुद्ध प्रक्रिया करनेकी शक्ति मौजूद थी। चार हफ्तेमें ही उसके शरीरका समस्त जल निकल गया। इसके बाद रोगी शीघ्र आरोग्य होने लगा। उसके भीतर प्रतिदिन नव-जीवनका सञ्चार होने लगा और हल्कापन आने लगा। चार मास चिकित्सा करनेसे—जिसमें कि कभी कभी लुरे लक्षण प्रकट हुआ करते थे—शोधन-क्रिया भी होने लगी और रोगीकी आकृतियोंमें इतना परिवर्तन हो गया कि वह पहचाना नहीं जाता था। हृदय-रोग और जल-रोग अन्तर्धान हो गये—दर असलमें अच्छे हो गये। उसके दुःखका दृश्य सुखमें बदल गया। चित्तमें उमंग आ गई।

बेटेवियामें रोगीकी इस आरोग्यताकी बातको किसीने सच न माना और उसको यह लिख मारा कि “जबतक यह प्रमाणित न हो जाय कि तुम्हारे शरीरमेंसे अब कुष्ठका अंश बिल्कुल जाता रहा है, तबतक तुम्हें जावा देशमें न आने दिया जायगा।” अतएव रोगीने हेमबर्गके

उन बड़े बड़े प्रसिद्ध कुष्ठ-चिकित्सा-विशारद डाक्टरोंसे फिर अपनी परीक्षा कराई जो कि पहले इलाज कर चुके थे । चार सप्ताह तक बराबर परीक्षा करनेके बाद डाक्टरोंने रोगीको कुष्ठके जीवाणुओंसे सर्वथा मुक्त बतलाया । तब वह मनुष्य सन् १८९२ में जावाको लौट गया । वह अवतक जीवित और तन्दुरुस्त है । उसके बाद वह कभी अपने किसी पुराने रोगका शिकार नहीं हुआ ।

यह रोगी इस बातका उत्कृष्ट उदाहरण है कि डाकटरी चिकित्सा और निदान-विधि बिल्कुल थोथी है । यह रोगी बड़े बड़े माननीय डाक्टरोंका छोड़ा हुआ था, परन्तु मेरे हाथसे मृत्युके पंजेसे बचकर अपने कुटुम्बियों और मित्रोंमें फिर जा मिला ।

पृष्ठवंशका रोग, रीढ़के बाँसका नष्ट होना, अर्श रोग

बहुत समय तक मन्द व्याधियोंके आघात होते रहनेके बाद प्रायः यह होता है कि मेरुदंड यानी रीढ़का कोई रोग खड़ा हो जाता है । इस रोगका झुकाव मुखाकृति-विज्ञानके द्वारा वर्षों पहले जाना जा सकता है और नाडि-जालमें विजातीय द्रव्यका भार उत्पन्न करनेवाले हेतु भी जाने जा सकते हैं । स्नायु-जालमें विकार खड़ा होनेसे रोगीको—वह चाहे विवाहित हो या न हो—वीर्यपात स्वप्नमें अथवा वैसे ही हो जाया करता है । स्वप्न-दोष या वीर्यपातके होनेसे यह पता चलता है कि नाड़ियोंमें विशेषकर नाड़ियोंके द्रव्यमें (Spiral marrow) और अनिच्छावर्ती नाडि-जालमें मन्द मन्द जलन होती है, जो कि पृष्ठवंशमें विजातीय द्रव्यके विशेष भर जानेसे पैदा हुआ करती है । जलन

जैसे जैसे बढ़ती जाती है, स्नायुओंमें रोगके प्रतिकारकी शक्ति भी घटती जाती है, जिससे रोगीके सब अङ्ग अवशवर्ती होने लगते हैं। सबसे पहले टाँगोंपर काबू नहीं रहता है। वीर्य-पतनके साथ साथ और भी अनेक उपद्रव खड़े हो जाते हैं। बहुतेरोंके कटिभाग या पुठोंमें एक खास तरहकी जकड़न माद्धम पड़ा करती है, जो कि विजातीय द्रव्यके संग्रहके भेदसे अनेक प्रकारकी होती है। कहीं कहीं पर इस जकड़नके प्रदेशमें जो कि कमरबन्दके समान माद्धम होता है, ठंडसी माद्धम होती है। रोगकी बढ़ी हुई दशामें कभी कभी हूलें या लगातार दर्द अथवा वातशूल भी माद्धम पड़ता है, जो कि बड़ा कष्टदायक होता है।

मेरुदण्डके रोग अनेक प्रकारके होते हैं। विजातीय द्रव्यका समान भार होनेपर भी—जैसा कि प्रायः देखा जाता है—अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उदाहरणके लिए सेंट वाइटस डान्स (St. Vitus Dance) नामक रोग ले लीजिए।

रोगके परिपक्व अथवा अंतिम अवस्थामें पहुँच जाने पर नाडि-जालको अच्छा करना संभव नहीं रहता है। ऐसी दशामें रोगीका केवल इतना ही उपकार हो सकता है कि उसका दर्द दूर कर दिया जाय।

हम रोगको पूर्ण अवस्थामें पहुँचनेके पहले ही चिकित्सा प्रारंभ कर सकते हैं। मेरुदण्डके रोग अपनी प्रारंभिक अवस्था यानी शुरूमें बिल्कुल एक सामान्य विकारके समान सुखसाध्य होते हैं; परन्तु जब वे अपना उग्र रूप धारण कर लेते हैं, और खासकर जब कि उनपर दवाओंकी दस्तन्दाजी हो जाती है, तब वे अत्यन्त कष्टसाध्य हो जाते हैं। जिस घरपर आगने पूरा अधिकार जमा लिया होता है, उस घरका बचना असम्भव हो जाता है।

मेरे यहाँ मेरुदण्डके अनेक रोगी आये, किन्तु उन सबको आराम न हो सका। किसीको रोगकी कमीपर और किसीको तकलीफकी कमीपर ही सन्तोष धारण करना पड़ा। पिछले रोगियोंमेंसे अधिकांश वे ही थे, जिन्होंने औषध सेवन करते करते अपने शरीरको इतना निःशक्त कर दिया था कि वह अच्छा होनेके योग्य ही न रहा था। इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए आगे उन रोगियोंका वर्णन किया जाता है, जिन्होंने मेरी चिकित्सा की थी।

एक युवक मेरुदण्डके रोगसे महादुखी था। उसकी दोनों टाँगें पूरे पक्षाघातसे निकम्मी हो चुकी थीं। एक वर्षसे अधिक दिनों तक वह अनेक विशेषज्ञ डाक्टरोंके चक्करमें पड़ा रहा, परन्तु कुछ भी लाभ न हुआ। वह न टाँगोंको हिला सकता था और न खड़ा हो सकता था। वह २४ वर्षका पढ़ा लाचार होकर केवल शय्यापर पड़ा पड़ा अपना समय काटता था, या कभी कोई उसको गाड़ीमें डालकर ले जाता था। उसका हाज्मा अधिकसे अधिक खराब था। बिना किसी उपचारके दस्त होता ही नहीं था। अनजानमें ही पेशाब हो जाती थी। कुर्सीपर बैठते समय दूसरे मनुष्यको उसकी टाँगोंको ठीक करके रखना पड़ता था।

मेरी चिकित्सा आरम्भ करनेपर उसको प्रतिदिन चार बार शीतल-स्नान कराये जाते थे और सूखे तथा प्राकृतिक पदार्थोंका आहार दिया जाता था। पाचन-शक्ति मन्द होनेके कारण उसे पहले महीनेमें थोड़ा लाभ हुआ, परन्तु दूसरे महीनेमें उसकी अवस्थामें कम, पर निश्चित उन्नति हुई। अगले दो मासमें रोगीका मूत्र रुकने लगा और टाँगोंमें धीरे धीरे सरकने तथा बिना किसी सहारेके थोड़ी देर खड़े रहनेकी भी शक्ति आ गई। नौ मासकी चिकित्सासे वह बिना किसी सहायताके अपने कमरेमें कुछ देर टहलने भी लगा। फिर दो मासमें रोगी पूर्ण स्वस्थ

होकर अच्छे प्रकारसे चलने फिरने लगा। रीढ़का वह रोग भी, जो कि विजातीय द्रव्य-संग्रह होनेकी भीतरी गरमीके कारण हुआ था और इन सब कष्टोंका हेतु था, बिल्कुल जाता रहा।

इस उदाहरणसे यह साफ़ जाहिर होता है कि कमरकी तरफका भार दूर करना कितना दुस्साध्य है। रोगीका नीरोग होना तो दूर रहा, चिकित्सासे पूर्व मैं स्वयं भी यह कल्पना नहीं कर सकता था कि उसे कुछ लाभ ही होगा। क्योंकि उसका हाज्मा बुरी तरह खराब था और चिकित्साके आरम्भमें उसके सुधरनेका कोई लक्षण प्रतीत नहीं होता था। रोगीके आरोग्य होनेका एकमात्र कारण उसकी असाधारण दृढ़ता थी। यदि रोगीने मेरी चिकित्सा कुछ पहले ही आरम्भ कर दी होती, तो उसकी टाँगोंकी ऐसी दुर्दशा न हुई होती और सहजमें ही आरोग्यता प्राप्त हो जाती।

दूसरी घटना इस प्रकार है। एक सज्जन कई वर्षोंसे मेरुदण्डका क्षय होनेके कारण बड़े कष्टमें थे। उनकी अवस्था लगभग ४० वर्षकी थी। उन्हें किसी भी चिकित्सासे कुछ फायदा नहीं होता था। उनके शरीरमें विकृत पदार्थका विशेष भार था, इससे उनको चलने फिरनेमें बहुत कष्ट होता था। अक्सर कमरमें सुई चुभाने और चीरनेके समान वेदना होती थी, नींद भी नहीं आती थी। पाचन-शक्ति अत्यन्त मन्द हो गई थी, और इस तरह उनके स्वास्थ्यकी दशा बहुत ही खराब थी। मेरी चिकित्सासे शुरूके महीनेमें ही उनको लाभ होने लगा। भयंकर पीड़ाका होना, नींदका न आना, आदि उपद्रव शनैः शनैः दूर होने लगे। पाचन-शक्ति भी सुधरने लगी; किन्तु टाँगोंमें निर्बलता बनी रही, इस कारण रोगीकी आरोग्यतारूपी आशा-लता मुझी गई। वह नींद न आने और कमरकी वेदनाको अलहदा अलहदा रोग समझता था, जिसका मेरु-

दण्डके रोगसे मानो कुछ सम्बन्ध ही न था। उसे मेरी पथ्यविधिका पालन बहुत कठिन मादम पड़ा, इस लिए १० महीने बाद उसने चिकित्सा छोड़ दी। इसके बाद उसके स्वास्थ्यकी बहुत खराब और निराशाजनक स्थिति हो गई।

रोगीकी दशा बहुत कुछ सुधर गई थी। रोगकी वृद्धि होना बंद हो गया था और इतना ही नहीं बल्कि अन्य कष्टकारक चिह्न भी अदृश्य हो गये थे। रोगीको चाहिए था कि इतनेको ही वह बड़ी भारी सफलता समझता और उसे दृढ़तासे जारी रखता। क्रमशः सब शिकायतें जाती रहतीं। और रोगियोंका वृत्तान्त चतुर्थभागमें दी हुई रिपोर्टोंमें देखिए।

अर्शरोग—अर्श या बवासीरके अंकुरोंकी (मस्सोंकी) उत्पत्ति तभी होती है जब कि रीढ़में कोई रोग हो और उससे सम्बन्ध रखनेवाले दुर्द्रव्यका कमरमें अधिक भार हो। ये अर्शकुर इस बातको प्रकट करते हैं कि व्याधि दीर्घकालसे मन्द अवस्थामें ठहरी हुई है, जिसका कारण और रोगोंकी तरह कोष्ठका तीव्र प्रदाह है। वास्तवमें ऐसे रोगियोंकी पाचन-शक्ति अत्यन्त अनियमित हुआ करती है।

पेड़में पिडिकाओंकी उत्पत्ति होनेसे निश्चय होता है कि विजातीय द्रव्यका अधिक भार है और शरीरकी जीवनी-शक्ति तथा रोगका प्रतीकार करनेवाली शोधन-शक्ति अत्यन्त क्षीण है। इस बातको मैं अपने अनुभवमें आये हुए एक दृष्टान्तसे अच्छी तरह समझानेकी चेष्टा करूँगा।

एक १७ वर्षका लड़का—जिसका वचनसे ही पाचन बहुत बिगड़ा हुआ था—मुझसे चिकित्सा कराने आया। उसने कहा कि ११ वर्षकी अवस्थामें मेरे अर्शके अंकुरोंकी उत्पत्ति और आँतोंसे खूनका जाना

शुरू हुआ, जिससे मुझे बड़ा कष्ट होता था । १५ वें वर्षमें अर्शके अंकुर शनैः शनैः अच्छे हो गये, किन्तु इसके बाद सिरमें भयंकर पीड़ा शुरू हो गई, जो किसी भी चिकित्सासे शान्त न होती थी । इसके पश्चात् सिरके पिछले हिस्सेमें अखरोट(hazelnut) के समान बड़ी बड़ी गौंठें भी निकल आईं, जिनसे समूचे सिरकी आकृति बदलने लगी और वह बहुत बड़ा हो गया । उसके सिर और शरीरके अनुपातमें बड़ा अन्तर पड़ने लगा । उसे देखकर प्रत्येक मनुष्य यह अनुमान करता था कि इस रोगीके सिरके चारों ओर कोई अनावश्यक पदार्थ अवश्य भर गया है, जो कि वहाँ नहीं होना चाहिए था और न पहले था ही । परन्तु यह कोई नहीं जानता था कि बवासीरके मस्सोंका गुच्छा—जो कि अब बहुत कठिन और घनीभूत हो गया था—सिरमें घुसकर क्षय-ग्रन्थियोंके रूपमें प्रकट हुआ है । जो मेरे मुखाकृति—विज्ञानसे परिचित है, वह इन प्राकृतिक लक्षणोंको तत्काल समझ सकता था । सिरकी असह्य पीड़ा ही इस बातका काफी सबूत थी कि उसका कोई बड़ा गहरा कारण है; परन्तु बदकिस्मतीसे इधर किसीका ध्यान नहीं गया । उसकी माने देखा कि मेरे बेटेमें उसी रोगके लक्षण मादृम होते हैं, जिससे कि उसके पिताकी ३९ वर्षकी अवस्थामें मृत्यु हुई थी । रोगीपर जो जो चिकित्साएँ आजमाई गईं सब व्यर्थ गईं और रोग शनैः शनैः बढ़ता गया । लड़क सिरकी पीड़ाके कारण बिलकुल असमर्थ हो गया और उसे प्रायः मूर्च्छाके दौरों भी आने लगे । ऐसी शोचनीय अवस्थामें उसकी माता उसे मेरे पास लाई । उसकी पीठमें विजातीय द्रव्यका काफी भार था, इसलिए किसी न किसी दिन उसके दिमागमें सूजन पैदा हो जानेका खटका था । मैंने उसको पथ्यविधिके कठिन नियम, ठंडे स्नान और काफी परिश्रम करना बतलाया, जिनका सौभाग्यसे उसने ठीक तरह पालन किया और उनसे उसे

फायदा पहुँचा। पहले सप्ताहमें ही उसके सिर-दर्दके दौरे दूर हो गये; सिर्फ क्षयकी ग्रन्थियोंके लय होते समय कभी कभी सिरमें सामान्य पीड़ा होती थी। पाचन और भूखमें भी संतोषजनक सुधार हुआ। दूसरे महीनेके अन्तमें सिरकी ग्रन्थियाँ शनैः शनैः घटने लगीं और उनके घटनेकी स्पष्ट अनुभूति होने लगी। सिरके भीतरी भागकी ग्रन्थियाँ भी साथ ही साथ घटने लगीं और सिर भी छोटा होने लगा। दो मासमें ग्रन्थियाँ और भी घट गईं और छह महीनेमें उनका कोई चिह्न शेष न रहा।

किन्तु अकस्मात् फिर फर्क हुआ और हालत बदतर मालूम हुई। यह देखकर उसकी माताने मुझसे कहा कि अर्शकी पीड़ा, जो वर्षों पहले जाती रही थी, अब फिर भयंकर रूपमें प्रकट हुई है। उसे मैंने समझाया कि जो क्षयकी ग्रन्थियाँ सिरमें हो गई थीं, वे ही चिकित्साके प्रभावसे लौटकर अर्शके अंकुरोंके रूपमें प्रकट हुई हैं। विकारके कारण ही सिरमें ग्रन्थियाँ उत्पन्न हुई थीं। इस अवस्थाके उपस्थित होनेसे ही अब रोगी मस्तिष्कके क्षय-रोगसे सर्वथा मुक्त हो गया है। अब आवश्यक है कि उसको इसी रीतिसे अर्शरोगसे भी मुक्त किया जाय, जो कि मस्तिष्कके क्षयकी पहली अवस्था थी। इस तरह समझानेसे रोगीकी माताका संशय दूर हुआ और उसने नियमित रूपसे बड़े आनन्दके साथ चिकित्सा जारी रखी। एक वर्षके बाद अर्शरोग भी निश्चय हो गया और रोगी पूर्ण रीतिसे आरोग्य हो गया।

आरोग्यताकी और रिपोर्टें चौथे भागमें देखिए।

अपस्मार अर्थात् मिर्गी

Epibptic Fits Agoraphobia

रोगोंको दीर्घकाल तक औषधद्वारा शरीरमें दबाते रहनेसे, अथवा पितृपरम्परागत रोगोंसे विशेषकर पिताकी युवावस्थामें किये हुए उपद्रवोंसे अपस्मार अर्थात् मिर्गी रोग प्रादुर्भूत होता है। जब जननेन्द्रियसम्बन्धी रोगोंमें औषधद्वारा विजातीय द्रव्यको शरीरमें दबा दिया जाता है, तब वह माता या पिताके देहमें संचित हो जाता है। यही दुर्द्रव्य गर्भसे बालकके शरीरमें जाकर अपस्मारके दौरोंकी नींव या बुनियाद बन जाता है।

मैंने बहुसंख्य अपस्मार-रोगियोंकी चिकित्सा करके आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। मैं इस बातको अनेक बार देख चुका हूँ कि अपस्मारका दौरा आरम्भमें आमाशयमें सड़नको प्राप्त होनेवाले विजातीय द्रव्यके अकस्मात् उफानके सिवाय और कुछ नहीं है। बहुतसे रोगियोंमें यह उफान पहले नीचेको—टाँगोंमें—जाता है, फिर वहाँसे ऊपरको जानेके लिए जोर करता है। इस उफानके एकाएक उठ बैठनेसे बहुतसे रोगी कई बार चक्कर खाकर गिर जाते हैं और बहुतसे जैसे ही मस्तिष्ककी ओर उफान उठता है, वैसे ही बेहोश हो जाते हैं और जमीनपर गिर पड़ते हैं।

इस प्रक्रियाकी उपमा उस ज्वालामुखीके फटनेसे दी जा सकती है, जिसमें कि भूगर्भकी उन्मुक्त वायु और अन्य द्रव्य एक साथ फूट निकलते हैं। इस उद्रेकके बाद कुछ समयके लिए शान्ति आ जाती है और वह तब तक रहती है जबतक कि पृथ्वीके

अंदर पदार्थोंके जलने, तथा विश्लिष्ट और संश्लिष्ट होनेके कारण पुनः खिंचाव उत्पन्न नहीं हो जाता। बिल्कुल यही प्रक्रिया मिर्गीके दौरोंमें होता है। पेटमें विजातीय द्रव्य इकट्ठा हो जाता है और उसमें निरन्तर मंद मंद उद्वेग होता रहता है, जिससे वायु उत्पन्न होती है और तनाव पैदा कर देती है। विकृत पदार्थके रहनेका स्थान यहाँ कम है, इस लिए तनाव लगातार बढ़ता जाता है और उसके साथ ही सड़नका कार्य भी बढ़ता जाता है। अन्तमें उद्रेक हो उठता है जिससे दौरे होने लगते हैं और दिमागपर जोर पड़नेके कारण वहाँकी प्रक्रिया बंद पड़ जाती है जिससे मनुष्य बेहोश हो जाता है। जब कि उफान और उसके साथ ही साथ खिंचाव शांत होता है, तब रोगीको होश आने लगता है, परन्तु उसका सारा शरीर भयानक प्रहारके कारण थक जाता है।

यह बड़े खेदकी बात है कि डाक्टर लोग मिर्गीका इलाज करनेमें असमर्थ हैं और विशेष तौरसे इसलिए कि वे इसका स्वभाव अभी तक नहीं पहिचानते हैं। वे इस रोगको अधिकांशमें एक प्रकारका स्नायु-विकार समझते हैं। इस बातको वे समझते ही नहीं हैं कि यह असाध्य और विचित्र बीमारी (जैसा कि वे इसको बतलाते हैं) विशेषकर उन्हींकी करतूत है—उनके भ्रान्त विज्ञानकी गलत सलाहका और पोटैसियम ब्रोमाइड आदि विषैली तथा हानिकारक ओषधियोंका परिणाम है।

अपस्मार-रोगकी चिकित्सामें कितना समय लगता है, यह इस बातपर अवलम्बित है कि शरीरमें विजातीय द्रव्य कितना भरा हुआ है। किसी किसीको तो चिकित्सा आरम्भ होते ही आराम होने लगता है और किसीको चिकित्साके प्रारंभमें रोग बढ़ता नज़र आता है। ये अस्थायी लक्षण प्रायः शरीरमें चादर रहनेवाले परिवर्तनके कारण

हुआ करते हैं; किन्तु जब विकृत पदार्थ निकल जाता है, तब ये लक्षण शनैः शनैः अथवा एकदम नष्ट हो जाते हैं। प्रतिदिन निर्बल पड़ते पड़ते वे अन्तमें केवल चित्तभ्रम या दिमागके कुछ चक्करके रूपमें शेष रह जाते हैं, और वे भी नियमपूर्वक कुछ दिनों तक चिकित्सा करनेसे जाते रहते हैं। इसलिए सलाहके लिए यह अच्छा है कि रोगीकी चिकित्साके लिए अन्दाजन कुछ समय निर्दिष्ट कर दिया जाय। मेरा मुखाकृति-विज्ञान इस बातके लिए एक उत्तम साधन है। चिकित्सा-कालमें रोगका उभाड़ कब होगा, यह उसके द्वारा बहुत पहले ही जान लिया सकता है।

ऊपरके कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अपस्मारके रोगीकी साध्यता रोगीके शरीरमें स्थित विजातीय द्रव्यकी अवस्थापर ही निर्भर है। मेरी चिकित्साके करनेसे करीब करीब सभी रोगियोंको आरोग्य लाभ हुआ है। किन्तु कुछ चिरकालके रोगियोंको—रोगके अत्यन्त पुराने हो जाने, या ब्रोमाइड आदि तीक्ष्ण ओषधियोंसे पाचन-शक्तिको विशेष हानि पहुँच जानेके कारण कष्टसे आराम होता है और कभी कभी नहीं भी होता है। इसका कारण यह है कि इस रोगमें स्नायु-जाल और मस्तिष्क ब्रोमाइड सरीखी दवाओंसे इतने विकृत और नष्ट हो जाते हैं कि वे दुर्द्रव्यको बाहर नहीं निकाल सकते। मेरे पास ऐसे अनेक कष्टसाध्य रोगी आये हैं, जिन्हें अच्छा करनेके लिए वर्षों तक नियमानुसार स्नान कराने और पथ्य आहार सेवन करानेसे आरोग्यता प्राप्त हुई है। दौरोँके रुक जानेसे यह नहीं समझना चाहिए कि शरीरमेंसे विजातीय द्रव्य सदाके लिए निकल गया। विकृत पदार्थको बिलकुल बाहर निकाल फेंकनेके लिए और भी अधिक समयकी आवश्यकता होती है।

सन् १८८९ के नेशनल मेडिकल कमीशनकी रिपोर्टसे मालूम होता है कि सैक्सनी प्रांतके स्कूलोंमें दस हजार पीछे ७९५ अथवा १३.६ विद्यार्थियोंको अपस्मार रोग था। ऐसे दारुण रोगोंसे पीड़ित व्यक्तियोंके कल्याणके लिए मैं आशा करता हूँ कि इस नूतन चिकित्सा-तत्त्वका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके प्रसिद्ध विद्वान् और गण्यमान्य जन सर्वत्र प्रसार करेंगे।

इस विषयको उत्तम प्रकारसे समझानेके लिए नीचे एक रोगीकी चिकित्साका हाल दिया जाता है।

एक १९ वर्षकी युवती ६ वर्षसे अपस्मार रोगमें फँसी हुई थी। उसे प्रति सप्ताह कमसे कम दो दौरे हुआ करते थे। उसकी पाचन-शक्ति अत्यन्त खराब हो गई थी और उसे मासिक धर्म भी अनियमित रूपसे होता था। युवावस्था शुरू होनेके बाद एक बार भी उसे नियमसे मासिक धर्म नहीं हुआ था। कभी तो वह बिल्कुल लुप्त हो जाता था और कभी बहुत जल्द जल्द होने लगता था।

मुखाकृति-विज्ञानके द्वारा निदान करनेपर मुझे यह ज्ञात हुआ कि रोगिणी बहुत ही कोरोटिक है और उसका झुकाव क्षयकी ओर है। उसका सिर असाधारण रूपसे बड़ा था। परन्तु विजातीय पदार्थ अनुकूल स्थानपर था, जहाँसे वह शीघ्र हटाया जा सकता था। अतएव मैंने उसको आरोग्य होनेकी आशा दिलाई। परन्तु इलाजके विषयमें कहीं उसको भ्रम न हो जाय, इससे पहले ही मैंने यह साफ़ कह दिया कि सम्भव है कि शुरूमें दो सप्ताह तक दौरोंकी संख्या पहलेकी अपेक्षा बढ़ जाय, परन्तु इसके बाद वे फिर धीरे धीरे कम होते जाएँगे। मेरी प्राकृतिक विधिने मुझे इस रोगी-पर भी निराश नहीं होने दिया। परन्तु वाष्प-स्नान प्रायः अन्य अपस्मार रोगियोंकी तरह इसको भी नहीं दिये गये। तीन हफ्तेमें इसके दौरे बिल्कुल जाते रहे।

जो बात मैंने पहले अनुमानसे ही जान ली थी चिकित्सा करनेपर वही सामने आई। आरम्भमें तो उसे दो दो तीन तीन या इससे भी अधिक दौरे आये, किन्तु दो सप्ताहमें ही वे केवल सिरके घूमने और मूच्छा आनेके रूपमें परिवर्तित हो गये और वे भी कुछ दिनों और चिकित्सा करनेसे बिल्कुल दूर हो गये। रोगिणीको इतनी शीघ्र आरोग्यता प्राप्त होनेका कारण यह था कि भाग्यवश उसकी पाचन-शक्ति बहुत जल्द सुधर गई थी और मासिक धर्म भी शीघ्र ही नियमितरूपसे होने लगा था। इस रोगमें बहुधा रोगियोंको इतनी शीघ्र सफलता प्राप्त नहीं होती। इस रोगमें इसका एक विशेष कारण यह भी था कि विकृत पदार्थने रोगिणीके शरीरमें बहुत ही अनुकूल स्थान ग्रहण किया था। अन्य अपस्मार-रोगियोंको इसी चिकित्सासे इससे दुगुने, तिगुने बल्कि और भी अधिक समयमें आरोग्यता प्राप्त हुई है। (रिपोर्ट चौथे भागमें देखिए।)

अगोरेफोबिया (Agoraphobia) उस रोगका नाम है, जिसमें मनुष्य किसी विस्तृत और खुले मैदानमें नहीं जा सकता। यह रोग भी शरीरमें विकृत पदार्थके संचित होनेसे ही उत्पन्न होता है। यह रोग उस-समय होता है जब कि शरीरकी भीतरी धारणा-शक्ति यानी तनावमें वायुमंडलके वजनको वहन करनेकी शक्ति नहीं रहती, अथवा वायुमंडल किन्हीं भीतरी अवयवोंपर विशेष वजन डालता है। इन रोगियोंको जितनी ही विस्तीर्ण और शुद्ध वायु मिलती है, उतना ही अधिक कष्ट उन्हें सहना पड़ता है। मुझे ऐसे कई रोगी मिले हैं, जो मकानोंके सहारेको छोड़कर अलग बीच रास्तेमें चलते ही गिर पड़ते थे। इसका कारण यह है कि मकानके समीपकी वायु सड़कके बाँचकी वायुकी अपेक्षा कुछ घन होती है। यह अन्तर बहुत ही थोड़ा होता है, फिर भी रोगीके लिए काफी है। हवा जितनी धिरल और जितनी ताजी मिलेगी,

रोगीको तकलीफ़ और बेचैनी उतनी अधिक मालूम पड़ेगी । कारण यह है कि भीतरी दबाव उन्हें सहायता नहीं देता है ।

यह रोग भी क्षय और केन्सर रोगके समान भूतपूर्व रोगोंका अंतिम दुष्परिणाम होता है, फिर चाहे वह स्वयं पैदा हुआ हो या चाहे पितृ-परम्परासे आया हो । रोगी संपूर्ण रूपसे अच्छा होगा या नहीं, यह रोग और विकृत पदार्थकी अवास्थितिपर अवलम्बित है । इस रोगकी पूर्ण चिकित्सा मेरे उपायसे ही हो सकती है, क्योंकि वह रोगके प्रकृत कारणको नष्ट कर देता है । यह जरूर है कि आरोग्य प्राप्त करनेके लिए अधिक समयकी आवश्यकता होती है ।

पाण्डुरोग, रक्तकी निःसत्वता क्लोरोसिस Chlorosis.

आजकल प्रत्येक श्रेणीके मनुष्यके मुँहसे खूनकी कमी या क्लोरोसिस रोगकी शिकायत सुनी जाती है । इन विकारोंसे क्या अमीर, क्या गरीब, क्या युवा और क्या वृद्ध, कोई भी बचा हुआ नहीं है । यद्यपि रोगरूपी शत्रुको नष्ट करनेके लिए ओपधियोंकी सेना हर समय सजी हुई रहती है, फिर भी इस रोगके प्रायः वे ही बड़े बड़े आदमी शिकार होते हैं, जिनको हर दम डाक्टरोंकी सहायता मिलती रहती है, जो अधिकतर ओपधियाँ सेवन करते हैं और पौष्टिक कहलानेवाले अण्डे, मांस, मद्य, आदि जैसे दूषित पदार्थोंका सेवन किया करते हैं ।

वर्तमान औषध-विज्ञान अपनी वृद्धिकी बहुत ही बड़ाई हाँकता है । आधुनिक रसायन-विद्या (Chemistry) और शारीरिक विज्ञान खाद्य पदार्थोंकी पोषक शक्तिको निश्चित रूपसे बतलाने और मानव-देहपर

उसके प्रभावको भली भाँति जाननेका दावा करते हैं। परन्तु वैज्ञानिक ज्ञानकी इतनी उन्नति होनेपर भी बीमारियाँ जरा भी कम नहीं होती हैं, बल्कि बढ़ती ही जा रही हैं। इस रोगोंमें अत्यन्त दुर्बलता, नपुंसकता, व्याकुलता और काम-वासनाकी वृद्धि होती है। इन विकारोंके कारण स्त्रियोंके स्तनोंमें यथेष्ट रूपसे दूध उत्पन्न नहीं होता। थोड़ेमें ये व्याधियाँ मनुष्यको तन और मनसे अयोग्य बना देती हैं। न बेचारा कुछ सोच ही सकता है और न कुछ कर ही सकता है। ये असहिष्णुता, थकावट, पाँवोंमें भारी-पन और स्नायुओंमें पीड़ा पैदा कर देती हैं। भूख कमजोर पड़ जाती है और आँतें ठीक काम नहीं देती।

एलेपैथी आदि औषध-शास्त्र उक्त उपद्रवोंको नष्ट करनेके लिए क्या उपाय करते हैं ? रासायनिक विद्या (कैमिस्ट्री) की दुहाई देकर डाक्टर लोग मांस सेवन कराते हैं और यह कहते हैं कि उसमें वे सब तत्त्व मौजूद हैं जो मानव-देहको बनानेवाले तथा पोषण करनेवाले हैं। इसके अतिरिक्त वे खूब अच्छी तरह डाँटकर खानेको कहते हैं। फिर गोलियाँ, पुड़ियोंमें रखकर कुनैन और फौलाद आदिको नाना भाँतिसे खिलते हैं। इसका फल क्या होता है ? प्रायः उद्देश्यसे ठीक उलटा— “ मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा दी । ” रुधिर दरिद्र होता जाता है और रोगी पीला पड़ने लगता है। इसके सिवा और अनेक प्रकारके उपद्रव खड़े हो जाते हैं, जिनका प्रधान कारण अप्राकृतिक औषध-चिकित्सा है। यद्यपि यह सुनकर आश्चर्य होगा; परन्तु सत्य यही है कि वर्तमान कालमें नवजात शिशु भी रक्त-विकारके रोगोंमें फँसे रहते हैं। यह इस चिकित्साका ही बुरा फल है।

इन बातोंसे पता चलता है कि यह चिकित्सा-प्रणाली और आहार ठीक नहीं हो सकते। और यह भी मानना पड़ेगा कि प्राणियोंमें

होनेवाली जीवनसंबंधी प्रक्रियाओंपर प्रयोग करनेके लिए केवल रसायन-शास्त्र ही काफी नहीं है। हम लोगोंका अनुभव बतलाता है कि सब प्रकारके कृत्रिम भोज्य पदार्थ—जो कि रोगीको पुष्ट करनेके लिए खिलाने जाते हैं—बड़े गरिष्ठ होते हैं और प्रायः बिलकुल हज्म नहीं होते। प्रत्येक खाद्य पदार्थ अपनी प्राकृतिक अवस्थामें—पकाकर और नमक, मिर्च, मसाला मिलाकर विकृत किये वगैर—शीघ्र पच जाता है और अधिक बल देता है।

मेरा यह नवीन चिकित्सा-विज्ञान, इन समस्त रोगोंकी चिकित्साका बिलकुल एक निराला तरीका बतलाता है। अनेमिया (पाण्डुरोग) और क्लोरोसिसके बाह्य लक्षण हमें उनकी प्रकृतिका ठीक पता नहीं देते। हम यह जानते हैं कि एक सम त्वचा पाण्डुरोगीके समान पीतवर्णकी कदापि नहीं होती और न अत्यन्त लाल, पीले या भूरे रंगकी ही होती है; बल्कि सदैव आर्द्र और मृदु उष्ण होती है। निर्दोष रक्त सदैव तेजस्वी, लाल और पतला होता है। वह रक्तवाहिनी नाडियोंमें भी इसी प्रकारका दिखाई देता है। परन्तु दूषित रक्त इसके विपरीत गाढ़ा और कुछ जमा हुआ सा गहरे रंगका, यहाँ तक कि कुछ काला, होता है। जब रुधिरमें दूषित पदार्थ अधिक मिल जाता है, तब रक्तवाहिनी नाडियाँ फैल जाती हैं और उनमें जगह जगह थैलियाँ बन जाती हैं, जिनमें अत्यधिक खून जमा होने लगता है। दुर्द्वयका विशेष भार होनेके कारण नाडियाँ आन्तरिक दबाव और तनावके होनेसे क्रमशः शनैः शनैः चौड़ी होने लगती हैं। इस लिए सभी पाण्डुरोगियों और क्लोरोटिक लोगोंकी त्वचा जहाँ पीली पड़ जाती है, वहाँ उनकी नसें भी काले रंगकी दीखती हैं; किन्तु तन्दुरुस्त नसें—जिनमें स्वस्थ और शीघ्र बहने-वाला खून होता है—त्वचाके ऊपर धुँधले रूपमें परन्तु चमकती

हुई बहुत कम दिखाई देती हैं। उनमें कभी नीला रंग या फैलावके चिह्न जो क्लोरोसिस रोगमें होते हैं नहीं दिखाई पड़ते। ऐसे लोगोंकी त्वचा विसी हुईसी और पीले रंगकी होती है, जो अनेक बार मोमकी तरह होती है और हरी पीलीसी मादूम होती है। दूसरे तरहके पाण्डु रोगियोंमें चेहरा लाल और ताजा प्रतीत होता है। ऐसा होते हुए भी रोगीमें बिलकुल नपुंसकता, असमर्थता और निर्बलता होती है। उसके शरीरमें भोजनका श्रेत सार ठीक तौरसे नहीं बनता। बाहरसे आरोग्य प्रतीत होनेके कारण डाक्टर लोग इसको 'कल्पित रोग' या 'चित्तका भ्रम' कह देते हैं।

पाण्डुरोगमें और क्लोरोसिसमें भीतरी गर्मी होती है और बाहरसे ठंड मादूम होती है। यह अवस्था इस प्रकारके रोगोंकी ठीक ठीक व्याख्या करनेमें सहायक होती है। अन्य मंद रुग्णावस्थाओंके समान ही यह गर्मी हमें आंतरिक बुखारकी सूचना देती है।

इस रोगका मूल कारण पाचन-शक्तिका अपूर्ण होना, त्वचा और फेफड़ोंका पूरी तौरसे अपना कार्य न करना, तथा अच्छा आहार और वायु न मिलना है। परिपाक-शक्तिके मन्द होनेसे विकृत पदार्थके ढेर इकट्ठे होने लगते हैं, जिनसे रोगीके अस्वस्थ शरीरके भीतर तनाव और अधिक गरमी पैदा हो जाती है। उद्वेगयुक्त वायुके द्वारा ये पदार्थ सारे शरीरमें फैल जाते हैं और विशेष छोरोंमें जाकर संचित हो जाते हैं, अर्थात् त्वचाके ऊपर और भीतर संगृहीत हो जाते हैं। इससे त्वचाके नीचेकी रक्तवाहिनी सूक्ष्म नाड़ियाँ शनैः शनैः अवरुद्ध हो जाती हैं और रुधिर त्वचा तक नहीं पहुँच पाता। इस कारण स्वस्थ व्यक्तिके समान उस रोगीकी त्वचामें उष्णता नहीं रहती। रुधिरका संचार न होनेसे ही त्वचा पीली, म्लान और मरी हुई सी हो जाती है।

इससे यह सिद्ध होता है कि पाचन-शक्तिका विकृत होना पाण्डुरोग आदि रक्तसम्बन्धी व्याधियोंकी उत्पत्तिका मुख्य कारण है। स्वच्छ और ताजी वायुके न मिलनेसे फेफड़ोंकी प्रक्रियाका विकृत होना भी रक्त-सम्बन्धी रोगोंका कारण है। किन्तु दुर्भाग्यसे आधुनिक डाक्टरों-द्वारा उत्पन्न किया हुआ सर्दी लग जानेका डर बहुतसे रोगियोंको घरके भीतर हवा नहीं आने देता, जिससे कि दूषित और दुर्गन्धित वायुके प्रभावसे उसके शरीरका और भी अधिक अनिष्ट होता है। आश्चर्य तो इस बातका है कि डाक्टर लोग स्वयं इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि स्वच्छ वायु मिलनेसे ही रुधिर शुद्ध होता है और दूषित वायुसे फेफड़े तथा रुधिर बिगड़ जाते हैं; किन्तु फिर भी रोगीके विषयमें यह भूल की जाती है और उसे ताजी हवासे बचनेकी सलाह दी जाती है। यह डाकटरी चिकित्सा-प्रणालीकी अपूर्णताका स्पष्ट लक्षण है, जिसकी व्याख्या करना आवश्यक है।

एलोपैथी चिकित्सा-प्रणालीको रोगके वास्तविक कारणका ज्ञान न होनेसे वह शरीरसे दूषित पदार्थको निकालनेका कोई उपाय नहीं करती, केवल रोगके लक्षणोंको दबा देती है। वह प्रत्येक रोगको मन्द अवस्थामें तबदील कर देती है, जिसको कि अभिज्ञ व्यक्ति ही जान सकते हैं और वस इसीको आरोग्यता कह देती है। किन्तु यह वास्तविक आरोग्यता नहीं है, केवल नाम मात्रकी दिखावट है। दुर्भाग्यवश अबतक कोई भी इस दिखावटी आरोग्यताको पहचाननेकी निश्चित और अमोघ विधि नहीं निकाल सका है। परन्तु अब हमारे पास 'मुखाकृति-विज्ञान' मौजूद है, जो यह बतला देता है कि यह आरोग्यता वास्तवमें सच्ची है या धोखेकी टट्टी है।

रूनकी कमी तथा क्लोरोसिसको अच्छा करनेके लिए जब अप्राकृतिक ओषधियाँ दी जाती हैं, तब पेटपर विशेष दुर्जर पदार्थका भार लादा जाता है और रोगीकी हालत पहलेसे भी अधिक रद्दी हो जाती है। वास्तवमें ये बीमारियाँ तभी दूर हो सकती हैं जब कि शरीरमेंसे विकृत पदार्थको बाहर निकाल दिया जाय, ओषधि खानेसे नहीं। रक्तकी कमीमें लोह आदि ओषधियोंके सेवनसे आमाशय इतना कमजोर हो जाता है कि उसमें तीक्ष्ण, अम्ल और मसालेदार पदार्थोंके सिवा सादे और प्रकृत पदार्थोंको खानेकी क्षुधा ही नहीं रहती। परन्तु ये तीक्ष्ण पदार्थ वास्तवमें पचनेयोग्य नहीं होते, ये केवल उसमें उत्तेजना मात्र ला देते हैं और अंतमें असली भूखको नष्ट कर देते हैं। उस समय डाक्टर अत्यन्त पौष्टिक आहार मद्य, मांस, अण्डे आदि खानेकी सलाह देते हैं और पहलेसे भी अधिक तीव्र ओषधियाँ सेवन कराते हैं। जब रोगी उनकी चिकित्सासे आरोग्य होनेकी आशा छोड़ बैठता है, और रोग असाध्य हो जाता है, उस समय अपील करनेके लिए मेरी शरणमें आता है। मेरी चिकित्सासे पहले सप्ताहमें ही उसको एंथेपैथी डाक्टरोंकी भारी भूलें विदित हो जाती हैं और पूरी आरोग्यता प्राप्त होनेपर वह मेरी इस नवीन चिकित्सा-विद्याका सदाके लिए उत्साही भक्त बन जाता है।

जब छिद्रोंको बन्द करनेवाला और रक्त-संचारको रोकनेवाला विकृत पदार्थ शरीरसे निकाल दिया जाता है, तब रक्तका संचार त्वचा तक होने लगता है और उसमें पुनः उष्णता और पूर्ववत् आर्द्रता आ जाती है।

इन रोगोंमें लघुपाकी और अनुतेजक आहार परम उपयोगी होते हैं।

स्वच्छ निर्मल वायु जो कि खुले मैदानमें और खुले खिड़कियों-वाले अपने कमरोंमें मिलती है, जलकी तरह उस रोग-निवारक उग्रताको लानेमें सहायक है जिसे कि प्रकृति शरीरमें उत्पन्न करती है। यह हमारा मन्द भाग्य है कि चिकित्सक लोग इस खटकेसे कि कहीं ठंड न लग जाय हमें स्वच्छ वायु और ठंडा जल इन दोनों आवश्यक वस्तुओंसे हमेशा बचाये रखते हैं। इससे यह बात साबित होती है कि डाक्टर लोग ठंडकी प्रकृतिको कितना कम समझते हैं। वे शरीरको हानि पहुँचाये बिना ठंडको रोकनेके लिए असमर्थ हैं और इस कारण यह कोशिश करते हैं कि ठंडका दिखाई पड़ना रुक जाय। इस गरजको पूरा करनेके लिए वे ऐसे साधनोंको काममें लाते हैं, जिनसे शरीरकी प्रतीकार करनेवाली शक्तिका दमन हो जाय।

जिस मनुष्यने मेरे चिकित्सा-शास्त्रका मनन किया है, उसकी दृष्टिमें ठंडका लगना कोई बुरा लक्षण नहीं है, बल्कि किसी परिमाण तक स्वागतयोग्य है। सच्चे स्वस्थ व्यक्तिको ठंडका रोग नहीं होता। (इसका वर्णन पृष्ठ ९० में देखिए) क्यों कि उसके शरीरमें विजातीय द्रव्य नहीं होता। यदि किसीके शरीरमें विजातीय द्रव्य भरा हुआ हो, लेकिन वह स्वाभाविक रूपसे जीवन निर्वाह करता हो, और यह जानता हो कि स्वच्छ वायु और अनुतेजक पदार्थोंके साथ साथ शीतल जलके सेवनसे मुझे पुनः आरोग्यता प्राप्त हो सकेगी, तो ऐसा करनेसे वह एक प्रकारकी मजबूती प्राप्त करता है और उसके शरीरकी भीतरी सफाई हो जाती है, जो पहले कभी नहीं हुई थी। वह यह भी समझता है कि ठंडका असर जो कि विशेषकर उष्णताकी एकदम तबदीली होनेसे होता है, केवल ताज़ी

हवाके लगनेसे ही हो सकता है और यह ताज़ी हवा जीवनी-शक्तिको इतना प्रबल करनेवाली होती है कि उससे शरीरमें शोधन-क्रिया आरम्भ हो जाती है। इसीको स्थूलदृष्टिके मनुष्य ठंडका खराब असर समझते हैं। इसी शोधनके द्वारा विजातीय द्रव्यका एक भाग शरीरसे निकल जाता है। इस लिए यह शोधन-क्रिया शरीरको हानि पहुँचानेके बदले आरोग्य करनेमें सहायक होती है।

क्लोरोसिस और पाण्डुरोगकी चिकित्सा रोगीकी अवस्था और उसके बलाबलके अनुसार मृदु अथवा तीव्र होनी चाहिए। प्रत्येक रोगीके लिए एक ही सलाह उपयोगी नहीं हो सकती। इस विषयके साधारण नियम निम्नलिखित उदाहरणोंसे प्रदित हो जायँगे।

एक १९ वर्षकी युवती क्लोरोसिससे पीड़ित थी। वह १५ वर्षकी अवस्थासे एक एलोपैथी-चिकित्सकसे अपनी चिकित्सा करा रही थी। चिकित्सकने पहले पहल उसको लोह (फौलाद) की गोलियाँ सेवन कराईं, फिर उसे पेप्सिन (Pepsine) और अन्यान्य ओषधियाँ दीं। खानेके लिए डाक्टरने केवल मांस और अंडे आदि पौष्टिक पदार्थ हंगरीकी बनीहुई एक दो गिलास मद्यके साथ बतलाये और चाय तथा कहवेके बजाय अच्छे आँटे हुए दूधके पीनेकी सलाह दी। पानी पीनेको इस डरसे मना किया कि शायद उसमें रोगोंके कृमि हों और पानीके बदले ताकतवर बीयर (एक हलकी शराब) बताई गई। इन नियमोंका उस खाने महीनों नहीं, वर्षों तक बड़ी दृढ़ता और विचारके साथ पालन किया, परन्तु लाभ कुछ न हुआ। बल्कि इस कुविधिसे उसकी दशा और भी अधिक खराब हो गई। जठराग्नि त्रिकुल मन्द पड़ गई। अत्यन्त पौष्टिक भोजन करते हुए भी वह भूखें मर रही थी। वह शनैः शनैः अधिकाधिक कमजोर और पीली पड़ती गई और उसका चित्त व्याकुल

रहने लगा। उसको यह साफ अनुभव हो गया कि मुझे इस चिकित्सासे कुछ भी लाभ नहीं हुआ; किन्तु फिर भी उसने डाक्टरको दोष न देकर अपने शरीरको ही दोष दिया कि वह स्वस्थ होने लायक नहीं है। वह जिन पौष्टिक पदार्थोंका आहार करती थी, कब्ज होते हुए भी वे पदार्थ उसके शरीरमेंसे होकर निकल तो जाते थे, परन्तु कोई लाभ नहीं पहुँचाते थे, क्योंकि उसका हाज्मा बिलकुल कमजोर हो रहा था। युवावस्थाके आरम्भसे ही उसको मासिक धर्म कभी ठीक समयपर नहीं हुआ था। इस तरह एलोपैथी चिकित्सासे चार वर्षोंमें उसकी दशा पूरी करुणाजनक हो गई। तब वह बेचारी जीवनसे अत्यन्त विरक्त, हताश, आत्मघात करनेके लिए सदा उतारू, चञ्चल, निर्बल, व्याकुलचित्त, और दृष्टियोंके लिए भाररूप बनी हुई मेरे पास आई। मैंने तत्काल उसके आहारको बदलकर अनुत्तेजक, जल्दी हज्म होनेवाला, स्वाभाविक और निरामिष आहार कराना शुरू किया। पीनेके लिए स्वच्छ पानी और खुले स्थानमें काफी कसरत करनेकी राय दी, तथा खिड़कियाँ खोलकर स्वच्छ वायुमें शयन करनेकी भी शिक्षा दी। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन तीन ठंडे घर्षण-स्नान और सप्ताहमें दो वाष्प-स्नान लेनेकी व्यवस्था दी। इस प्रकार चिकित्सा करनेसे एक सप्ताहमें ही उस स्त्रीकी मनोदशामें मानों नव-जीवन आ गया। निराशा आशा, उत्साह और प्रसन्नताके रूपमें परिणत होती हुई दिखाई दी। चार मासमें उसकी पाचन-शक्ति और मासिक धर्म दोनों सम हो गये और मानो उस लड़कीका पुनर्जन्म हुआ। उसकी त्वचा जो पहले पसीजती नहीं थी, अब आर्द्र और उष्ण रहने लगी। छै महीनेमें उसने बहुत उन्नति की और एक वर्षमें वह पूर्ण आरोग्य हो गई।

और भी रोगियोंका वर्णन चतुर्थ भागमें देखिए।

आँख और कानके रोग

आँख और कान इन दोनों मुख्य इन्द्रियोंमें नाना प्रकारके भयंकर रोग होते हैं। आम तौरसे प्रायः हमेशा ही ये रोग बाहरी कारणोंके सिर मढ़े जाते हैं, लेकिन यह विचार कोई नहीं करता कि इनका असली गहरा सबब क्या है। मेरी चिकित्सा-प्रणाली और मेरा अनुभव यह सिद्ध करता है कि आँख और कानकी सब बीमारियाँ—चाहे उनका कुछ ही नाम क्यों न हो—भीतरी मन्द विकारोंसे पैदा होती हैं। या तो ये बीमारियाँ डिकर्थीरिया (कण्ठावरोध), खसरा, सुर्खे बुखार आदि बीमारियोंके दबा दिये जानेसे नये कारण उपस्थित होनेपर हो जाती हैं या चेचकका टीका लगनेसे उभर आती है। मेरा मुखाकृति-विज्ञान इस बातकी पुष्टि करता है। उसकी सहायतासे यह साबित हो सकता है कि आँख और श्रवणकी प्रत्येक बीमारीमें तत्स्थानीय और सर्वांग शरीर विजातीय द्रव्यसे पूरित होता है। अर्थात् इससे यह बतलाया जा सकता है कि शरीरमें विजातीय द्रव्य मौजूद है और उसका सीधा सम्बन्ध उन रोगोंसे है, जो आँख और कानके रास्तोंसे प्रकट होते हैं।

यह सर्वथा असम्भव है कि जो मनुष्य नेत्र अथवा कानके रोगसे पीड़ित हो, उसके शरीरके अन्य भाग चंगे हों। रोग प्रकट होनेके पहले उसके शरीरमें अवश्य ही विकृत पदार्थ संचित होना चाहिए, जिसने नेत्र अथवा कानमें पहुँचकर रोग उत्पन्न कर दिया है। यह प्रक्रिया हम मुखाकृति-विज्ञानके द्वारा वर्षों पहले जान सकते हैं। अच्छा, पहले हम कानके रोगोंका विचार करें।

दुर्द्रव्य जब कानमें पहुँचता है, तब पहले कानमें शब्द ले जाने-

बाली नाड़ियोंका अवरोध होता है। कानका पर्दा या तो फट जाता है या शिथिल और स्पन्दनके अयोग्य हो जाता है, जिससे कि शब्दकी तरंगें मस्तिष्क तक ठीक ठीक नहीं पहुँच सकतीं। इसी कारण कानके मध्यभागमें कफ पैदा हो जाता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि वहाँ दुर्द्रव्य जमा हो गया है। विकृत पदार्थके संबंधमें प्रायः देखा जाता है कि जब इसका प्रबल दबाव नीचेसे ऊपरकी ओर होता है, तब रोगकी तीव्र अवस्था उत्पन्न हो जाती है। कानके अंदरूनी भागमें व्रण हो जाता है, जिसमेंसे उद्वेगयुक्त विकृत पदार्थ बाहर निकलने लगता है। इस बीमारीको कानका बहना (Otorrhoea) कहते हैं। अगर यह तकलीफ़ स्वाभाविक रीतिसे जल्द दूर नहीं की जाय, तो विजातीय द्रव्यका भार और अधिक बढ़ जाता है, जिससे कभी कभी श्रवणेन्द्रिय नष्ट हो जाती है। विशेषकर यह हालत तब होती है जब कि व्याधिको औषधद्वारा शरीरमें और भी अधिक गहरा दबा देनेकी कोशिश की जाती है। जितनी ही ज्यादा कोशिश की जाती है, हालत उतनी ही अधिक बिगड़ती जाती है।

कोई भी आदमी जिसने मेरी व्याख्याओंको ध्यानसे पढ़ा है समझ गया होगा कि कानका बहना, जुकाम, सोजाक और सफेदी इन सबका एक ही कारण है। मैं यह दृढ़तासे कहता हूँ कि ये सब बीमारियाँ केवल विकृत पदार्थसे ही पैदा होती हैं, जो शरीरमें जगह पाकर गुप्त रूप धारण कर रहता है और मौका पाकर उद्वेगयुक्त होकर श्लेष्म और पीबके रूपमें बदल जाता है। उद्वेगकी हालतमें श्लैष्मिक झिल्ली (म्यूक्स मैम्बरेन) में अथवा उससे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य भागोंमें प्रदाह हो जाता है। यह प्रदाह तीव्र होनेपर कभी कभी बहनेवाले छोटे छोटे जल्मों और क्षतोंको पैदा कर देता है। यह प्रायः शरीरके उन

भीतरी भागोंमें भी मुख्यतासे दिखाई देता है जो कि हवाके लिए सीधी तौरसे खुले नहीं होते। यह हमारे लिए बहुत आवश्यक वस्तु है; क्योंकि यह शरीरमें विजातीय द्रव्यके अधिक भार होनेका लक्षण है, और इस बातका विशेष प्रमाण है कि अभी शरीरमें इतनी जीवनी-शक्ति विद्यमान है कि उस विकृत पदार्थको शोधन-क्रियाके द्वारा बाहर निकाल दे।

नेत्र-रोगोंकी उत्पत्ति भी बिल्कुल इसी तरह होती है। विजातीय द्रव्य नेत्रोंके अंदरकी ओरवाले स्फटिकवत् तरल पदार्थ (Crystalline Humour) में पहुँचकर उसमें कोई उपद्रव कर देता है और इस प्रकार दृष्टि-शक्ति कमजोर हो जाती है। अल्पदृष्टि या मायोपिया (Myopia) नामक रोगका यही कारण है। अन्य रोगोंमें दूषित द्रव्य भीतरकी श्लैष्मिक झिल्लियोंमें चला जाता है, जिससे कि कनीनिकाके मध्यका बिन्दु तथा उसकी नाड़ियाँ स्थानच्युत हो जाती है अथवा उनपर पर्दा आ जाता है जिसे कि हम **काला मोतियाबिन्द** (Black cataract or amaurosis) कहते हैं।

श्वेत मोतियाबिन्द (Grey Cataract) भी इसी तरह पैदा होता है। नेत्रोंकी पुतलीपर एक प्रकारका धुँधला अपारदर्शी पर्दा आ जाता है। वह उस विकृत पदार्थके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो नेत्र तथा कनीनिकामें पहुँच गया है। ये रोग प्रायः तभी पैदा होते हैं, जब विजातीय द्रव्य बहुत मुदतसे जमा हो। इस लिए यह रोग प्रायः बूढ़े मनुष्योंमें विशेष रूपसे देखा जाता है।

हरे रंगका मोतियाबिन्द (Glaucoma) नेत्रोंमें विकृत पदार्थके उद्भिन्न होनेसे पुतलीमें जो तनाव होता है, उससे पैदा होता है। प्राचीन ओषधि-विज्ञानके प्रतिनिधि डाक्टर लोग इस रोगमें ऑपरेशन करके कनीनिकाके एक टुकड़ेको काटकर फेंक देते हैं और इस प्रकार शरीरकी जीवनी-शक्तिको आवश्यक आरोग्यकारी चेष्टाकी तरफसे दूर हटा

देते हैं। इस तरह आँखको छिन्नांग करके भी असली बीमारी ज्योंकी त्यों रहने दी जाती है। हाँ, आँखकी हालतमें इससे भले ही परिवर्तन हो जाय।

ध्यान देकर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शल्यक्रिया कितनी निरर्थक है, क्योंकि इसका उपयोग केवल बाह्य लक्षणोंको बदलने-की ओर होता है। इससे रोगका मूल कारण दूर कभी नहीं किया जाता। जब तक आँखमें नवीन दुर्द्रव्य इकट्ठा नहीं होता, तब तक ऑपरेशन सफल समझा जाता है। किन्तु जब विकृत पदार्थ पुनः आगेकी ओर खिसकने लगता है, तब बीमारीके वे ही पुराने या नये लक्षण फिर प्रकट होने लगते हैं और किये हुए ऑपरेशन सफलताकी निरर्थकता सिद्ध कर देते हैं।

इजिप्शियन नेत्ररोग (Egyptian Eye Disease)—यह बीमारी बाल्यावस्थामें अत्यन्त साधारण है। रोगमें दुर्द्रव्य—जो प्रायः पितृ-परस्परासे आता है—उद्भिन्न हो जाता है। तीव्र प्रक्रिया होनेसे प्रदाह पैदा हो जाता है। परिणाम यह होता है कि रोग बहुत देरमें शनैः शनैः अच्छा होता है और बड़े धैर्यके साथ चिकित्सा करनी पड़ती है। लेकिन मेरी चिकित्सा-विधिसे इसके बहुतसे रोगी अच्छे हो चुके हैं। उदाहरणके लिए नीचे कुछ रिपोर्टें दी जाती हैं।

एक आठ वर्षका बालक इजिप्शियन नेत्ररोगसे पीड़ित था। उसकी चिकित्सा अनेक चिकित्सालयोंमें चार वर्ष तक शल्य-चिकित्सा-विधिसे और एटरोपिया नामक विषैली ओषधिसे की गई, किन्तु परिणाम कुछ न हुआ। अन्तमें डाक्टरोंने यह निर्णय किया कि इसके हाईड्रोसिफेलस (Hydrocephalus) या मस्तकमेंसे पानी उतर आनेका रोग है और इसका कोई उपाय नहीं हो सकता। आखिर उस बालककी माता उसे मेरे पास लाई। मैंने अपने मुखाकृति-विज्ञानके द्वारा यह निश्चय किया कि उसके

सिरका अत्यधिक बढ़ा होना और आँखोंके डेलोंका प्रदाह यह किसी अचिकित्सित पूर्व रोगके परिणाम हैं। मैंने उसकी मातासे कहा कि “इसकी चिकित्साके लिए बड़े धैर्य और दृढ़ताकी आवश्यकता है, क्योंकि इसके भीतर विजातीय द्रव्यका भार पीठकी तरफ़ है।” उस बालकको प्रति दिन तीन चार शीत-स्नान कराये गये और अनुत्तेजक सात्विक आहार दिया गया। इस विधिसे एक सप्ताहमें ही सूजन काफी घट गई और आँख जो कि पहले बिल्कुल न खुलती थी, कुछ कुछ खुलने लगी। ऐसा होना पहले असंभव मान लिया गया था।

इसके आतिरिक्त पाचन-शक्ति भी बहुत कुछ सुधर गई थी। शौच खुलकर होने लगा था। पन्द्रह दिनमें उसके नेत्रोंको चकाचौंध लगना भी दूर हो गया। चौथे सप्ताहमें उस बालकको फिर स्कार्लेट फीवर (अर्थात् लाल ज्वर) आया। किन्तु इस समय उसकी जीवनी-शक्ति इतनी प्रबल हो गई थी कि वह इस तीव्र शोधन-क्रिया यानी लाल ज्वरको शरीरसे निकालकर बाहर ला सकी, जो कि उस बालकको चार वर्षकी उम्रमें हुआ था और दबा दिया गया था। जब ज्वर अच्छा हो गया, तब आँखोंकी सूजन और दिमाग़का पानी भी जाता रहा।

द्विदृष्टि (Double Vision)—इस रोगमें एक चीज़की दो चीज़ें दिखाई देने लगती हैं। यह रोग तब होता है, जब कि विजातीय द्रव्य काच (lens) और केन्द्र-बिन्दुके दर्मियान या उसके काच और पुतलीके ऊपर आ जाता है। मेरी चिकित्सा-विधिसे चिकित्सा करनेपर प्रायः ऐसा होता है कि विकृत पदार्थकी लैटतीमें शरीरमें होनेवाली तबदीलियोंके होनेसे केवल दुहरी नज़र ही नहीं; बल्कि कुछ समयके लिए दृष्टिमें कभी तेजी आर कभी मंदी या आंशिक अन्धापन भी हो जाया करता है।

भेंडापन—(Squinting) यह रोग नेत्रके डेलोंको धुमानेवाले मांस-पिंडोंमें दुर्द्रव्यके भर जानेसे होता है। दुर्द्रव्य जब इनमेंसे किसी मांसपिंडमें चलते चलते मार्गमें रोक दिया जाता है या कहीं इकट्ठा हो जाता है, तो वह अन्यन्त सख्त, मोटा, तना हुआ और प्रायः निकम्मा हो जाता है। उसमेंसे सिकुड़ने और फैलनेकी शक्ति जाती रहती है, और तनाव पैदा हो जानेसे वह उन दूसरे मांस-पिंडोंसे—जो डेलोंको घेरकर आँख चलानेका काम करते हैं—छोटा पड़ जाता है। इस तरहसे वह दुर्द्रव्ययुक्त मांसपिंड आँखको धीरे धीरे एक तरफ़को खींचता है। इस कारण आँख अपनी असली जगहसे हट जाती है। ऐसी अवस्थामें सनातनी डाक्टर उस छोटेसे मांस-पिंडको काट फेंकते हैं, और इस प्रकार साबित करते हैं कि वे लोग इस रोगकी वास्तविकताको कितना समझते हैं। केवल आँखके मांस-पिंडके विजातीय द्रव्यको बाहर निकाल फेंककर ही हम भेंडेपनको ठीक, युक्तियुक्त और प्राकृतिक रूपमें दूर कर सकते हैं।

इस बातको सब जानते हैं कि नेत्रसम्बन्धी नाडियाँ गुच्छोंके रूपमें एक दूसरी परसे गुजरती हुई सिरमें फैली हुई हैं, जिससे बाँई आँखकी नाड़ी मस्तकके दाहिनी ओरको है और दाहिने नेत्रकी नाड़ी बाँई ओरको है, अतएव यह सम्भव है कि बाँई ओर विकृत पदार्थके संचित होनेसे दाहिनी आँखमें रोग उत्पन्न हो जाय; क्योंकि उस आँखकी नाड़ी-पर बाँई ओरके विजातीय द्रव्यका असर पड़ रहा है। इसी तरह बाँई आँखपर दाहिनी तरफ़के विजातीय द्रव्यका प्रभाव पड़ता है।

मैं यहाँ नेत्रसम्बन्धी उन व्याधियोंका उल्लेख नहीं करता जिनका आँखके बड़े बड़े स्पेशियलिस्ट डाक्टरोंने पृथक्करण किया है। उन सब व्याधियोंका मूल कारण एक ही है; अर्थात् उस अङ्गपर जमे

हुए विजातीय द्रव्यका थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ जाना। परन्तु यह अवश्य है कि प्रत्येक रोगीमें दुर्द्रव्यक भारकी दशा भिन्न भिन्न होती है, जिसके कारण रोगके लक्षण भी भिन्न भिन्न रूपमें प्रकट हुआ करते हैं। चूँकि मनुष्य-जातिमें विजातीय द्रव्यका भार बढ़ता ही जा रहा है, इससे नये नये रोगोंका पैदा होना भी लाजमी है। इसी लिए रोगोंके नित्य नये वर्गीकरण करनेका सिलसिला खतम ही नहीं होता। क्योंकि नये नये रोग प्रकट होते जा रहे हैं और निःसंशय प्रत्येकके लिए नये नये नाम और प्रायः नई नई ओषधिकी आवश्यकता होती है।

हमारे लिए आँख या कानके रोगोंके लक्षणोंमें भेद करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि हमारी समझमें सब रोगोंकी एक ही चिकित्सा है जो कि उसके कारणको दूर कर दे, अर्थात् विजातीय द्रव्यको निकाल दिया जाय। यह विधि सब जगह सफलता प्राप्त कर चुकी है। संपूर्ण विजातीय द्रव्यको जिस रास्तेसे वह आया है उसी रास्तेसे लौट जानेके लिए लाचार किया जाय और स्वाभाविक उत्सर्गमार्गद्वारा शरीरसे बाहर निकाल दिया जाय। इस कामको सिद्ध करनेके लिए रोगीको शीतल स्नान और अनुत्तेजक प्रकृत आहार कराना चाहिए। प्रायः ऊपर बताई विधिके अनुसार स्थानीय वाष्प-स्नान करानेसे भी विशेष लाभ होता है।

यदि आँख या कानका कोई अवयव नष्ट न हुआ हो, तो कैसा ही प्रदाह हो मेरी चिकित्सासे बहुत जल्द प्रायः कुछ ही दिनोंमें दूर हो जाता है। चाहे किसी प्रकारका दर्द हो, अल्प समयमें ही अवयव दूर हो जायगा और साथ ही अवयवोंको स्थायी हानि पहुँचनेका खटका भी जाता रहेगा, जिससे कुछ ही दिनों या सप्ताहोंमें प्रायः पूरी तरह आराम हो जायगा। यदि किसी अंगका कोई भाग नष्ट हो गया हो, तो उस विकृत अंगमें पूर्ण आरोग्यता प्राप्त न हो सकने पर भी बहुत सुधार हो

जायगा और उस अंगको सुरक्षित रक्खा जा सकेगा जिससे कि आंशिक रूपमें वह जिन्दगीभर काम दे सके।

दूसरी तरफ आँख और कानकी मन्द व्याधियोंको दूर करनेके लिए अधिक समय और धैर्यकी आवश्यकता होती है; क्योंकि प्रायः उनके भीतर अनेक दारुण विकार होते हैं। ये विकार प्रायः अपने मूलरूपमें वे होते हैं, जो बचपनमें उत्पन्न हुई व्याधियोंको दबा दिये जानेसे होते हैं। इन मन्द व्याधियोंकी चिकित्सामें दुर्द्रव्यके भारके अनुसार महीने और वर्ष लग जाते हैं। एक ही लक्षणयुक्त रोगके रोगियोंकी एक-सी ही चिकित्सा करनेमें एकको तो शीघ्र आराम हो जाता है और दूसरेको उससे दुगुना-तिगुना समय लग जाता है, इसका यही कारण है।

नीचे कुछ ऐसे रोगियोंके उदाहरण दिये जाते हैं, जिन्होंने मेरी चिकित्सासे आरोग्य प्राप्त किया है।

नेत्ररोग—लिपजिंग नगरके एक व्यापारीका लड़का नौ वर्षकी अवस्थासे ही उपदंश रोगमें कैसा हुआ था। उसकी बाँई आँखपर बीमारीका जोर विशेष था, और प्रदाहसे उसके नष्ट होनेका खटका था। उस लड़केमें विजातीय द्रव्यका भार बहुत था, जो कि उसके बेडौल और बहुत बड़े सिरसे साफ़ जाहिर था। इस भारने ही उपदंशके साथ नेत्ररोग पैदा कर दिया था। अस्पतालमें डाक्टरोंने एट्रेपिया नामक तीव्र विषैली औषधिका खूब प्रयोग किया। यह औषधि उग्र विषयुक्त स्ट्रूमोनियमके रसमें उतनी ही विषैली बेलाडोनाके मिश्रणसे बनती है। मैं इस अत्यंत विषैली औषधिके व्यवहारके विरुद्ध सबको सावधान करता हूँ। इससे आँखकी हालत और भी खराब होती गई, क्योंकि उसके भीतर इतने परिमाणमें ऐसा नया दुर्द्रव्य बाहरसे पहुँचाया गया

जो कि स्वयं आँखको कमजोर कर देनेके लिए काफी था। नतीजा यह हुआ कि उस इलाजसे डेढ़ महीनेमें ही उसकी आँख बिल्कुल अन्धी हो गई—अन्तमें उसका पिता उस बालकको मेरे पास लाया। मैंने उसके नेत्रकी कोई स्थानीय चिकित्सा न करके उसके पेड़के प्रदेशके अंगोंके सार्वोंको शीतल-स्नानोंद्वारा उत्तेजित किया और केवल अनुतेजक वस्तुओंका आहार दिया। इससे एक सप्ताहमें ही लाभ दिखने लगा और छह हफ्तेमें केवल उपदंश ही नहीं, बल्कि नेत्रकी पीड़ा भी बिल्कुल जाती रही। अब उसे देखकर कोई भी यह नहीं बता सकता था कि बालकको किस नेत्रसे नहीं दीखता था। उसकी दृष्टि बिल्कुल ठीक हो गई और उसका स्वास्थ्य पहलेसे बहुत अच्छा हो गया।

श्वेत मोतियाबिन्द—एक ६० वर्षकी बूढ़ी स्त्रीकी आँखमें श्वेत मोतियाबिन्दका ऑपरेशन हुआ था। ऑपरेशन ‘अत्यन्त सफल’ होनेपर भी उसके बादसे उस स्त्रीको बिल्कुल नहीं दीखता था। उसे दाहिनी आँखका भी फूला पक जानेपर ऑपरेशन करनेकी राय दी गई थी। इस दृष्टान्तसे भी यह सिद्ध होता है कि डाक्टरी चिकित्सा कितनी थोथी है, उसके सिद्धान्त और निदान कितने मिथ्या हैं। फूला पक जाने तक ऑपरेशनके लिए टालना ऐसा ही है, जैसे संपूर्ण घरमें आग लग जाने तक चुपचाप खड़े रहना और जब वह सब तरफ फैल चुकी हो तब बुझानेकी चेष्टा करना। आग लगते ही बुझाई जाय, तो आसानीसे बुझ सकती है, ओषधि-विज्ञानने यह बात अभी तक नहीं सीख पाई है। रोगिणी पहले ऑपरेशनसे ही खिन्न हो चुकी थी और अपना विश्वास पुरातन औषधि-विज्ञानपरसे हटा चुकी थी, इससे वह मेरे पास आई। उसकी दृष्टि इतनी मन्द हो गई थी कि उसे सब वस्तुएँ परछाईं

सरीखी सूझती थीं। पास खड़े आदमीको देखकर वह नहीं कह सकती थी कि वह स्त्री है या पुरुष। उसके शरीरमें विकृत पदार्थ बढ़ा गहरा जमा हुआ था। उसको बचपनमें कण्ठका रोग (quincy) हुआ था। जो ओषधियोंद्वारा दबा दिया गया था। तबसे उसकी दृष्टि कमजोर हो गई थी और उसे दूरका नहीं दीखता था। बढ़ते बढ़ते उसे मोतियाबिन्द हो गया। मेरी चिकित्सासे वह एक महीनेमें ही मोटे मोटे अक्षरोंको पढ़ने लगी, साथ ही उसका स्वास्थ्य भी आश्चर्यजनक रूपसे सुधर गया। उसका मरा हुआ खिन्न मन फिर हर्ष और आशासे भर गया, अर्थात् उसमें जान आ गई और उसका हाजमा तो शुरूके कुछ दिनोंमें ही सुधर गया। आगे चलकर उसकी आँखकी ज्योति और भी शुद्ध तथा सबल होने लगी और प्रति सप्ताह उसे लाभ मादूम पड़ने लगा। इस तरह वह छह महीनेमें पूर्ण स्वस्थ हो गई।

इतने शीघ्र आरोग्य होनेका कारण यह था कि विकृत पदार्थका भार सामनेकी ओर अधिक था, पृष्ठ भाग बहुत कुछ साफ़ था। यदि भार कहीं पीछेकी ओर होता, तो आरोग्य होनेमें जितने महीने लगे शायद उतने वर्ष लग जाते। शोक है कि ऑपरेशनकी वजहसे बाईं आँख सदाके लिए अन्धी हो गई थी।

बायें कानका बहरापन, कानोंका बहना और उनमें झनझनाहटका होना—एक सभ्य पुरुष जिसकी अवस्था ३७ वर्षकी थी, कई वर्षसे कान बहनेकी तकलीफ उठा रहा था और कोई ६ महीनेसे तो बायें कानसे बिल्कुल बहरा हो गया था। उसने अबतक जितनी औषधियाँ की थीं, उनसे कुछ भी लाभ नहीं हुआ था, इस लिए उसने मेरी शरण ली। मैंने अपने मुखाकृति-निदानके द्वारा यह

निश्चय किया कि इसको यह रोग केवल पाचन-शक्तिके बिगाड़से हुआ है। मैंने उस रोगीको प्रति दिन दो तीन उदर-स्नान और मेहन-स्नानके साथ साथ प्राकृतिक आहारकी व्यवस्था दी। साथ ही रोगीको खूब मेहनत करके अथवा वखोंसे शरीरको ढककर ही पसीना लानेकी और खिड़की खोलकर स्वच्छ वायुमें शयन करनेकी सलाह दी। इसका यह परिणाम हुआ कि १७ दिनमें रोगीके कानोंका बहना और बहरापन बिल्कुल जाता रहा। पाचन-शक्ति पहले दिनसे ही नित्य सुधरने लगी। फिर कोई दो सप्ताहोंमें कानोंकी झनझनाहट भी जाती रही। इस तरह रोगी ३१ दिनमें ही बिल्कुल चंगा हो गया।

बहरापन (General Difficulty of Hearing)—

एक चौबीस वर्षका पुरुष था। उसे बाल्यकालमें खसरा माता निकली थी, जो कि औषधिद्वारा दबा दी गई थी। अर्थात् दुर्द्रव्यको फिर उसके शरीरके भीतर ही ठूस दिया गया था। नतीजा यह निकला कि उसके शरीरमें अनेक मन्द व्याधियाँ, वातव्याधि, और क्षीणता आदि विकार पैदा हो गये। फिर दुर्द्रव्यका दबाव सिरकी ओर होनेसे रोगी बिल्कुल बहरा हो गया। सब तरहकी चिकित्सायें की गईं, परन्तु सब बेकार हुईं। तब अनेक मित्रोंसे मेरी प्रशंसा सुनकर उसने मेरी परीक्षा करनी चाही। मैंने उसको उदर तथा मेहन-स्नान और प्रायः वाष्प-स्नान आदि रोगनिवारक प्रयोगोंके साथ अनुत्तेजक आहार देना आरम्भ किया। इससे अल्प कालमें ही आशातीत सफलता मिली। इतनी सफलता होगी, ऐसी मुझे आशा नहीं थी। औषधियोंने उसके शरीरकी जीवनी शक्तिको बहुत हानि पहुँचाई थी। परन्तु युवावस्था और अनुकूल मौसमसे मेरी चिकित्साको विशेष सहायता मिली। रोगीने मुझे लिखा है कि—मेरी

केवल श्रवणशक्ति ही ठीक नहीं हो गई, बल्कि सिरके बाल भी—जो कि विरल हो गये थे—फिर सघन हो गये हैं। मौसम बदलनेपर उसे सदैव ठंडका असर हो जाता था, वह भी अब नहीं होता। यद्यपि वह भेरी आहार-विधिका पूरे तौरसे अनुसरण नहीं कर सका था और कुछ दुबला भी हो गया था, फिर भी वह अत्यन्त प्रसन्न और स्वस्थ प्रतीत होता था। उसके शारीरिक और मानसिक समस्त यन्त्र पूर्णरूपसे कार्य करने योग्य हो गये थे, और उसे नींद न आनेकी जो शिकायत थी, वह भी बिल्कुल जाती रही थी।

यह नीरोगता साधारण तौरसे विना किसी औषधि, विना शस्त्रक्रिया और विना डाक्टरके ही प्राप्त हुई थी।

दाँतोंके रोग, जुकाम, इन्फ्ल्यूएन्जा, कण्ठरोग और घेंघा आदि।

दन्तरोग—दाँतोंके रोग भी उसी तरह पैदा होते हैं जैसे कि और सब बीमारियाँ। यह बात अबतक अनेक बार तक कही जा चुकी है। दाँतोंका खुक्खल होना, दर्द करना आदि विकार इस बातको साबित करते हैं कि शरीरमें विकृत पदार्थ बहुत भरा हुआ है। दाँतोंकी बीमारियाँ तब होती हैं जब कि विकृत पदार्थ सिरकी ओर अग्रसर हो रहा होता है और वह एक विशेष अवस्थामें ही होता है, यानी जब कि विजातीय द्रव्य सामने और बाजुओंकी ओर होता है। दाँतका कोई भाग इतना मजबूत नहीं है, जो इस निरन्तर होनेवाले उद्देगके दबावके सामने

हमेशा ठहर सके, इससे वे आहिस्ता आहिस्ता ढीले पड़ जाते हैं और एक सड़ी हुई शाखाकी भाँति गिर जाते हैं। उस समय उनमें जो दर्द होता है वह केवल बड़ी हुई गर्मी और उद्भिन्न पदार्थकी रगड़से पैदा हो जाता है। कभी कभी मेरी चिकित्सासे भी दाँतोंमें पीड़ा होने लगती है। यह भी हो सकता है कि जिनके दाँतोंमें कभी कोई पीड़ा न हुई हो, उनके भी जल-चिकित्सा करते हुए कुछ दिनोंके लिए दाँतोंकी पीड़ा हो जाय। इसका कारण यह है कि विकृत पदार्थके लौटते समय दाँतोंपर भी उसका प्रभाव पड़ता है। गठियोंमें भी यही बात होती है। दाँतोंका उखड़वाना बड़ी मूर्खता है। इससे शरीरका अङ्गभङ्ग तो हो जाता है, परन्तु रोगका कारण दूर नहीं होता। मेरी चिकित्सासे और रोगोंकी तरह दाँतोंका दर्द भी बिल्कुल जाता रहता है, जैसा कि मेरे यहाँके अनेक इलाजोंसे साबित है। इस रोगमें शीतल-स्नानोंके अतिरिक्त कभी कभी सिरको भाप देनेके बाद ठंडे स्नान लेनेसे भी बहुत लाभ होता है। शरीरको फिर गरम करनेके लिए संभव हो तो धूपमें खूब टहलना चाहिए। बहुतसी दशाओंमें तो एक ही वाष्प-स्नान लेकर शीतल स्नान करना काफी होता है। यदि एक बारमें लाभ न हो, तो फिर यह ही स्नान बार बार लेना चाहिए। जो इस चिकित्साको नियमबद्ध होकर कुछ काल तक करता रहेगा, उसके दन्त-पीड़ा केवल तब तक ही रहेगी जब तक कि विकृत पदार्थ दाँतोंमेंसे हटता हुआ शरीरके बाहर निकल न जाय।

यहाँ एक और आवश्यक बात कहनी है, जो कि दाँत साफ करनेके सम्बन्धमें है। दाँतोंपर सदैव एक तरहका पीला मैल जमता रहता है और वह कुछ दिनोंमें अत्यन्त दृढ़ हो जाता है। उसको

अँप्रेजीमें टारटार (Tartar) कहते हैं । परन्तु मैं यह मानता हूँ कि दाँत माँजनेकी आवश्यकता केवल उन्हीं मनुष्योंको है जो रोगी हैं, अर्थात् जिनमें विजातीय द्रव्य भरा है । तन्दुरुस्त आदमियोंके लिए यह कार्य उसी तरह अनावश्यक है जैसे कि तन्दुरुस्त पशुओंके लिए । क्यों कि यह देखा जाता है कि पशुओंके दाँत अत्यन्त उज्ज्वल, सफेद और नीरोग होते हैं । कभी न माँजनेपर भी उनके दाँतोंपर किसी प्रकारका मैल नहीं जमता । जब शरीरमें स्थित विजातीय द्रव्य त्रिगड़ा हुआ होता है, तभी दाँतोंपर मैल या पीबका आना सम्भव होता है, क्योंकि ये दोनों विकार हाज्मा त्रिगड़नेसे पैदा होते हैं । यह मैल विजातीय द्रव्य है, जो कि पेटसे उठकर ऊपरको आता है और दाँतोंपर जमा होता है ।

यह मैल तथा दाँतोंकी और सब बीमारियाँ तभी दूर हो सकती हैं जब कि शरीरमें विकृत पदार्थका बनना दूर हो जाय । दाँतोंके बिल्कुल खोखले या नष्ट हो जानेपर वे नये तो नहीं हो सकते, परन्तु यह अवश्य है कि वे वैसे ही मसूढ़ोंमें जमे रहें । शरीरके लिए दाँतोंको निर्विघ्न बनानेमें मनुष्यकी अपेक्षा प्रकृति बहुत अधिक कुशल है । जो दाँत बच सकते हैं उनको कभी नहीं उखड़वाना चाहिए, क्यों कि फिर भी वे खाना चबानेका काम दे सकते हैं । अधिकसे अधिक जो दाँत बहुत ढीले हो गये हों और खाना चबानेमें तकलीफ देते हों, उनको उखड़वा देना ठीक है और संभव हो तो उनके स्थानमें नकली दाँत लगवा लेने चाहिएँ । दाँतोंका बहुत जल्द खराब होना और उनमें दर्द होना—यह इस बातको प्रकट करता है कि मेरा उद्देगका सिद्धान्त ठीक है । दाँत ही केवल ऐसी हड्डियाँ हैं जो शरीरसे पैदा होती हैं

और मांससे ढकी हुई नहीं होती। जब कि हम उद्वेगकी प्रक्रियापर ध्यान देते हैं—जो कि विजातीय द्रव्यमें हुआ करती है—तो यह साफ़ जाहिर हो जाता है कि इन निकली हुई हड्डियोंपर उसका विशेष प्रभाव अवश्य पड़ना चाहिए। उद्वेगकी क्रियाका जोर सदैव शरीरके छोरके भागोंमें विशेष रूपसे होता है और दाँत भी शरीरके छोरके भाग हैं। यदि ये मांससे ढके होते, तो दुर्द्रव्यका असर पहले पहल उस मांसपर ही होता।

प्रतिश्याय (जुकाम)—इस रोगमें श्वास लेनेकी नालियोंमें कुछ प्रदाह हो जाता है, जिसका साधारण कारण ठंड लगना बताया जाता है। इसकी विवेचना मैं वात-व्याधिके प्रसङ्गमें कर चुका हूँ। ठंडके लगनेसे केवल उन्हींको रोग हो सकता है जिनके भीतर विजातीय द्रव्य भरा है, न कि तन्दुरुस्त मनुष्योंको। दाँतोंके दर्दकी तरह सिरमें होने-वाले ठंडके असरको भी यही समझना चाहिए कि उससे सम्बन्ध रख-नेवाले अवयवोंमें विजातीय द्रव्य भरा हुआ है और वह बहुधा फेफड़ोंमेंसे सिरमें पहुँचा है। इस लिए जुकाम फेफड़ोंको स्वच्छ करनेकी एक प्राकृतिक प्रक्रिया मात्र है।

मेरी चिकित्सासे और अधिकतर स्वच्छ ताज़ी हवाके सेवन तथा कमरेकी खिड़कियाँ खोलकर शयन करनेसे जुकामकी तकलीफ़ दूर हो जाती है। फिर बिना ही कष्टके अपना समय पूरा करके जुकाम बिल्कुल मिट जाता है।

इन्फ्ल्यूएन्ज़ा—इस रोगमें भी वही बात होती है। इसने सन् १८९० में महामारीका रूप धारण किया था। मैं ईमानसे कहता हूँ कि उस समय भी इस रोगसे उग्र अथवा मंद रूपमें पीड़ित जितने भी रोगी

भरे पास आये उन्होंने भेरी चिकित्साका उत्तमसे उत्तम परिणाम अनुभव किया। ठंडे स्नानों और बाष्प-स्नानोंका रोगनिवारक प्रभाव प्रत्यक्ष हुआ। इन स्नानोंके साथ साथ रोगियोंको अनुत्तेजक और अनुकूल आहार दिया गया था। इस रोगके रोगियोंकी पाचन-शक्ति नियमसे बिगड़ी हुई होती है तथा अन्य बीमारियोंकी तरह इस रोगका कारण भी हाजमेका बिगड़ना है, जो कि पेटमें दुर्द्रव्यके संग्रहसे होता है। इन्फ्ल्यू-एन्जाके साथ जो बुखार होता है, उसका कारण भी इस व्याख्यामें हमें मिल जाता है। शीत-स्नानोंके बाद बहुत ही शीघ्र और कभी कभी एक दिनमें ही रोग शान्त हो जाता है। औषधोपचारसे जो हानिका भय बना रहता था, वह भी इसमें नहीं रहता।

कण्ठरोग—पिछले कुछ वर्षोंसे अपनी चिकित्सा-शालामें कण्ठके रोगियोंकी संख्या देखकर मुझे आश्चर्य होता है कि इस रोगकी कितनी वृद्धि होती जाती है। डाक्टर लोग इसकी स्थानिक चिकित्सा करते हैं जिससे यह व्याधि धीमी पड़ जाती है और इस प्रकार विकृत पदार्थ शरीरमें दबा दिया जाता है।

कण्ठकी बीमारीसे यह स्पष्ट है कि शरीरमें विजातीय द्रव्य गहरा भरा हुआ है। इस रोगमें प्रायः साथ ही साथ फेफड़े भी खराब होते हैं। इसमें विजातीय द्रव्य प्रायः वंश-परम्परासे भी आता है।

इन रोगोंमें दुर्द्रव्य उद्विग्न होकर नीचेसे ऊपरको जाता है, इसलिए धड़ और सिरके बीचमें गर्दन आकर रास्ता तंग कर देती है, जिससे वहाँपर दुर्द्रव्यका प्रतिरोध होता है। इसी कारण सिरके रोगोंमें पहले गर्दनके बीचमें खराबी पैदा होती है। मुखाकृति-निदानमें इसी लिए गर्दनकी परीक्षापर जोर दिया गया है।

कण्ठ-रोगोंमें (चाहे स्वरभङ्ग हो, चाहे लैरिन्क्स आर फरिन्क्स-का प्रदाह हो अथवा और कोई विकार हो) सब विकार विकृत पदार्थके स्वभावानुसार प्रकट होते हैं । चिकित्सा महीनों और कभी कभी वंश-परम्परासे प्राप्त हुए बहुत पुराने कण्ठ-रोगोंकी तो वर्षौतक करनी पड़ सकती है, तथापि मेरी चिकित्साद्वारा सभी अवस्थाओंमें ध्यान देने योग्य सफलता प्राप्त होती है ।

घेंघा—यह रोग खास खास स्थानोंमें और विशेषकर पहाड़ोंमें बहुत होता है । इसकी उत्पत्तिका हेतु यह बतलाया जाता है कि पहाड़ी लोग जो भारी भारी बोझ उठाकर पहाड़ोंपर चलते हैं उससे यह रोग हो जाया करता है । यद्यपि यह ठीक है कि शरीरपर नित्यका बाहरी बोझ घेंघा जैसे रोगोंका कारण हो सकता है, परन्तु वास्तवमें बात दूसरी ही है । पहाड़ोंका स्वच्छ और पवित्र दीखनेवाला जल शरीरको प्रायः हानि पहुँचाता है । वह मिट्टी और पथरपर बहते हुए सीसा, ताँबा आदि धातुओंको घोल लेता है, जो देखनेमें तो नहीं आतीं, परन्तु नित्य पिये जाकर शरीरमें गड़बड़ पैदा कर देती हैं और विशेषकर तब जब कि इसका नित्य उपयोग किया जावे । यह बात सहजमें ही स्पष्टतासे समझाई जा सकती है । यदि उस जलको किसी साफ बर्तनमें भरकर थोड़ी देर धूपमें रख दिया जाता है, तो उसकी तलीमें धीरे धीरे कोई मैला सा पदार्थ जमने लगता है । इसी प्रकार मनुष्यके किसी अङ्ग विशेषमें वह विकृत पदार्थ संचित होता रहता है और घेंघा रोग उत्पन्न करनेमें सहायक होता है ।

यह रोग उन मनुष्योंको स्वभावतः नहीं सताता जिनके शरीरकी प्रकृतिके कारण विजातीय द्रव्य पसीने आदिके रूपमें अधिक

मात्रोंमें बाहर निकलता रहता है। परन्तु जहाँ यह बात नहीं होती; अर्थात् जिनकी रहन-सहन ठीक नहीं होती अथवा जिनकी पाचन-शक्ति मन्द होती है, उनकी यह स्वाभाविक रीतिसे दुर्द्रव्यको बाहर निकालनेकी प्रक्रिया रुक जाती है। न पचाये जा सकनेवाले पदार्थ जलके साथ शरीरमें जाकर उद्वेग पैदा करके गड़बड़ कर देते हैं, जिससे विजातीय द्रव्य ऊपरकी ओर अप्रसर होता हुआ गर्दनमें जाकर इकट्ठा होने लगता है। इसीका नाम घेंघा है। जब घेंघा बाहरकी ओर होता है और गर्दन फूली हुईसी दीखती है, तब कोई पीड़ा नहीं होती; किन्तु सामनेके भागमें अथवा दोनों पाश्वर्कमें फुल्लवट होनेसे कुछ बेढंगासा मालूम पड़ता है। इस विकारमें वैसे कोई खतरा नहीं है, परन्तु उभारके बढ़नेसे—जब श्वासोच्छ्वास क्रियामें बाधा उपस्थित होने लगती है—अवस्था भयंकर हो जाती है। जो मनुष्य बहुत सादे ढंग और प्राकृतिक नियमसे जीवन निर्वाह करते हैं, उनमें भी यह पानी गर्दनके मोटेपनकी ओर झुकाव पैदा करता है और मानसिक क्षोभ और नाडि-जालकी शीघ्रक्षोभिताको पैदा करता है।

यह समझना भूल है कि पहाड़ोंका ताजा और बर्फ सरीखा ठंडा पानी स्वास्थ्यके लिए हितकर है। पानीका भारीपन (धुले हुए खनिज द्रव्योंकी अधिकता जिसे अँगरेजीमें कठिनता या Hardness कहते हैं) यह बतलानेके लिए काफी है कि वह दुष्पाच्य है। अनुभवसे यह बात सिद्ध है कि सूर्यकी गर्मीसे तप्त जलवाली नदियों, तड़ागों आदिका और वर्षाका पानी मनुष्यके लिए उपयोगी है। यह देखा जाता है कि भारी पानीमें छोटे छोटे पौधे या फूल-फल परवरिश नहीं पाते। ऐसे जलके विकारोंको दूर करके उसको मनुष्यके सेवनयोग्य स्वच्छ बनानेकी शक्ति सूर्यकी रासायनिक प्रक्रियामें ही है।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि प्रकृति मनुष्यको कभी पानी पीनेके लिए विवश नहीं करती; क्योंकि सादा स्वामाविक आहार कभी तृषा पैदा नहीं करता । यदि कदाचित् प्यास लगती भी है, तो उसे ताजे और रसीले फलोंके सेवनसे बुझाना पानी पीकर बुझानेसे बेहतर है ।

अब मैं अपनी चिकित्सासे आरोग्य की हुई एक स्त्रीका उदाहरण देकर इस विषयको समाप्त करता हूँ ।

एक स्त्रीको कई वर्षसे कोई उदर-रोग था । अन्तमें उसके घेंवा उत्पन्न हो गया, जिससे आगे चलकर साँस लेनेमें कठिनता पड़ने लगी । मेरी चिकित्सा आरम्भ करनेपर—विशेषकर मेहन-स्नानसे—उसका साँस हल्का पड़ गया और विकृत पदार्थ एक सप्ताहमें अपने रास्तेपर लौट पड़ा । त्वचाकी फुलावट दूर होकर वह मुलायम और छोटी पड़ने लगी । फिर दूसरे सप्ताहमें घेंवेका कोई चिह्न भी शेष न रहा ।

सिरका दर्द, आधाशीशी, मस्तिष्कका क्षय और दाह

एक ही श्रेणीमें इतने रोगोंका एक साथ रखना प्रचलित डाक्टरों-पद्धतिसे—जो कि प्रत्येक रोगके जुदे जुदे लाक्षणिक नाम अत्यंत सावधानीसे रखती है—विचित्रसा मादूम होगा ।

मैं पहले कह चुका हूँ कि लोगोंकी आदत रोगके कारणको वहीं ढूँढ़-नेकी हो गई है, जहाँ कोई तकलीफ होती है । परन्तु सिरकी बीमारियोंमें ऐसा करना बड़ी भूल है, क्योंकि उनका कारण सदा पेड़ोंमें रहता है । ये बीमारियाँ वर्षों तक पेड़ोंमें रहकर फिर सिरमें प्रतीत

होती हैं। जो लोग मेरे मुखाकृति-विज्ञानसे परिचित हैं वे उक्त रोगोंको प्रकट होनेसे बहुत पहले पहचान सकते हैं। बाईं ओर अथवा दाहिनी ओर मस्तकमें आधाशीशीकी पीड़ा होना तथा मस्तिष्कमें शोथ और क्षयका होना भी बहुत समय पहले-वर्षों पहले-जान लिया जा सकता है। अनुभवसे यह सिद्ध हो चुका है कि आधाशीशीका दर्द तभी पैदा होता है जब कि विजातीय द्रव्यका भार शरीरके दक्षिण या वाम भागमें हो और वह दिमागकी तरफ अपना वेग बढ़ाता हुआ सिरमें पहुँच गया हो। इसी तरह सिरकी अन्य दारुण व्याधियाँ भी होती हैं, जैसे कि मस्तिष्कका दाह और मस्तिष्क-शक्तिकी क्षीणता पृष्ठके विजातीय द्रव्यके भारसे पैदा होती है। सिरके रोगोंसे प्रस्त रोगियोंकी पाचन-शक्ति प्रायः वर्षों पहलेसे बिगड़ जाया करती है और अनियमित पाचन अर्थात् कब्ज रहा करता है। प्रायः यह देखा गया है कि मनुष्योंके अर्श रोगके स्थानमें अथवा पेडूमें अनेक ग्रन्थियाँ निकल आती हैं। आज कल बच्चोंकी भी प्रायः यही दशा देखनेमें आती है। कभी कभी पेडूकी गँठें एकदम अन्तर्हित हो जाती हैं और उनके लुप्त होते ही सिरमें एकाएक रोग प्रकट हो जाता है। लक्ष्यवाले मनुष्यको उस समय सिरमें अनेक परिवर्तन होते हुए दिखाई देते हैं। जो गँठें पहले पेडूमें दिखाई पड़ती थीं; वे अब सिरमें मिलेंगी, लेकिन पहलेसे छोटी और इस लिए कठोर होंगी। बहुतसे रोगियोंके ये गँठें सिरके पीछे दोनों तरफ स्पर्शद्वारा बाहरसे माछ्म की जा सकती हैं।

शरीर गँठोंके इस दुर्द्रव्यको हमेशा सिरतक पहुँचानेमें समर्थ नहीं होता। अगर उद्वेग काफी ज़ोरदार नहीं होता, तो सम्भव है कि दुर्द्रव्य गर्दन या बाँहोंके नीचे अथवा छातीमें ही रुक जाय और वहाँ गँठें बना दे। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि दुर्द्रव्य पेडूसे

शरीरमें इधर उधरको गोल और सख्त गाँठोंके रूपमें ही यात्रा करता है। इसके विपरीत ऐसा भी होता है कि शरीर दुर्द्रव्यको वायु अथवा गंध-के रूपमें बदल देता है, जिससे वह एक जगहसे दूसरी जगहको चला जाता है। उद्वेगके नियमोंके अनुसार शरीरमें गाँठोंका विजातीय द्रव्य शरीरके छोरोंकी तरफको चलता है, इस लिए वह सिरकी तरफको भी जाता है, और शरीरके किसी भीतरी अवयवद्वारा नहीं रोका जाता। ऐसी हालतमें यदि वह दुर्द्रव्य फिरसे इकट्ठा होकर सिरमें गाँठें पैदा कर देता है, तो उसे डाक्टर लोग मस्तिष्कका क्षयरोग (Consumption of the Brain) तजवीज कर डालते हैं। जब कि पहले बवासीरके मस्से या और किसी तरहकी ग्रन्थियाँ जो पेड़ोंमें या उसके आसपास ही कहीं मिलती थीं, अब वे हमें दिमागके क्षयमें मिल जाती हैं। जिस मार्गसे ये रोग अच्छे होते हैं वह मेरे कथनकी सचाईका प्रमाण है। यदि मेरी स्नान-विधिसे विजातीय द्रव्यमें संसरणभाव जग जाय और वह अपने मार्गपर पीछेको लौटने लगे, तो पहले मस्तिष्ककी दुर्ग्रन्थियाँ दूर होंगी। किन्तु फिर वे ग्रन्थियाँ नीचेको जाकर बवासीरके मस्सोंकी शकलमें या पेड़ोंमें और किसी दूसरे रूपमें प्रकट हो जायँगी—अर्थात् फिर वे अपनी पहली शकलमें आ जायँगी—और जब कि उनको वहाँसे भी उक्त विधिके द्वारा पूरी तौरसे नष्ट कर दिया जायगा तब कहीं शिरोरोग जड़से जायगा। परन्तु इस कथनसे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि प्रत्येक अर्श रोगीको सिरकी पीड़ा अवश्य होगी, अथवा हर प्रकारके अर्शके अंकुर सिरकी पीड़ाको अवश्य पैदा करेंगे। मैंने कभी कभी ऐसे अर्शके रोगी देखे हैं जिन्हें जन्मभर कभी सिरका दर्द नहीं हुआ। यह भेद केवल विजातीय द्रव्यके देश-काल आदिपर अवलम्बित है।

शरीरमें जब विजातीय द्रव्यका भार सामने या इधर उधर पार्श्वमें होता है, तब ये दुर्ग्रन्थियाँ इतनी आसानीसे सिरमें नहीं चढ़ने पातीं। यदि कदाचित् ऐसा होता भी है, तो वे केवल गर्दन और फेफड़ोंमें उत्पन्न होती हैं। ऐसे रोगी उनकी अपेक्षा शीघ्र आरोग्य हो जाते हैं; जिनके पृष्ठभागमें विजातीय द्रव्य जमा होता है। मुखाकृति-निदानके द्वारा हमको ग्रन्थियोंकी अथवा विकृत पदार्थकी सिरकी ओरकी गति वर्षों पहलेसे मात्स्य हो सकती है। यदि दुर्द्रव्यके मार्गमें कोई रुकावट नहीं है और वह दिमागमें पहुँचकर दुर्ग्रन्थियोंके रूपमें एक बार भी प्रकट हो जाता है तो दिमागमें प्रदाह होनेका अंदेशा बना ही रहता है। उस समय यदि किसी अकस्मात् कारणसे उस द्रव्यमें उपद्रव होता है, अर्थात् उसमें उद्वेग आरंभ हो जाता है या विजातीय द्रव्य स्थानान्तरित हो जाता है तो बड़े जोरसे बुखार आता है। ऐसी अवस्थामें बड़े बड़े प्रसिद्ध चिकित्सक भी केवल रोगका ठीक ठीक निदान करके कह देते हैं कि मस्तकमें शोथ हो गया है, परन्तु उसको दूर करनेके लिए कोई उपाय नहीं कर सकते और असहाय होकर देखा करते हैं। पाठक, सिर और पेड़के रोगोंके बीचमें जो सम्बन्ध है, उसे अब भले प्रकार समझ जायेंगे। मेरा यह कहना है कि मस्तिष्कका दाह और मस्तिष्कका क्षय केवल ये ही रोग पेड़से नहीं पैदा होते; बल्कि मस्तिष्कके सब छोटेसे छोटे और बड़ेसे बड़े विकार यहाँतक कि मामूली सिरका दर्द भी पेड़से ही पैदा होता है। भेद केवल इतना है कि सिरदर्द पेड़के थोड़ेसे—केवल पाचनके बिगाड़ या मामूली बदहज्मीसे—होता है, इस लिए मामूली सिरका दर्द बहुत जल्द चला जाता है।

मेरी चिकित्सा-विधिकी विशेष सफलता सिरके रोगोंमें विशेषकर आधाशीशी, क्षय, और मस्तिष्कके दाहमें स्पष्ट रीतिसे दिखाई पड़ती

है, इस लिए यह बात स्पष्ट है कि इन सब बीमारियोंका कारण एक ही है जो कि पेडूमें मिलता है। अन्यथा यह किस तरह सम्भव हो सकता कि मेरी स्नान-विधि और पथ्यके सेवनसे बिना कोई स्थानिक चिकित्सा किये ही ये रोग एकदम दूर होने शुरू हो जायँ ? इस चिकित्सासे सिरकी बीमारियोंमें विशेष सफलता इसी लिए होती है कि उसका असर बीमारीकी जड़पर पहुँचता है ।

मेरा यह बहुत बारका अनुभव है कि सिरका दर्द और आधाशीशीका दर्द केवल ठंडे स्नानको ही कुछ अधिक देर तक लेनेसे जाते रहते हैं । बहुतसी ब्रियाँ—जिनमें विजातीय द्रव्यने अनुकूल स्थिति धारण कर रखी थी, मेरी यह बात सुनकर हँसने लगीं कि इतनी जल्द आराम हो जायगा । परन्तु स्नानके बाद उनकी समझमें यह बात आ गई, जो कि पहले न आती थी ।

लेकिन यह जरूर है कि सिरके पुराने विकार जो कि मुद्दतसे चले आ रहे हैं और घने विजातीय द्रव्यसे पैदा हुए हैं इतनी जल्दी दूर नहीं हो सकते । विजातीय द्रव्यको अपने रास्तेपर लौटना पड़ता है । उस समय पुरानी बीमारियोंके भी दौरे हो सकते हैं । प्रायः स्नानोंके कारण भी सिरमें दर्द हो जाता है; क्योंकि विजातीय द्रव्यके लौटनेकी दशांमें खोपड़ीकी शिराओंपर दबाव पड़ा करता है ।

अन्तमें मैं आपको एक रोगीके इलाजका हाल सुनाता हूँ ।

एक मनुष्य दीर्घकालसे मस्तिष्कके क्षय नामक रोगसे—जैसा कि डाक्टरोंने कहा था—ग्रस्त था । वह नाना प्रकारकी चिकित्सायें कर चुका था, परन्तु उसकी हालत खराब ही होती जाती थी । आरम्भमें उसके सिरमें बहुत तीव्र पीड़ा हुआ करती थी, जिसको डाक्टरोंने औषधियों-

द्वारा दबा दिया था । परन्तु अब रोगीकी दशा अत्यन्त असह्य हो गई थी और उसको ' मस्तिष्कके क्षय ' का रोग हो गया था ।

ऐसी अवस्थामें उस रोगीने मेरी चिकित्सा आरम्भ की । चिकित्सा आरम्भ होते ही उसकी पाचन शक्ति—जो पहले अत्यन्त मन्द थी—शीघ्र ही दीप्त हो गई । मैंने उस रोगीके लिए प्रतिदिन कई स्नान करने, उपयुक्त पथ्य और पसीना लेनेकी व्यवस्था दी थी । शरीर-शोधनके लिए कभी कभी थोड़े थोड़े विकार होते रहे, विशेषकर उस समय तक जबतक कि ग्रन्थियोंका निवारण हुआ, किन्तु उसके बाद रोगीको अत्यन्त सुख मादूम होने लगा । अन्तमें दो मासकी चिकित्सासे उसकी घोर कष्टदायक व्याधि बिल्कुल जाती रही ।

टाईफस, पेचिश, हैजा, अतिसार

टाईफस (Typhus) अर्थात् स्नायविक ज्वर (तीव्र मोतीझरा) प्रायः मनुष्योंकी तरुण अवस्थामें ही होता है । विशेषकर दृष्ट पुष्ट मनुष्योंपर ही इसका अधिक वेग होता है । अन्यान्य ज्वरोंकी अपेक्षा यह अत्यन्त भयंकर ज्वर है । इसलिए यह शरीरकी एक प्रबल शोधन-क्रिया है । इस ज्वरसे हर एक मनुष्य बहुत ही भयभीत होता है और इसमें मामूली चिकित्सा करनेसे बहुतसे रोगी मर जाते हैं, परन्तु मेरी चिकित्सा-विधि इसके सब भयको दूर कर देती है । जब कि शरीरमें विकृत पदार्थ बहुत अधिक परिमाणमें होता है, तब यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि शरीर इसके झटकेको सहन कर सकेगा या नहीं । परन्तु मेरी शीतोप-चार-विधिके अनुसार शीत-स्नान करनेके बाद यदि शरीरमें पसीना

आ जावे, तो कोई भयकी बात नहीं रहती। मैंने इस ज्वरके बड़े बड़े रोगियोंकी चिकित्सा करके यह देखा है कि जो रोगी हफ्तों या महीनों डाक्टरों इलाज करा चुके थे वे मेरी चिकित्साके आरम्भ-कालके दरम्यान मैदानमें व्यायाम करने योग्य हो गये।

अनुभवसे यह बात सिद्ध हो चुकी है कि टाईफस, इन्फ्ल्यूएन्जा आदि सब तीव्र रोगोंमें मेरे वाष्प-स्नानके द्वारा अत्यन्त लाभ होता है। परन्तु यह स्नान रोगीके बलाबल और अवस्थाका विचार करके ठीक परिमाणमें न तो अधिक और न कम देना चाहिए। उदर-स्नान और मेहन-स्नान दोनों एक साथ चाहिए। इस प्रकार टाईफस ज्वरमें भी अन्यान्य रोगोंकी चिकित्साके समान उन्हीं नियमोंका पालन करते हुए चिकित्सा करनी चाहिए।

मेरी चिकित्साकी एक पुरानी भक्त स्त्रीने मुझे एक पत्र लिखा कि “मैंने टाईफस और शीतलाके दो असाध्य रोगियोंकी आपकी चिकित्सा-विधिके अनुसार चिकित्सा की। उन रोगियोंको एक वाष्प-स्नान और तीन लम्बे लम्बे घर्षणयुक्त उदर-स्नान और मेहन-स्नान कराये। इनसे रोगियोंको इतना लाभ हुआ कि वे अपने बिस्तरसे उठकर बाहर घूम सकते थे। छह दिनमें वे पूर्ण स्वस्थ हो गये और उनके शरीरपर रोगका कोई भी चिह्न शेष न रहा।”

टाईफसके अनेक रोगियोंको जिनकी मैंने चिकित्सा की एकही-सा लाभ हुआ। लेकिन जिन रोगियोंका शरीर औषध-सेवनसे अत्यन्त निर्बल हो गया था और हानि उठा चुका था उनको बड़ी कठिनतासे आराम हुआ।

विस्त्रुचिका (हैज़ा) और आमातिसार (पेचिश)। इन रोगोंमें भी मेरी चिकित्साविधिके द्वारा रोगियोंको विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

ये दोनों रोग कोष्ठमें बड़ी गड़बड़ पैदा करते हैं और इनके साथ साथ तीव्र आन्तरिक ज्वर भी होता है।

प्रायः यह देखा गया है कि हैजेमें इस भीतरी तीव्र ज्वरके कारण रोगियोंका शरीर जलकर भीतरसे काला पड़ जाता है। इस लिए रोगियोंके होंठ, नाक और नेत्र मरनेके बाद काले पड़ जाते हैं।

विस्सूचिका और आम्रातिसार ये रोग उन्हीं मनुष्योंको होते हैं; जिनके शरीरमें विकृत पदार्थका अधिक भार होता है। अतः यह किसी प्रकारकी आकस्मिक घटना नहीं है कि एकको यह रोग हो और दूसरेको न हो। मैंने विस्सूचिका और उससे सम्बन्ध रखनेवाले अन्यान्य उपद्रवोंकी विस्तृत रूपसे व्याख्या करके एक छोटीसी पुस्तक प्रकाशित की है। उसकी ओर मैं आपका ध्यान दिलाता हूँ।

अनुभवद्वारा यह सिद्ध हुआ है कि जिनको विस्सूचिका (हैजा) होती है, उनका हाज्मा बहुत दिनोंसे खराब रहता है और उन्हें अधिकतर कब्जकी शिकायत रहती है।

अतएव आम्रातिसार (पेचिश) और विस्सूचिकाका प्रादुर्भाव होनेसे पहले अथवा उक्त रोगोंके किसी लक्षणके प्रकट होनेके पहले रोगीके शरीरमें बैचैनी और भारीपन प्रकट होने लगता है। यह लक्षण विकृत पदार्थमें उद्वेग आरम्भ होनेका सूचक है। मेरे विचारसे विस्सूचिका शरीरको शुद्ध करनेका एक उत्कृष्ट साधन है। विजातीय द्रव्योंमें जब किसी बाहरी आघात या मौसमकी तबदीली, ठंड, भय अथवा मानसिक उत्तेजना आदिसे उद्वेग शुरू हो जाता है, तब वह अपनी असली जगह (पेड़) की तरफ़को बड़े वेगके साथ वापिस जाने लगता है, खासकर जब कि त्वचा अपना काम बिल्कुल न कर रही हो। ऐसी अवस्थामें यदि जीवनी शक्ति प्रबल होती है तो वह रोगको विजय कर रोगीको शीघ्र

अत्यन्त तन्दुरुस्त कर देती है, लेकिन जब कि औषधोपचारके द्वारा शरीरकी जीवनी-शक्ति निर्बल हो गई होती है, तब शरीर इस रोगरूपी शोधन-क्रियाको सहन नहीं कर सकता। तापयुक्त उद्वेगकी दशामें, चाहे वह हैजा हो या उससे कम घातक पेचिश हो, एक ऐसी विचित्र क्रिया होती है जैसी और किसी रोगमें उस शकलमें नहीं देखी जाती। भीतरी बुखारकी सारी गर्मीका जोर केवल हाज्मेके अंगोंमें आ जाता है। अतः एव शरीरके भीतर अत्यन्त ताप होता है, और बाहर ठंड माछूम होती है।

इन रोगोंकी चिकित्सामें पहला लक्ष्य बड़ी हुई भीतरी गर्मीको दूर करनेका होना चाहिए, और फिर स्वाभाविक रीतिसे पसीना लानेका प्रयत्न करना चाहिए। यदि रोगीके शरीरमें उसे जला डालनेवाली भीतरकी भयंकर गर्मीको शमन करनेके लिए पर्याप्त जीवनी-शक्ति मौजूद होगी, तो रोगी बहुत जल्द निरोग हो जायगा। बहुतसे रोगियों को तो बड़े हुए भीतरी ज्वरके कारण बाहरी ठंड माछूम भी नहीं पड़ती। ऐसे रोगियोंकी अवस्था अधिक भयंकर होती है। सन् १८४९ और १८६६ ई० में लिपजिग नगरमें प्रकट हुए विसूचिकाके कितने ही रोगियोंको मैंने अच्छी तरह देखा था। अतः मुझे अब तक उस रोगने जो क्रम पकड़ा था सो याद है और मैं उसे समझानेके लिए तैयार हूँ। जिन रोगियोंके शरीरने ज्वरको बाहर निकल दिया, वे तो अच्छे हो गये, परन्तु जिनका ज्वर बाहर नहीं आया, वे नहीं बचे। मैंने एक दिन ११ बजे एक स्त्रीको उसीके बालकके साथ आँगनमें टहलते हुए देखा, परन्तु तीन घण्टे बाद ही २ बजे उसकी अर्धशय्याको जा रही थी। ऐसा क्यों हुआ? कारण यह था कि उसके शरीरकी जीवनी-शक्तिने विसूचिकाके उद्वेगको बाहर निकालनेकी बिल्कुल

कोशिश नहीं की, इससे उसका शरीर विकृत पदार्थसे लबालब भर गया था। यह बात उसके होठ आँख और नाकके सिरेपरकी स्याहीसे साफ़ जाहिर होती थी कि उसका पेड़ क्षतोंका भंडार हो रहा है।

ऐसे भयंकर रोगको शीघ्र दमन करनेके लिए मेरा मेहन-स्नान सबसे अच्छा साधन है। साथ ही उससे जीवनी-शक्तिकी भी बहुत वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त पेड़का बाष्प-स्नान भी प्रायः बहुत लाभदायक होता है। पेड़के बाष्प-स्नानके बाद शीत उदर-स्नान या मेहन-स्नानका होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बाद यदि हो सके तो शरीरको फिर गर्म करनेके लिए तबतक आतप-स्नान देना चाहिए जबतक पसीना न आ जाय। यदि आतप-स्नान न बन सके, तो रोगीको बिस्तर-पर लिटाकर अच्छी तरह ढक देना चाहिए, जिससे कि पसीना आ जाय। विशेषकर कुछ शीतल स्नानोंसे ही रोगी रोगके भयको पार कर जाता है। पथ्यमें उसे सदैव अनुत्तेजक, स्वाभाविक और सौम्य पदार्थोंका आहार करना चाहिए।

पेचिशको दूर करनेके लिए मेरी स्नान-विधि अन्य साधनोंके साथ बहुत उपयोगी होती है। अक्सर कुछ ही वर्षणयुक्त मेहन और उदर-स्नान और एक बाष्प-स्नान दस्तोंको अच्छा कर देता है।

यदि इतनेसे काम न चले, तो यह युक्ति करनी चाहिए। एक ईंटको अग्निमें तपाकर ऊनी कपड़ेमें लपेटकर गुदाके नीचे रख दे। यह देखकर आपको आश्चर्य होगा कि इस क्रियासे दस्त कितनी शीघ्र बन्द हो जाते हैं। फिर कुछ घंटोंके बाद एक मेहन-स्नान कराना चाहिए और उसके पश्चात् फिर गरम ईंट रखनी चाहिए।

इस युक्तिके करनेसे अक्सर ऐसे रोगी भी बच जाते हैं जो कि बिना इसके नहीं बच सकते थे।

जो मनुष्य सफलतापूर्वक ऐसी कठिन शोधन-क्रियाके पार उतर जाते हैं वे आगे विशेष प्रसन्नचित्त रहते हैं। वास्तवमें उन लोगोंको जो हैजेसे बच गये हैं यह अनुभव होता है कि मानो हमारे ऊपरसे एक बड़ा भारी बोझ हट गया है। क्योंकि विजातीय द्रव्यका सब भार उनके ऊपरसे हट जाता है। मुखाकृति विज्ञानके द्वारा भी विकृत पदार्थमें बहुत कमी दिखाई पड़ती है। इससे यह अचम्भा ज़रूर होता है कि थोड़े दिनोंमें ही शरीरकी दशा इतनी जल्दी कैसे बदल गई।

चूँकि विसूचिका एक बड़ा भयंकर शोधन है, इसलिए इस बातपर सदैव ध्यान रखनेकी आवश्यकता है कि इस बीमारीसे हमेशा बचे रहें। दुर्भाग्यसे आज तक यह नहीं मालूम हुआ कि हमको इस विषयमें क्या करना चाहिए। केवल मेरी ही चिकित्सा-विधिसे यह सम्भव है कि विजातीय द्रव्यके भारका निश्चय हो सके और रोगकी भयानक प्रवृत्तिका अनुमान हो जाय, जो कि कभी कभी विसूचिका जैसा शोधन पैदा कर देती है।

ब्रिटिश इण्डियासे और अन्य अनेक स्थानोंसे मेरे पास पिछले कई सालोंकी रिपोर्टें आई हैं, जिनसे मालूम हुआ है कि मेरी चिकित्साके द्वारा हैजेमें वहाँ भी कितनी सफलता प्राप्त हुई है। ऐसे गर्म मुल्कोंमें मेरी स्नान-विधिके अलावा अनुत्तेजक पथ्य भी विसूचिका जैसे दुष्ट रोगोंसे प्राण बचानेके लिए अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुआ है। इससे ताब्र ज्वरोंमें, जैसे विसूचिका, पेचिश आदिमें आश्चर्यजनक लाभ होता है। इसलिए उन देशोंके निवासियोंको जो कि ऐसा नहीं कर रहे हैं इस पथ्यके सेवन करनेमें किसी तरहका भय नहीं करना चाहिए। एक बार अनुभव करके अवश्य देखना चाहिए।

दस्तोंके साथ वमन—यह रोग प्रायः बचपनमें विशेषरूपसे होता है, जो कि हैजेके सिवा और कुछ नहीं है। विशेषकर जब माताके दूधके बजाय डिब्बे या बोतल आदिका दूध पिलाकर बच्चोंका पालन पोषण किया जाता है, तब विजातीय द्रव्यका भार बढ़ जाता है और यह रोग होता है। इसका इलाज भी वही होना चाहिए जो कि हैजेका होता है। बालकको माता या पिताके पास सुलाना चाहिए, जिससे उसे जल्द पसीना आ जाय।

साधारण अतिसार—इसको भी पेचिश और हैजेका बच्चा समझना चाहिए। अक्सर देखा गया है कि यह रोग दृष्टपुष्ट मनुष्योंको मौसमकी तबदीलीके समय हुआ करता है।

अतिसार चाहे कितना ही हल्का हो, परन्तु वह शरीरकी आरोग्य-प्राप्तिका एक साधन है, इसलिए इसको आरोग्य-प्राप्तिका एक अच्छा लक्षण समझना चाहिए। परन्तु इसको सौभाग्यका लक्षण तब तक ही समझना चाहिए, जब तक यह बहुत दिनों तक जारी न रहे। ऐसी शोधनकी अवस्थामें सम्भवतः वायुके वैद्युदिक कर्षण (Electrical tension) से जिसका कि हालमें ही आविष्कार हुआ है सहायता मिलती है। परन्तु इस हालतके बाद मनुष्यके शरीरमें फिर नव-जीवनका संचार अनुभूत होता है। इस प्रकार शरीर अपने आपको समय समय पर शुद्ध करनेकी चेष्टा किया करता है।

यद्यपि अतिसार और कब्ज ये दोनों रोग एक दूसरेसे बिल्कुल विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं, परन्तु मेरी इस बातको सुनकर किसीको आश्चर्य न करना चाहिए कि ये दोनों ही हाजमेके बिगाड़से पैदा होते हैं, जो कि अतिपोषणके द्वारा भीतरी गर्मीके बढ़ जानेसे होता है।

जैसे एक ही कारणसे कोई मनुष्य तो मोटा-ताजा हो जाता है और कोई दुबला पतला होता है, इसी तरह एक ही कारण कहीं तो अतिसार और कहीं कब्ज पैदा कर देता है ।

यदि भेरे ठंडे स्थानोंके द्वारा भी भारी कब्ज दूर न हो सके, तो रोगीको प्रतिदिन जंगलमें जाकर शौच करना चाहिए । वहाँ ताज़ी हवाके लगनेसे रोगीको आश्चर्यजनक लाभ होगा और सहजमें ही कब्ज दूर हो जायगा ।

मौसमी और गर्म देशोंके ज्वर मलेरिया, पीतज्वर, शीतज्वर आदि

ज्वर चाहे किसी तरहका या किसी नामका हो और उसका चाहे कोई रूप क्यों न हो, परन्तु उसके उत्पन्न होने और बढ़नेका प्रधान कारण एक ही होता है, अर्थात् विकृत पदार्थका उद्भिन्न होना । जब हम गर्म देशों (भारत आदि) की मौसमी हालतपर दिन-रातके तापमानके अन्तरका विचार करते हैं, तो वहाँपर होनेवाले ज्वरोंकी तेज़ीका हेतु भली भाँति समझमें आ जाता है । ज्वरका वेग उसी क्रमसे बढ़ता है, जिस क्रमसे विकृत पदार्थका उद्देग तेज या जोरदार होता है । ऐसे तीव्र ज्वरोंके पैदा होनेके लिए गर्म देशोंमें बहुत अनुकूल कारण हुआ करते हैं, चाहे शरीरमें विजातीय द्रव्य कुछ कम भी हो । किन्तु जहाँ गर्मी कम पड़ती है, वहाँ ज्वरकी ऐसी उग्रता नहीं देखी जाती । गर्म

देशोंमें ज्वर स्वाभाविक रूपसे ही भिन्न भिन्न रूपोंमें प्रकट होता है। पीत-ज्वरका अधिक भय माना जाता है। इसका यह नाम इस कारणसे हुआ कि इस ज्वरकी दशामें सारी त्वचा पीले रंगकी हो जाती है। यह दुष्परिणाम अक्सर औषध-सेवनसे भी हो जाता है। इस ज्वरके आरम्भमें शरीरमें थकावट, सिरदर्द, ऐंठनयुक्त दर्द, त्वचामें रूक्षता और प्यास लगती है। मलका काला पड़ जाना आदि लक्षण बादमें होते हैं और वमन भी काले रंगका होने लगता है। आँखकी सुफेदी और शरीरकी त्वचा पीली हो जाती है और त्वचाका वर्ण प्रायः मृत्युके बाद अथवा कुछ पूर्व काला पड़ जाता है।

इसके लिए मुख्य बात यह है कि ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे कि यह रोग उत्पन्न ही न हो सके। इसका साधन हमारे पास सदैव विद्यमान रहता है। पहली बात यह है कि निरामिष, अनुस्तेजक और हलका आहार करना चाहिए, जिसको कि उस देशकी पैदा हुई वस्तुओंमेंसे ही छाँटा जाय। दूसरा साधन सदैव प्राकृतिक रूपसे जीवन-निर्वाह करना और मेरी स्नान-विधिका पालन करना है। यद्यपि गर्म-देशोंमें इन स्नानोंके लिए इतना शीतल जल नहीं मिलता, जितना कि ठंडे देशोंमें मिलता है; परन्तु जल और वायुके तापमानका अनुपात दोनों जगह एकहीसा होता है।

इसके अलावा वही गर्मी जो उद्वेग अर्थात् रोगको उत्पन्न करती है, नीरोगताकी प्रक्रियाको भी सहायता देती है, क्योंकि गर्म देशोंमें स्नानके बाद गर्मी और पसीना ठंडे देशोंकी अपेक्षा जल्द आ जाता है। यह असम्भव है कि डाक्टर लोग कुनैन और ऐण्टीपाइरिन सरीखी स्नायु-जालको सुन्न करनेवाली ओषधियोंसे किसी ज्वरको वास्तवमें अच्छा कर

सकें । जब ओषधिकी एक मात्रा निर्बल पड़ जाती है, तब दूसरी उससे तेज दी जाती है । इस तरह करते करते स्नायु इतने निकम्मे कर दिये जाते हैं कि फिर शीघ्र ही दूसरे उग्र रोग उत्पन्न हो जाते हैं— जैसे कि स्नायुसम्बन्धी भीषण रोग, जिनका अच्छा होना बहुत अधिक कठिन है ।

समस्त गर्म देशोंमें इन ज्वरोंमें मेरी चिकित्सासे लोगोंको बहुत सफलता हुई है । इस विषयमें बटेवियानिवासी मिस्टर आर० ने जैनाआसे मुझे यह लिखा है—

“ बटेवियामें मेरी स्त्री और मेरे मुनीमने मौसिमी ज्वरमें आपकी पुस्तकके आधारपर (जिसको मैंने यहाँसे भेजा था) आपकी चिकित्सा-विधिका पालन किया, उससे उनको असाधारण सफलता हुई । ”

एक पादरी मिस्टर एम० ने ता० १६ दिसम्बर सन् १८९० को ब्राजिलसे लिखा था—

“ मैं आपको सहर्ष और सधन्यवाद सूचित करता हूँ कि आपके निर्दिष्ट स्थानोंके द्वारा मुझे सामयिक ज्वरके दूर होने और पाचन-शक्तिके सुधारमें अल्पकालमें ही बहुत लाभ हुआ है । परन्तु काफीके इस देशमें मुझको खाद्य पदार्थोंके उचित रूपसे मिलनेमें कुछ कठिनता होती है । गेहूँकी रोटीके बजाय मक्काकी रोटी मिलती है । जर्मनीकी तरकारियोंके बजाय सेम, लोबिया, चावल आदि और सेब, नास्पाती, अलूचेकी जगह केला, शकरकन्द, खरबूज़ा, तरबूज़, नारंगी, अंजीर, खजूर आदि और इसी प्रकारके अन्य बहुतसे फल और मेवे खाने पड़ते हैं । ”

पश्चिमी आफ्रिकामें और गोलडकोस्ट कैमरून प्रदेशोंमें मेरे बहुसंख्य शिष्य रहते हैं, उनमेंसे एक पादरी मि० जे० एस० ने सन् १८९१ में मुझे एक पत्र लिखा था, जिसका आशय नीचे दिया जाता है—

“ आपकी जो पुस्तकें हमको मिलीं, उनसे हमने यहाँके ज्वरोंमें, विशेषकर पीत-ज्वरमें आपकी चिकित्सा-प्रणालीको आजमाया । हम बड़े हर्षके साथ सूचित करते हैं कि यहाँ बारम्बार फैलनेवाले ज्वरोंके आक्रमणको रोकनेके लिए आपकी चिकित्साकी प्रणाली अपूर्व सिद्ध हुई है । ”

सेन्ट्रल अमरीकाके ब्रिटिश होंडुरास प्रान्तमें ब्राजिलके पास स्टानक्रीकसे मेरे एक भक्त मिस्टर एम० एच० ३ जुलाई १८९० को लिखते हैं—“ आपकी भेजी हुई पुस्तक नवीन-चिकित्सा-विज्ञान मुझे प्राप्त हुई । मैं इसके लिए और आपने पत्रद्वारा जो सम्मति दी है उसके लिए धन्यवाद देता हूँ । मैंने यहाँ जो कुछ बन सका उसके अनुसार आपके नियमोंका पालन किया । मुझको इस गर्मदेशमें हर साल मौसमी ज्वर सताता था, परन्तु आपके रास्तेपर चलनेसे इस वर्ष मुझे कोई रोग नहीं हुआ । ”

ओटाजिमा (हेरेरोलेण्ड) दक्षिण पश्चिम आफ्रिकासे आये हुए एक बहुत बड़े पत्रमें एक सज्जनने अपनी स्त्रीके कठिन रोगका—जो कि असाध्य समझा जाता था—हाल लिखते हुए यह लिखा है—“ मैंने ३० वर्ष तक जिन औषधियोंका सेवन कराया उनमेंसे कोई भी रोगकी बाढ़को न रोक सकी । उसकी पाचन-शक्ति बिल्कुल खराब हो गई थी । फिर आपका पत्र मिला, तब मेरी आँखें खुलीं । आपकी आज्ञानुसार मेरी स्त्री अब ठंडे घर्षण-स्नान लेती है । उसका मलेरिया-ज्वर जिसने कि पुरानी तकलीफोंमें एककी वृद्धि कर दी थी जाता रहा है, पैरोंका शोथ

भी कम हो रहा है और हाथकी अँगुलियाँ कोमल तथा हल्की होती जाती हैं ।”

दारुस्सलाम (पूर्वीय आफ्रिका) के एक पादरीने अपने ऊपर मेरी चिकित्सा अजमाई थी और उसने बर्लिन नगरसे सितम्बर १८९० में प्रकाशित होनेवाले मिशनरी समाचारपत्र (Nachrichten aus den Ostafrikan ischen missioven) में अपने भतीजेकी चिकित्साके बारेमें इस प्रकार लिखा था—

“ मेरे भतीजे मि० डैनियल ई० को—जो ५ दिनसे उग्र मलेरिया ज्वरसे पीड़ित हो रहा था—कुनैन, एण्टी पाइरिन, एण्टी फेब्रीन, पीपरमेण्टकी चाय आदि किसी भी ओषधिने तथा प्राचीन स्वाभाविक प्रणालीकी चिकित्साकी गदियोंने कुछ भी लाभ नहीं पहुँचाया । ज्वर उसी ऊँचे दर्जेपर बना रहा, बल्कि कुछ डिग्री और बढ़ भी गया । कल दोपहरके समय हम सब यत्न करके थक गये, परन्तु कुछ काम न चला । उस समय रोगीके बचावका केवल एक ही उपाय हमारी समझमें आता था, अर्थात् जल-वायुका बदल देना । किन्तु सहसा ऐसा करना कैसे संभव था ? अन्तमें हमें लिपजिगनिवासी डा० लुई कोहनीकी नवीन चिकित्सा-प्रणालीका ध्यान आया, जिसकी पुस्तक मैंने ‘ दी न्यू साइंस आफ़ हीलिंग ’ अभी मँगवाई थी । हमने ज्वरसे तपते हुए रोगीको, जिसको कि बिल्कुल पसीना नहीं आता था, पानीमें बिठाकर तीन मिनट तक उदर-स्नान कराया । जब थर्मोमीटर १०२° फ़ैरन हाइटसे ऊपर बढ़ा, तो हमने फिर स्नान कराया । इस क्रियाके करनेसे ज्वर कम होने लगा । रात्रिमें दशा कुछ सुधरती माहूम पड़ी और प्रातःकालमें स्वाभाविक रूपसे खूब खुलकर पसीना

आया । इस प्रकार इस चिकित्साके करनेसे वह रोगी कुछ घंटोंमें ही आरोग्य हो गया ।”

यदि उसको ३ मिनिटके बजाय २० मिनिटका स्नान दिया जाता, तो और भी शीघ्र आरोग्य लाभ हुआ होता । ऐसी अवस्थाओंमें जितनी ज्यादा देर तक और बार बार स्नान कराये जायँ उतना ही अच्छा होती है ।

दारुस्सलामके उन्हीं महाशयने फिर मुझे गत २२ दिसम्बरको यह लिखा है—“ मैं आपको अनेक प्रकारके मौसमी ज्वरोंसे आरोग्य-लाभ करनेके विषयमें जो कुछ पहले लिख चुका हूँ, उसे यहाँ दुबारा न कहकर संक्षेपमें यही लिखता हूँ कि आपकी जल-चिकित्साका प्रभाव मुझपर एक आश्चर्यजनक रूपसे हुआ है । अब मैं आपकी उक्त चिकित्सा-प्रणालीका यहाँके मनुष्योंपर प्रयोग किया करता हूँ । यद्यपि मुझे ऐसा करनेमें कष्ट होता है और समय भी अधिक लगता है, पर मुझे सदा सफलता प्राप्त होती है ।

“ गत जून माससे मैं आपकी आज्ञानुसार अपने तथा अपने कुटुम्बके लिए पानीके सिवाय किसी भी ओषधिका प्रयोग नहीं करता, किन्तु फिर भी हम इन बड़े गर्म देशोंमें—जो कि रोग उत्पन्न होनेके लिए प्रसिद्ध हैं—पूर्ण स्वस्थ हैं । क्या यह आपकी जल-चिकित्सा पश्चिमी आफ्रिकाके पीले ज्वरको भी दूर न कर सकेगी ? ”

उक्त महोदयने रोगकी एकताके सिद्धान्तको और सम्पूर्ण रोगोंके (एकसे दूसरेके) आन्तरिक सम्बन्धको अच्छे प्रकारसे नहीं समझा है । यदि समझे होते, तो ऐसा प्रश्न न करते । क्वालरोंगन, बोर्नियोसे एक पादरी मि० ए० ने अपने २० जनवरी सन् १८९२ के पत्रमें यह लिखा है:—

“ प्रियवर मि० कोहनी,

मेरे पास आपकी ‘ नवीन चिकित्सा-विज्ञान ’ की दो प्रतियाँ हैं । मैं आपको उनके द्वारा प्राप्त हुई सफलताओंके लिए धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जो कि मुझे अपने और बोर्नियोके अन्य मनुष्योंपर अनुभव करनेसे उपलब्ध हुई हैं । मैंने इस नवीन चिकित्सा-विज्ञानकी चर्चा प्रथम बार यहाँ बोर्नियोमें सुनी थी, जिसको लगभग १ वर्ष हुआ । इसके कुछ समय बाद एक दिन मैं अपने एक मित्रके घरपर तीव्र भारतीय ज्वरसे पीड़ित हुआ और उससे मैं अत्यन्त असमर्थ हो गया । उस दशामें मैंने आपकी नवीन चिकित्सा-प्रणालीको आजमाया । पहले मैंने आपकी पुस्तकमें निर्दिष्ट नियमोंके अनुसार एक बेंतकी बुनी कुर्सीपर बाष्प-स्नान लिया, फिर एक उदर-स्नान लिया, जिसका आश्चर्यजनक प्रभाव हुआ । स्नान लेनेके बाद तत्काल ही मैं विस्तरसे उठकर चलने फिरने लगा, जो कि पहले मेरे लिए असम्भव था । मेरे मित्र और उनकी पत्नीको इतनी जल्द कामयाबीपर बहुत ही आश्चर्य हुआ । उस दिनसे मैं आपकी इस प्रणालीका दृढ़भक्त हो गया हूँ । मैंने इस चिकित्साके द्वारा यहाँके डायक लोगोंमें भी बहुत लाभ उठाया है । डायक जातिके लोगोंमें कोई चिकित्सक नहीं है, अतः वे प्राचीन कालसे बाष्प-स्नान तो लेते चले आ रहे हैं, किन्तु ठंडे स्नानसे बिल्कुल अनभिज्ञ हैं ।

“ यदि मैं उन समस्त रोगियोंका वर्णन करूँ जिनको कि इस चिकित्सासे लाभ हुआ है तो मुझको अत्यधिक लिखना पड़ेगा । प्रिय मि० कोहनी, आपकी यह पुस्तक जंगलोंमें रहनेवाले पादरियोंके बड़े कामकी है । यह ऐसी पुस्तक है जिससे किसीको भी निराश नहीं होना पड़ता । ऐलेपैथी चिकित्साकी जो पुस्तकें मेरे पास हैं, उनकी पहली

शिक्षा डाक्टरको बुलानेकी होती है, परन्तु जंगलमें डाक्टर कहाँ मिलें ? मुझे इस बातका बड़ा हर्ष है कि आपकी नवीन चिकित्सा-विज्ञानकी पुस्तक मेरे पास मौजूद है । लगभग तीन सप्ताह हुए कि एक मनुष्य मुझे एक खीके घरपर बुला ले गया । उसका झोंपड़ा धानके खेतमें था, जिसमें रातमें आग लग गई थी । खी तबतक पड़ी सोती रही जबतक लपेटे उसके शरीरतक न पहुँचीं । अग्निसे जलकर उस खीकी बुरी सूरत हो गई थी, विशेषकर चेहरा और बाँहें बहुत ही खराब हो गई थीं । मैंने सुबहसे लेकर शाम तक उसके मुख और बाँहोंपर भीगी हुई गदियाँ रखवाई । फिर शामसे आपकी पुस्तकमें लिखे अनुसार गदियाँ लंगवाई । इसी प्रकार दूसरे दिन फिर गदियाँ लंगवाई । इस विधिसे एक सप्ताहमें ही वह खी बिल्कुल चंगी हो गई । मैं विश्वस्त रूपसे कहता हूँ कि यदि मरहम आदि ओषधियोंके द्वारा उसकी चिकित्सा की जाती, तो सप्ताहों क्या महीनोंमें भी उसे आराम न होता ।

कुछ सप्ताह हुए मेरे दाहिने हाथपर एक क्षत हो गया था । इस रोगको यहाँके लोग ' कीहिस ' कहते हैं । यह कठिनतासे अच्छे होने-वाले एक प्रकारके ददोड़े होते हैं और शरीरके ऊपर छालोंकी शक्लमें निकलते हैं । मैं पहले हमेशा मरहमद्वारा इनका इलाज किया करता था, परन्तु वे बार बार उभर आते थे । कभी ये पैरोंपर, कभी मुँहपर, कभी पीठपर और कभी हाथोंपर निकलते थे । अबकी बार मेरे बाँयें हाथपर ददोड़े निकलना शुरू हुए, उस समय मैंने यह विचार किया कि अबकी बार नवीन चिकित्सा-विज्ञानकी विधिसे इनकी चिकित्सा करूँगा, अतः मैंने पहले एक वाष्प-स्नान और उसके बाद एक उदर-स्नान लिया । दूसरे दिन केवल दो मेहन-स्नान लिये ।

ऐसा करनेसे तीसरे ही दिन वे ददोड़े मुरझा गये, जिससे यह जान पड़ता था कि ये शीघ्र नाश होनेवाले हैं । मैंने केवल हाथको ही भाप दी और फिर प्रत्येक बार मेहन-स्नान लिया । अब बायें हाथपर जहाँ ददोड़े थे, दो छोटे छोटे ज़रूम बन गये हैं । इससे यह अनुमान होता है कि इसी स्थानपर विजातीय द्रव्य खिंचकर आ रहा है और जब यह निकल जायगा तब खुजली स्वयं दूर हो जायगी ।

इस भयंकर ' कीहिस ' (Kihis) रोगसे मुक्त होनेका केवल यही उत्तम उपाय है । अब मैं हमेशा नवीन चिकित्सा-विज्ञानके अनुसार चिकित्सा किया करूँगा; क्योंकि मुझे आजतक इसके समान और कोई चिकित्सा-शास्त्र नहीं मिला है । मैं अपने मित्रोंका ध्यान भी इस नवीन चिकित्सा-विज्ञानकी ओर ही दिलाया करता हूँ ।

मेरे पास पश्चिमी आफ्रिका, आस्ट्रेलिया, हिंदर इण्डिया, दी केप, वेस्ट इंडीज आदि अनेक स्थानोंसे बहुतसे पत्र आये हैं, जिनमें मेरी नवीन चिकित्सा-विधि के द्वारा आरोग्य-लाभ होनेका वर्णन है—और बहुतसे पत्रोंमें बड़े प्रेमके साथ धन्यवाद दिया गया है ।

कुष्ठ रोग (कोढ़)

कुष्ठरोग ! वह गर्मदेशका कोड़ा ! भला हम ठंडे मुल्कवाले उसकी फटकारको क्या जानें, परन्तु जिनपर उसकी मार पड़ गई, वे सीधे कालके गालमें जा फँसे । हाय ! उनके छुटकारेके लिए कोई भी दवा न निकली । बेचारोंको और सब मनुष्योंसे अलग करके किसी टापूमें, या कुष्ठरोगके शफाखानोंमें यमराजका इंतजार करनेके लिए छोड़ दिया

जाता है। छूतके भयसे कुष्ठी अपने स्वजनों और घरसे अलग करके किसी दूर जगह रक्खे जाते हैं। बस, उनके लिए खाना पहुँचा दिया जाता है—और कुछ वास्ता नहीं रक्खा जाता।

ठंडे मुल्कोंमें कुष्ठ रोग बहुत कम होता है। जिन कारणोंसे गर्म-देशोंमें कुष्ठ रोग होता है उन्हीं कारणोंसे ठंडे देशोंमें गठिया, जलेदर आदि रोग होते हैं। जैसे खजूरका पेड़ गर्म देशोंमें और बद्धतका पेड़ ठंडे देशोंमें ही फलता फलता है, उसी प्रकार कुष्ठ रोग भी गर्म देशकी पैदाइश है।

कुष्ठरोग खुश्क और गलित दो प्रकारका होता है। गलित कुष्ठमें शरीर वर्षांतक धीरे धीरे गला करता है और अत्यन्त पीड़ा होती है। इस तरह रोग सदैव बढ़ता रहता है, यहाँतक कि अन्तमें मृत्यु ही आकर उससे पीछा छुड़ाती है।

खुश्क कुष्ठमें भी गलित कुष्ठके समान पाचन-शक्ति विगड़ती चली जाती है और शरीरके अन्य भागों (विशेषकर हाथों और पैरों) पर सड़नकी सूचना देनेवाले काले काले दाग पड़ने लगते हैं। यह आन्तरिक तीव्र ज्वरका एक खास लक्षण है। पहले उँगलीके जोड़ोंका मांस अदृष्ट हो जाता है और फिर धीरे धीरे बाकी शरीरका। यहाँ तक कि सिर्फ नम्र हड्डियाँ और जोड़ दिखने लगते हैं। शरीर पेड़की तरह सूख जाता है और पुरानी लाशकी तरह मादूम पड़ने लगता है। हड्डियाँ और जोड़ थोड़े बहुत बढ़ जाते हैं, मांस गलता चला जाता है, यहाँ तक कि अभागे मनुष्यका अस्थि-पंजर मात्र दिखने लगता है और अन्तमें वह भी क्षीण होकर रोगी मर जाता है।

कुष्ठ रोगकी उत्पत्तिका भी मुख्य कारण वही है जो अन्यान्य व्याधियोंका है; अर्थात् शरीरमें विजातीय द्रव्यका होना। वह चाहे पितृ-परम्परासे आया हो अथवा प्रकृतिके विरुद्ध आचरण करनेसे। कुष्ठ रोगकी उत्पत्तिका प्रधान स्थान पेड़ू है, अर्थात् पाचन-यन्त्रका विगड़ना है। गर्म देशोंकी गर्मी उद्वेगकी क्रियाको उत्तेजित करती है, इसलिए शरीरमें स्थित विजातीय द्रव्यमें स्वभावसे ही अत्यन्त तीव्र रासायनिक पृथक्करण होने लगता है। इससे विकृत पदार्थ शरीरके अन्त्य भागोंकी ओर बड़े वेगसे जाता है और वहाँ भीतरी दबावके कारण टढ़ ढोकर इकट्ठा हो जाता है। इसके अधिकतर संग्रह हो जानेसे अन्त्य भागोंतक फैले हुए और जीवनके संचालक नाडि-तन्तु (Nerves) बिल्कुल अवरुद्ध हो जाते हैं। वे फिर अपना काम पूरा नहीं कर सकते। इस कारण कुष्ठ-रोगियोंके हाथों-पैरोंमें सुन्नी (insensibility) पैदा हो जाती है। ऐसे रोगियोंके शरीरमें भीतर ज्वरकी बढी हुई गर्मी रहती है और बाहर ठंडका अनुभव होता है। कुष्ठकी खुश्क दशामें शरीरके अन्त्य भाग भीतरी गर्मीके कारण सूख-जाते हैं; क्योंकि पाचन-शक्तिकी मन्दतामें भले ही शरीरको कितना ही पौष्टिक आहार दिया जाय, परन्तु उससे बल प्राप्त नहीं होता। भोजन शरीरमें होकर निकल तो जाता है, परन्तु शरीरमें—रसरूपमें—परिणत न होनेसे वह रोगीके लिए निराहारके समान रहता है। इससे यह बात फिर स्पष्ट होती है कि शरीरके पोषण और रक्षाका इस बातसे कुछ सम्बन्ध नहीं है कि मनुष्य क्या खाता है और उसमें वे तत्त्व मौजूद हैं या नहीं—जिनसे, जैसा कि नई रोशनीके लोग रासायनिक-विश्लेषणद्वारा साबित करते हैं—मनुष्य-शरीर बना हुआ है; तथा जो

शरीरको बनाये रखते और पुष्टि देते हैं। मतलबकी बात इतनी है कि वह आहार जिसे शरीर वास्तवमें हضم करता है—हमारे लिए हितकर है। गलित कुष्ठमें जलोदरके समान ही रासायनिक प्रक्रिया होती है। क्योंकि अनुभवसे सिद्ध हुआ है कि इस रोगमें भी पानीके पैदा होनेसे वर्षों पहले भीतरी सड़न रहती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि पानी बनना जीवित शरीरमें होनेवाली रासायनिक प्रक्रियाओंकी अन्तिम अवस्था है। गलित कुष्ठमें भी पानी ही बनता है, तथापि वह जलोदर-से भिन्न प्रकारका होता है। इसलिए पूर्वोक्त बटेवियाके रोगीका हाल—जिसको एक साथ दिलका रोग, जलोदर और कुष्ठ था—बहुत दिल-चस्प है; क्योंकि उससे सम्पूर्ण दूषित प्रक्रियाका ठीक पता मिलता है। यद्यपि हमारे (जर्मनी) देशमें कुष्ठ रोग उस रूपमें नहीं होता है जैसा कि गर्म देशोंमें होता है, तथापि उससे बहुत कुछ मिलते जुलते नमूने हमें यहाँ भी दिखाई देते हैं। विशेषकर क्षयरोग उससे मिलता जुलता ही है। इस रोगमें, ठंडे देशोंमें, शरीरस्थ विजातीय द्रव्यकी गति अत्यन्त वेगके साथ अन्त्य भागों तक उस प्रकार नहीं होती, जैसी कि कुष्ठरोगमें गर्म देशोंमें हुआ करती है। इसलिए वहाँ विजातीय द्रव्यमें भीतर ही भीतर उद्वेग-क्रिया होने लगती है और वह फेफड़ों तथा दूसरे भीतरी यन्त्रोंको नष्ट करने लगती है।

कुष्ठ रोगकी चिकित्साके सम्बन्धमें ओषधि-विज्ञान तो साफ साफ यह कहता है कि इस रोगको कोई चिकित्सा ही नहीं है; इसका कारण यह है कि वह ज्वरकी प्रकृतिसे अपारिचित है और कुष्ठको ज्वरसे सम्बद्ध रोग नहीं समझता। कुष्ठ रोग उसी समय दूर हो सकता है जब कि ज्वरकी चिकित्सा की जाय और विजातीय द्रव्यको निकाल बाहर

किया जाय । जब यह असम्भव हो तब पूर्ण आरोग्यताकी आशा नहीं की जा सकती । केवल रोगीकी दशामें कुछ सुधार हो सकता है और यही सबसे बड़ी सफलता है ।

ओपधि-चिकित्सा शरीरको स्वयं रोगसे भी अधिक हानि पहुँचाती है । बटेवियावाले रोगीके वृत्तान्तसे बढ़कर असरकारक इसका प्रमाण दूसरा नहीं मिल सकता । उस रोगीके कुष्ठके निष्क्रिय कृमि (Inactive Lepa bacilli)—जिनके अस्तित्वका एक सुप्रसिद्ध कुष्ठ-चिकित्सकने बड़े विचारके साथ निदान किया—विपैली अथवा अन्य ओपधियों तथा चिकित्सासे नष्ट नहीं हो सके ।

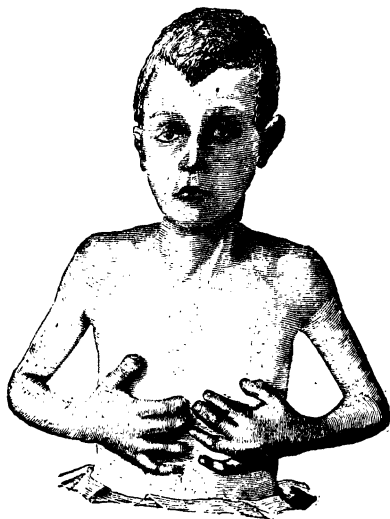
अब आप मेरे इलाजकी सफलताकी उस चिकित्साके साथ तुलना कीजिए । मेरी चिकित्सासे वे सब कृमि सर्वथा नष्ट हो गये, और इस बातको उक्त चिकित्सकने पूरी तरह स्वीकार किया । यह रोग केवल सीधा सादा आहार और ठंडे स्नानोंसे ही दूर हो सकता है । यह अवश्य है कि आरोग्यता तभी हो सकती है जब कि पाचन-शक्ति और त्वचाके कामोंमें कुछ सुधार हो सके और जीवन-शक्ति पर्याप्त रूपसे विद्यमान हो ।

यह बात भी स्पष्ट हो चुकी है कि मेरी विधिसे चिकित्सा करनेसे कुष्ठ-रोगियोंकी छूतका भय भी नहीं रहता । यह बात उन्हें जानना आवश्यक है जो छूतसे डरते हैं; किन्तु साथ ही उनको यह भी जानना आवश्यक है कि वे सदैव प्राकृतिक आहार करें और मेरे बताये स्नानों-द्वारा शरीरको बलिष्ठ तथा नवीन बनावें । मेरे स्नान शरीरके विकृत पदार्थको निकालकर उसे बिल्कुल स्वच्छ कर देते हैं । ऐसी अवस्थामें मनुष्य छूतके भयसे ही नहीं बचे रहते, बल्कि वे अपनी

शारीरिक और मस्तिष्कसंबंधी सामान्य स्थितिको भी हर प्रकारसे उन्नत बना सकते हैं ।

औषध-सम्प्रदायके डाक्टर लोग स्वाभाविक चिकित्सा-विधिके गुणोंसे कितने अनभिज्ञ हैं, यह बात इससे प्रत्यक्ष होती है कि वे रोगीके कमरेके सम्पूर्ण रोशनदान, खिड़कियाँ आदि बड़े यत्नके साथ विशेषकर रातको इस लिए बन्द करवा देते हैं कि उस कमरेमें किसी समय स्वच्छ वायु न जा सके । अतएव रोगीके कमरेकी हवा सदैव कुष्ठियोंके साँसे और उद्भिन्न होनेवाले विकृत पदार्थसे भरी रहती है । फिर यदि इस रोगसे दूसरेको छूत लग भी जाय तो आश्चर्य ही क्या है ।

कुष्ठ-रोगियोंका हाल सुनानेसे पहले मैं यह बता देना चाहता हूँ कि मनुष्य कुष्ठसे अथवा और बीमारियोंसे मसलन मौसमी या मलेरिया ज्वरोंसे किस तरह अपने आपको बचा सकता है । कमसे कम यह तो होगा कि रोग चाहे कितना ही बिगड़ा हुआ क्यों न हो छूतका खतरा न होने पावेगा और उपद्रव न उठ सकेंगे । जैसा कि पहले कहा जा चुका है जिस मनुष्यका झुकाव इन रोगोंकी ओर होता है; अर्थात् जिसमें विजातीय द्रव्यका अधिक भार होता है वही मनुष्य इन रोगोंका शिकार होता है । कोई भी कारण—जो संग्रह हुए विकृत पदार्थमें उत्तेजना पैदा करता है—उसमें एक नये सिरसे उद्वेग (उपशम-संकट या क्योरेटिव क्रॉसिस) उत्पन्न करके जीवनको संकटमें डाल देता है । ऐसे भयंकर रोगकी ओर हुई मनुष्यकी प्रवृत्तिको वर्यौ पहले मेरा मुखाकृति-विज्ञान बता देता है । किन्तु जो इस विज्ञान-शास्त्रको नहीं भी जानते हैं, वे भी इस प्रवृत्तिको थोड़ा बहुत समझ सकते हैं । क्यों कि दयामयी प्रकृति



चित्र नं० १ (उम्र १५ वर्ष)

माताने प्रत्येक मनुष्यको यथार्थ वात समझनेके लिए स्वभाव-बुद्धि (instinct) दे रखी है। यह दूसरी बात है कि दुर्भाग्यसे आजकल बहुतसे मनुष्य उसका उपयोग नहीं कर सकते। अतएव ऐसे मनुष्योंकी स्वाभाविक बुद्धि जो कि दुर्द्रव्यके भारसे लदे हुए हैं ऐसे सांसारिक रोगोंकी ओरसे उन सब लोगोंके चित्तमें एक छिपा हुआ भय और एक छिपी हुई घृणा पैदा कर देती है, बशर्ते कि वे प्रकृतिके साथ मेल करके चलते हों।



चित्र नं० २ (उम्र १३ वर्ष)

इसके पश्चात् अब मैं कुष्ठ रोगमें फँसे उन तीन बालकोंकी दशाका वर्णन करता हूँ जिनको बर्लिनके तथा और शहरोंके बड़े बड़े डाक्टरोंने असाध्य बतलाकर छोड़ दिया था और अन्तमें जो मेरे पास चिकित्साके लिए लाये गये।

उन तीनों बालकोंकी आयु क्रमशः ९, १३ और १५ वर्षकी थी। इनकी चिकित्सासे अपनी नवीन चिकित्सा-प्रणालीको महत्त्व प्राप्त होनेका अवसर हाथ आया जानकर और विशेषकर इस लिए कि वे प्रसिद्ध प्रसिद्ध डाक्टरोंके छोड़े हुए थे मैंने उनकी चिकित्सा की। इन

रोगियोंकी ओर जनताका ध्यान खींचनेके ख्यालसे मैंने इनके ७ फोटो खिंचवा लिये थे ।



चित्र नं० ३ (उम्र ९ वर्ष)

चिकित्साके आरम्भ-कालमें इनकी दशा अत्यन्त शोचनीय थी । हाथोंकी अँगुलियोंके पोरे और किसी किसी अँगुलीकी दूसरी गाँठ भी गल गई थी । अँगुलियोंका बाकी हिस्सा बहुत फूला हुआ था और गिरनेको तैयार था, जैसा कि चित्रोंसे साफ़ ज़ाहिर है । (चित्र नं० ३-४) सबसे छोटे लड़केकी दाहिने हाथकी तर्जनीका कुछ भाग गलकर गिर रहा था और उससे बड़े दोनों लड़कोंके पैरोंकी दशा इससे भी अधिक भयंकर थी । (चित्र नं० ६ और ७ देखो) वे बेशकल डिम्मा-

से बन गये थे, जिनमें विकृत पदार्थ बहुत अधिक भरा हुआ था। उनमें कई जगहका मांस गल चुका था तथा हड्डीतक बड़े बड़े गहरे व्रण हो गये थे, जिनमेंसे पीत्र निकलती रहती थी। कोहनीतक हाथ और घुटनोंतक पैर बिल्कुल सुन्न पड़ गये थे। बर्लिनके एक डाक्टर-ने उनकी सुन्नी देखनेके लिए उन बालकोंके हाथोंको बाँहोंतक (अर्थात् जहाँतक चुभानेसे पीड़ा मादूम हुई वहाँतक) एक बड़ी सी सुईसे छेद डाला; किन्तु जबतक सुई कोहनीतक न पहुँची दर्द न मादूम हुआ। यह दर-असल बड़ी भारी सफलता थी। बालकोंकी ऐसी बुरी दशा थी कि तीन सप्ताह तक इलाज किये वगैर उनका फोटो लेना असम्भव था। इतने समयमें उनकी दशा बहुत अच्छी हो गई थी। इससे पहले उनकी अत्यन्त निकृष्ट अवस्थामें अङ्गोंका सचित्र वर्णन असम्भव था।



चित्र नं० ४ (चित्र नं० ३ के हाथ)

बतौर इलाजके उन बालकोंको रोज़ दो-तीन बार घर्षणयुक्त मेहन-
स्नान और प्रायः घर्षणयुक्त उदर-स्नान कराया जाता था। प्राकृतिक सादा
भोजन और खुले स्थानकी हवामें काफी व्यायाम तथा पसीना लानेका
प्रयत्न किया जाता था। इसका उनपर अद्भुत प्रभाव हुआ। चिकि-
त्साके आरम्भमें उन बालकोंके शरीरमेंसे बड़ी घृणित वायु निकलती
थी। चिकित्साके मध्यकालमें वह बिल्कुल असह्य थी, जिसमें रासायनिक
विश्लेषण या पचनकी बड़ी भारी दुर्गन्ध आती थी। शरीरमें भरा हुआ विकृत
पदार्थ चलायमान होकर बाहर निकलनेके लिए रास्ता ढूँढ़ता था। यह
दशा स्नान लेते समय और भी अधिक होती थी।

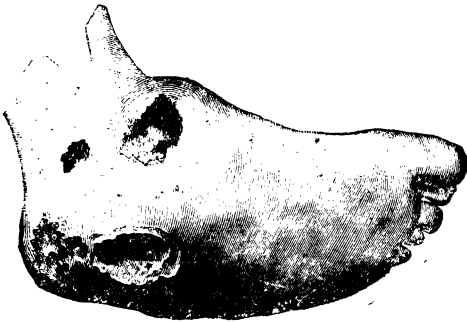


चित्र नं० ५ (चित्र नं० २ के हाथ)

खानेमें उनको प्रातःकाल बिना छाने मोटे आटेकी सूखी रोटी और
थोड़े सेव और सायंकालको केवल पानीमें उबाले हुए अन्नका कोई
सादा पदार्थ—शाक और दाल, बहुत थोड़ा-मक्खन और नमक डाल-
कर—दिया जाता था। सब प्रकारके मद्य, मांस आदि उत्तेजक पदा-
र्थोंका परहेज रक्खा गया। दाल, शाक आदि पदार्थ यथासम्भव गाढ़े

बनाये जाते थे और बिना छुने आटेकी सूखी रोटीके साथ खिलाये जाते थे । पीनेको केवल ताज़ा पानी दिया जाता था ।

इस प्रकारसे १५ दिनमें ही पैरोंके घावोंका बहना बन्द हो गया और भीतरसे नवीन मांस आनेसे वे भरने लगे । दोनों बड़े लड़कोंके उस समय भी एक एक बड़ा व्रण था, जो अगले महीने तक नहीं भरा था । इसके अतिरिक्त उसी समय हाथोंमें भी एक बड़ा परिवर्तन हो गया । उँगलियाँ दूसरे ही महीनेसे पतली पड़ने लगीं, जैसा कि त्वचामें झुर्रियोंके पड़नेसे साफ़ मालूम होता था । अन्त्यभागोंकी ओर विकृत पदार्थ पहले जैसे गया था ठीक उसी तरह अब पेड़की ओर लौटने लगा । इस बातका अनुभव रोगियोंको अपने हाथ, पैर, बाँहों



चित्र नं० ६ (चित्र नं० १ का पैर)

और टाँगोंमें (विशेषकर जोड़ोंमें) खिंचावके साथ पीड़ाके होनेसे साफ़ तौरपर प्रतीत होता था ।

मेरी चिकित्साके आरम्भ-कालमें सबसे बड़ा लड़का खास अपने पहननेका जूता भी नहीं पहन सकता था जो कि खास उसीके लिए बन-



चित्र नं० ७ (चित्र नं० २ का पैर)
वाया गया था । किन्तु चार सप्ताहके बाद ही वह मामूली चमड़ेका

जूता पहननेके योग्य हो गया। सुन्न अंगोंमें अब स्पर्श शक्तिका संचार होने लगा। यह सफलता पाचन-शक्तिके सुधर जानेसे ही हुई थी।

मेरी चिकित्साके आरम्भमें इन बालकोंको शायद ही कभी भूख लगती थी, किन्तु एक सप्ताहमें ही उनकी भूख इतनी बढ़ गई कि उनको काफी भोजन मिलना भी मुश्किल हो गया। कारण, उनकी पाचन-शक्ति फिरसे जग उठी थी।

इस तरह उन तीनों बालकोंकी हालत इतनी सुधर गई जिसका पहली हालतसे कोई मुकाबिला ही नहीं हो सकता था। जो बेचारे मृत्युकी वाट देख रहे थे, अब अत्यन्त प्रसन्न और सुखी मादूम पड़ने लगे।

इन उदाहरणोंसे यह ज्ञात होता है कि कुष्ठ जो साधारणतया असाध्य समझा जाता है, मेरी चिकित्सा-विधिके द्वारा दूर हो सकता है, जैसा कि जावा-देशवासी रोगीके आरोग्य होनेसे प्रमाणित होता है। इसका वर्णन पीछे हो चुका है।

मुझे अपनी चिकित्सासे जो सफलतायें प्राप्त हुई हैं उनकी पुष्टि में मैं यह निसन्देह कह सकता हूँ कि “कुष्ठका भी वही कारण है जो अन्यान्य रोगोंका है।” केवल कुष्ठके वे रोगी आरोग्य नहीं हो सकते, जिनका रोग बढ़ते बढ़ते अन्तिम दशाको पहुँच गया है, अर्थात् जिनके अङ्गोंकी प्राकृतिक जीवनी-शक्ति नष्ट हो गई है। ऐसे अभागे मनुष्योंको भी मेरी चिकित्सा प्रत्येक दशामें कुछ न कुछ लाभ अवश्य पहुँचायेगी और उनका कष्ट कम कर देगी, जिससे बिना कष्टके शान्ति-पूर्वक उनका देहान्त हो सकेगा।

खुजली, भिन्न भिन्न प्रकारके कृमियोंसे होनेवाले रोग, आँतका उतरना

यहाँ हमने फिर ऐसी कुछ व्याधियोंको एक जगह रक्खा है जो कि बाहरी लक्षणोंसे तो बिल्कुल अलहदा अलहदा दीखती हैं; परन्तु जिनकी उत्पत्तिका हेतु एक ही है। मेरा यह कथन उन इलाजोंसे—जो कि मेरी चिकित्साशाला में दीर्घकालसे हो रहे हैं—निर्विवाद सिद्ध होता है। जब हम खुजलीकी और उससे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य दूसरी बीमारियों (Parasitic Diseases) की चिकित्साका आरम्भ करें, तो उससे पहले हमें यह भले प्रकारसे देख लेना चाहिए कि वास्तवमें खुजलीका कीड़ा किस प्रकार पैदा होता है और उसकी प्रकृति क्या है।

इस बातको सब जानते हैं कि वसन्तऋतुमें—जो कि सालके भीतर वह समय है जब कि प्रकृति जीवनी शक्तिका सबसे अधिक संचार करती है—एक ही दिन गर्मी पड़नेपर, पेड़ोंके नवीन हरे हरे पत्तोंपर असंख्य कोपस्थ कृमि पैदा हो जाते हैं। देखनेकी बात यह है कि वे नये नये सुन्दर पत्ते हमारे सामने उजड़ जाते हैं, लेकिन हम कुछ नहीं कर सकते। फिर एक रातको ठंड पड़ती है और वे कृमि उसी तरह काफूर हो जाते हैं जिस तरह कि वे एकदम पैदा हुए थे। प्रकृति एक ही रातमें गर्मीको कम करके बिल्कुल असंभव काम कर दिखाती है। सभी प्रकारके कृमि प्रकृतिके इन्हीं नियमोंके अनुवर्ती हैं।

इन अनुसंधानोंका यह तात्पर्य निकलता है कि खुजलीके कीड़े, पेटके गेंडुए, जूँ, लीख आदि अन्य अनेक प्रकारके कृमि तभी हो सकते हैं जब कि उनको उपयुक्त पोषक माध्यम मिलता है। ऐसा माध्यम

केवल एक रोगी शरीर ही हो सकता है, जहाँ विकृत पदार्थ भरा हो। इसके सिवा यह बात है कि इन जीवोंका होना वहीं सम्भव है जहाँ निश्चित ऊँचा तापमान हो; और अनुभवसे यह साबित है कि वह अधिक तापमान केवल उसी शरीरमें मिल सकता है जिसमें कि विजातीय द्रव्य भरा हो। यदि हम उस बड़ी हुई गर्मीको घटाकर औसतके भीतर ला सकें और साथ ही दुर्द्रव्य-रसको शरीरसे बाहर निकाल सकें, तो उन कृमियोंकी सृष्टि बन्द हो जाय और वे एकदम नष्ट हो जायँ।

जिसने मेरे व्याख्यानोंको ध्यानके साथ सुना है वह मनुष्य यह समझ जायगा कि भीतरकी गर्मीको कम करनेका साधन केवल शीतल स्नान, सादा आहार और मेरी दूसरी प्रसिद्ध युक्तियाँ हैं। इन सब क्रियाओंका प्रयोग विकृत पदार्थके परिमाण और मनुष्यकी अवस्थाके अनुसार अलग अलग करना चाहिए। मेरी दृष्टिमें तो इन रोगोंका कारण भी वही है जो कि अन्य साधारण व्याधियोंका है, इसलिए इनकी चिकित्सा भी वही एक होनी चाहिए जो कि अबतक दूसरी बीमारियोंमें भी असफल नहीं हुई है। औषधोपचार तो शरीरको अधिकाधिक हानि पहुँचाता है।

एक सज्जन अपनी आँतोंमें अनेक तरहके कीड़े हो जानेके कारण कष्ट पा रहे थे। साथ ही उनके पाचन और वात-संस्थान भी बिगड़ रहे थे। इन कष्टोंके कारण उन्हें मृत्यु सामने खड़ी दीखती थी। वह भीतर ही भीतर क्षीण होते जाते थे। उनका मल छोटे छोटे कृमियोंसे भरा रहता था। मेरी चिकित्साके करनेसे उन्हें बहुत जल्दी शान्ति मिली। दूसरे ही महीनेमें रोगका असली कारण दूर हो गया, इसलिए

कृमि नष्ट हो गये। चूँकि रोगीने चिकित्साको जारी रक्खा, इससे उसका मन्द रोग पूर्ण आरोग्यताके रूपमें बदल गया।

केवल भीतरी गर्मीको घटाने और इस तरह विजातीय द्रव्यको बाहर निकाल देनेसे वह उद्वेग शान्त हो गया, जिसने पेटमें कीड़े पैदा कर रक्खे थे। यह बात उदर और मेहन-स्नानके देनेसे, पसीना लानेसे और अनुत्तेजक आहार खिलानेसे हो सकी।

दूसरा उदाहरण खुजलीका है, जो प्राचीन औषध-पंथका स्वरूप ठीक ठीक बतलाता है। एक १७ वर्षका लड़का खुजलीसे अत्यन्त दुखी था। उसने अनेक चिकित्सालयोंमें चिकित्सा कराई, किन्तु कुछ भी लाभ नहीं हुआ। अन्तमें तानेके रूपमें एक प्रोफेसरने उसे मेरे पास जानेकी राय दी। अपनी गरजमें बावला, दुखी और डाक्टरोंकी असफलतासे खिन्न उस लड़केने उसकी राय मान ली। रोगीके हाथों और पैरोंकी दशा अत्यन्त भयंकर थी। मैंने अपने मुखा-कृति-विज्ञानसे यह देख लिया कि रोगी दीर्घ कालसे एक प्रकारकी उदरकी व्याधिसे पीड़ित था, जो उसकी पाचन-शक्तिका हास होनेसे पैदा हुई थी। इस तरह बिगड़ा हुआ उसका रस और अशुद्ध रक्त ही खुजलीको बढ़ानेवाले कीड़ोंके रहनेका योग्य माध्यम है। खुजलीके कीड़ोंकी तुलना ब्रेसिलाईसे की जा सकती है। ये दोनों वहीं अधिक बढ़ते हैं जहाँ सड़नकी क्रिया हुआ करती है। क्योंकि बिना योग्य पोषक माध्यमके मिले वे जीवित नहीं रह सकते।

इस रोगमें भी उदर स्नान, मेहन-स्नान, कभी कभी वाष्प-स्नान और स्वाभाविक आहार उत्तम चिकित्सा साबित हुई है। इससे पाचन-शक्ति शांति ही सुधरी और साथ ही साथ कीड़ोंके पोषक माध्यमके कम हो जानेसे खुजली कम होने लगी। सूक्ष्मीक्षण यन्त्रकी परीक्षासे स्पष्ट

मादम होता था कि खुजलीके कृमि नष्ट हुए चले जाते हैं। तीन सप्ताह-के प्रयत्नसे किसी किसी स्थानमें कोई कोई कृमि शेष रह गये, और चौथे सप्ताहमें तो उनका चिह्न भी न रहा। रोगीकी सूरत इतनी बदल गई थी कि वह पहचाननेमें नहीं आता था। केवल प्रकृति देवीने स्वतः ऐसा अद्भुत कार्य कर दिखाया, जो बड़े बड़े सरकारी सनदयाफता डाक्टर न कर सके और यह उसी प्रकार किया गया जिस प्रकार अन्य बीमारियोंमें किया जाता है। किसी भी ओषधि या शस्त्र-क्रियाकी मदद नहीं ली गई।

आँतका उतरना—पेटके अन्दर विजातीय द्रव्यका अधिक भार होना तथा उस प्रदेशमें तनाव होना आँत उतरनेका कारण है। पेटके निम्न प्रदेशमें जहाँ कहीं थोड़ी भी रुकावट होती है, आँत भीतरी दबावसे बाहरकी ओर धक्का देती है और बाहर निकल पड़ती है। आँत बाहर निकलनेके छिद्रका स्थान एकसा नहीं होता है, किन्तु सबका कारण एक ही है। सिर्फ चोट लगने या गिरने आदिसे यह बात पैदा नहीं हो सकती। हाँ, ये बाहरी कारण कहे जा सकते हैं। मेरी चिकित्सासे विजातीय द्रव्य शरीरसे बाहर निकल जाता है और यह रोग आराम हो जाता है। रोग दूर करनेके लिए पेटी पहनना बिल्कुल अपर्याप्त है और इसी लिए अनावश्यक है।

इस रोगमें भी मेरी यह चिकित्सा बहुत अधिक कामयाब हुई है। इससे रोगोंकी एकताका सिद्धान्त सिद्ध होता है, जो हमें असहाय अवस्थामें कभी नहीं छोड़ता। चिकित्सामें कितना समय लगेगा, यह बात विजातीय द्रव्यके भार और रोगकी प्राचीनतापर अवलम्बित है। इसके अलावा बूढ़े आदमीको जिसमें जीवनी शक्तिकी कमी है उतनी पूर्ण आरोग्यता प्राप्त नहीं हो सकती जितनी कि जवानको।

सर्तान और दूषित मांस

Cancer. Proud Flesh

सर्तानसे, जो कि एक भयानक रोग है, हर कोई बहुत डरता है। उसकी निस्वत यह समझना भूल है कि वह बाहरी कारणोंसे पैदा होता है अथवा उन विगाड़ोंसे पैदा होता है जो कि दर असल कारण न होकर कार्य या परिणाम होते हैं। बल्कि इसका कारण बिल्कुल दूसरी प्रक्रियाओंमें ढूँढ़ना चाहिए जो कि शरीरके भीतर ही होती हैं और इस सर्वनाशकारी रोगका तात्कालिक हेतु कहलाने लगती हैं। जलोदर और यक्ष्माकी तरह सर्तान भी अपनी पूर्ववर्ती अच्छी न की जाकर शरीरके भीतर ही दबाई गई बीमारियोंकी शृंखलाकी अंतिम कड़ी है। यह हमेशा किसी दारुण रोगका अनुगामी हुआ करता है; विशेषकर उपदंश जैसे किसा जननेन्द्रिय-सम्बन्धी रोगका। वह रोग चाहे अपने आप पैदा हुआ हो या कहींसे आया हो, यह कोई विशेष गौरकी बात नहीं है। गौरकी बात केवल यही है कि शरीरमें विजातीय द्रव्यका आस्तित्व है जो कि बाहर निकलनेका कोई न कोई मार्ग ढूँढ़ता है और जिसकी अन्तिम अवस्था, वह गौंठ, रसोली, नासूर आदि सड़नदार घाव हैं जो मनुष्यके लिए महाभयरूप हैं। सर्तान रोगकी ओर प्रवृत्ति मेरे मुखाकृति-विज्ञानद्वारा वर्षों पहलेसे जान ली जा सकती है। क्योंकि सर्तानके होनेसे बहुत पहले गर्दनके ऊपर गुमड़ियाँ—गौंठें इत्यादि होती हैं। इसके बाद सारे शरीरमें ही उस प्रकारकी अनिष्ट वस्तु पैदा हो जाती है और विशेषकर पेड़ोंमें बबासीरकी किस्मके फैले हुए मस्से अधिकतासे बन जाते हैं। ये मस्से बढ़ते

बढ़ते इतने बढ़ जाते हैं कि पाचनकी नालीको रोक देते हैं, जिससे फिर स्वाभाविक रूपसे मलका निकलना बन्द हो जाता है। सर्तानके अनेक रोगियोंमें—जिनका मैं इलाज कर चुका हूँ—यह देखा गया है कि उनका हाज्मा बिल्कुल निकम्मा हो रहा था। विना ओषधि या एनीमाके उन्हें कभी दस्त न होता था। यह भी प्रायः देखा गया है कि दस्तोंकी दवा और खासकर गोलियाँ बहुत कालतक सेवन करनेसे रोगियोंके शरीरके भीतर एक प्रकारके सड़नवाले व्रण पैदा हो जाते हैं, जिनका अंतिम परिणाम क्षय और विशेषकर सर्तान रोग होता है। वर्षोंतक तो शरीर इन दस्तावर ओषधियोंको और पेड़ोंमें रहनेवाले पाचनसम्बन्धी स्नायुओंकी उत्तेजनाको सहन करता रहता है, परन्तु आहिस्ता आहिस्ता स्नायु इतने उत्तेजित हो जाते हैं कि वे और अधिकाधिक उत्तेजनाके विना अपना काम नहीं कर सकते। वस, फिर परिणाममें सर्तान जैसे भयंकर रोग पैदा हो जाते हैं। क्षय और जलोदर आदि रोग-शृंखलाकी अंतिम कड़ीरूप महा भयंकर बिगाड़ोंके समान सर्तान रोग भी अस्वाभाविक जीवन, अधिक और गरिष्ठ भोजन और स्नायुओंको भड़कानेवाली वस्तुओं या ओषधियोंके व्यवहारसे पैदा होता है। व्याधि-शृंखलाओंकी अंतिम कड़ी-रूप अन्य ऐसी ही महाव्याधिओंके समान इस भयंकर व्याधिका भी इलाज एलैपैथिक डाक्टरोंकी शक्तिसे बाहर है। यह देखकर दुःख होता है कि डाक्टर लोग किस प्रकार सर्तान रोगको सिर्फ बढ़े हुए मांसपर शस्त्र-क्रिया करके तथा कास्टिकोंसे दूर करनेकी कोशिश करते हैं जैसा कि स्वर्गीय बादशाह फेड्रिकके साथ हुआ था। वे इस बातका पता लगाना भूल जाते हैं कि यह नवीन वृद्धि कहाँसे हो रही है।

वास्तवमें उनको रोगकी प्रकृति तथा असलियतका पता ही नहीं होता, नहीं तो वे इस रोगके केवल अन्तिम लक्षण, अर्थात् विकृत पदार्थकी सड़ी हुई शक्ल, यानी मांसकी नई बढवारको ही अपने इलाजका निशाना न बनाते। वे जरूर यह सोचते कि मांसकी वृद्धिका कोई भीतरी कारण अवश्य है और हमें उसी कारणको दूर करनेकी ओर ध्यान देना चाहिए।

हर प्रकारके सड़े घावोंके समान सर्तानमें भी प्रायः असह्य वेदना और चित्तमें खिन्नता हुआ करती है। इस वेदनाको शमन करनेके लिए बहुधा सनातनी डाक्टर लोग रोगीके मार्फियाकी सुई लगा देते हैं। इससे कुछ समयके लिए चैन तो पड़ जाता है, परन्तु इसकी कीमत सारे शरीर और नाडि-जालको बहुत गहरी हानि उठाकर देनी पड़ती है, जो बादमें मादूम होती है। एक रीछने अपने स्वामीकी नाकपरसे मक्खी उड़ानेके लिए उसपर पत्थर फेंके थे और मक्खीके मरनेके साथ बेचारा मालिक भी मर गया था। डाक्टरोंका यह काम ठीक उस रीछके समान होता है।

जब कि मेरी खान-विधि एक ऐसा स्वाभाविक साधन है जो कि दर्दको मार्फियाकी बनिस्वत बहुत अच्छी तरह दूर कर सकता है और साथ ही साथ शरीरके अवयवोंको भी लोहेके समान बलिष्ठ बना देता है, तो हमको विपैली ओषधियोंका उपयोग करनेकी क्या आवश्यकता है? मार्फियाका प्रभाव भी इस विधिसे दूर हो जाता है। सर्तान रोगमें नशीली वस्तुओंके सेवन करनेकी विशेष इच्छा होती है, जैसा कि डिपसोमेनिया (Dipsomania—जिस रोगमें मद्यपान करनेकी बड़ी इच्छा होती है) रोगमें भी होता है जो कि भीतरी दाह और सड़नसे पैदा होती है।

यह केवल प्राकृतिक चिकित्साद्वारा ही सम्भव है कि ऐसी वस्तुओंका हुड़का बन्द हो जाय।

तीसरे भागमें घावोंकी चिकित्साके प्रकरणमें जहाँ बहते हुए घावोंका वर्णन है, वहींपर सर्तानकी प्रकृति और कारणोंका वर्णन भी 'खुले घाव' के शीर्षकके नीचे विस्तारसे किया गया है। यहाँ तो केवल सर्तानकी चिकित्साके प्रास्पेक्टसके तौरपर कुछ उपयोगी बातें कही जाती हैं। पहले तो इस बातकी कुछ पर्वाह नहीं करनी चाहिए कि यह रोग किस रूपमें और किस स्थानपर प्रकट होता है, रोग जिह्वामें है या छातीमें, गर्भाशयमें है या मेदामें, या किस स्थानमें है और आरोग्यताकी कितनी आशा की जा सकती है। आरोग्य इसपर जरा भी अवलम्बित नहीं है कि रोग किस शक्लमें प्रकट होता है; क्योंकि सम्पूर्ण भिन्न भिन्न रोगोंका एक ही कारण है। शरीरमें दुर्द्रव्य अपने परिमाणके अनुसार अपनी जगहसे चलायमान हो जाता है। इस गति-पर कुछ तो उद्वेगके मार्गका प्रभाव पड़ता है और थोड़ा बहुत प्रभाव उस दबावका भी पड़ता है जो कि उद्वेगके कारण पैदा हो जाता है।

मेरी चिकित्सा-विधिसे सर्तान रोग अच्छा हो सकता है। परन्तु आरोग्यताको निश्चित तभी समझना चाहिए जब कि पाचन-शक्ति अच्छी हो और जीवन-शक्ति संकटोंको झेलने योग्य हो; क्योंकि शोधनका होना अनिवार्य है। इस रोगकी चिकित्सा केवल वे ही लोग पूर्णरूपसे कर सकते हैं जो मेरी चिकित्सा-विधिको पूरे और अच्छे प्रकारसे जानते हैं; क्योंकि यह रोग भी क्षय और जलोदरकी तरह अत्यन्त भयंकर और कष्टसाध्य है।

एक सज्जन, जिसकी आयु ५० वर्षकी थी, नाकके सर्तान रोगसे पीड़ित था। उसने बड़े बड़े प्रसिद्ध डाक्टरोंसे चिकित्सा कराई; किन्तु

वे निदान करनेके सिवाय और कुछ भी लाभ न पहुँचा सके। क्योंकि उनको रोगका कारण और उसकी प्रकृतिका ठीक पता ही नहीं था। उन्होंने अनेक तीक्ष्ण और विषैली ओषधियाँ उसकी नाकपर लगाई जिससे कि स्थानिक सर्त्तान दूर हो जाय। परन्तु जैसे कोई पेड़ वहींपरसे नहीं टूट जाता जहाँसे कि कोई शाखा गली या सड़ी होती है, यही बात सर्त्तान रोगकी भी है। जहाँ बाहरको सड़ा गला मांस बढ़ जाता है, केवल उसीका नाम सर्त्तान रोग नहीं है, बल्कि वह स्थान तो ऐसा है, जहाँ रोग सबसे अधिक बढ़ा हुआ होता है। शाखाका सड़ना पेड़की कोई स्थानिक बीमारी नहीं है। इसका तो हमको तब पता चलता है जब कि दरख्त गिर पड़ता है। इसी तरह डाक्टरको भी यदि पहचान है तो वह लाशको चीरकर यह जान सकता है कि सर्त्तानके रोगीका सम्पूर्ण शरीर रोगी होता है। यदि वे इस बातका पहले ही ज्ञान प्राप्त कर लें, तो रोगीको अवश्य लाभ हो सकता है।

मेरे रोगीकी पाचन-शक्ति वर्षोंसे बिगड़ी हुई थी; परन्तु आश्चर्य है डाक्टरोंकी इधर दृष्टि ही न गई थी। वे केवल रोगीकी नाकहीकी चिकित्सा करते रहे। यदि उन्हें मेरे मुखाकृति-विज्ञानका तनिक भी ज्ञान होता, तो वे नासिकाकी सड़नसे रोगीके पेड़के भीतरकी वैसी ही निकृष्ट दशाको समझ लेते। भाग्यवश जब रोगीको स्थानिक चिकित्सासे लाभ होनेकी आशा जाती रही, तब वह आशावादी स्वभावका होनेके कारण खुशी खुशी आशापूर्ण हृदयसे मेरे पास आया। उसकी नाक और ऊपरका होठ पूरे गल गये थे, नाककी नोक भी लुप्त होने वाली थी और नाकके चर्मका रंग भी सड़न प्रकट करता था। उसको कब्ज अधिक रहता था, पेशाब भी अनियमित रूपसे होता था, साथ

ही पेशाबका दर्द भी कभी कभी बहुत होता था । परन्तु यह बात अच्छी थी कि वह इन उपद्रवोंके होनेपर भी हमेशाके लिए हतोत्साह नहीं हो जाता था ।

उसपर मेरी चिकित्साने जल्दी लाभ दिखाया, क्योंकि उसकी जीवनी-शक्ति काफी थी । विशेषकर उसकी पाचन-शक्ति और दूसरे लक्षण भी शीघ्र सुधरने लगे । प्रत्येक सप्ताहमें सर्त्तान विना स्थानिक चिकित्साके ही कम होने लगा । पहले तो नाकपर लाली बढ़ी और वह चार महीनेमें ठीक हो गई । इसी बीचमें होंठ और नासिका भी भीतरसे अच्छी हो गई और घावका कोई चिह्न न रहा ।

उस रोगीकी चिकित्सामें ऐसा अनुत्तेजक और शुष्क आहार दिया गया, जो उसकी पाचन-शक्ति तथा उसकी दशाके अनुकूल था । उदर-स्नान, मेहन-स्नान और प्रतिसप्ताह एक दो बार सम्पूर्ण अङ्गको या सिरको ही वाष्प-स्नान दिया गया । जब रोगीको दर्द और सोजिश वर्दास्त न होती थी, तब उसको दो दो घंटे पीछे स्नान कराये जाते थे । स्नान करते समय रोगीकी पीड़ा बहुत कम हो जाती थी और उसको आराम मालूम होने लगता था । दूसरे ही दिन भीतरका सड़न-युक्त प्रदाह नीचेकी ओरको चल पड़ा और उस स्थानपर घावके रूपमें प्रकट हुआ जहाँ कि मेहन-स्नानके समय घर्षण किया जाता है । इससे रोगीको बहुत ही चिन्ता हुई, क्योंकि उस घावमें बहुत पीड़ा होती थी । किन्तु मैंने रोगीको यह समझा दिया कि तुम यदि आरोग्य होना चाहते हो, तो रोगको समूल नष्ट करनेवाली इस चिकित्सा-विधिसे होनेवाले कष्टको शान्तिपूर्वक सहन करो, नहीं तो निश्चित मौतका दर्वाजा तुम्हारे लिए खुला ही हुआ है । मैंने उसको यह

भी दिखा दिया कि सोजिश जितने परिमाणमें उसके नई जगह प्रकट हुई है उतनी ही नाकसे कम भी हो गई है । इस बातको रोगीने स्वीकार किया और आगेको उसने बिल्कुल मेरी आज्ञाके अनुसार चलनेका निश्चय कर लिया । इस तकलीफ़से जल्द छुटकारा पानेकी यही विधि उसे अच्छी मालूम हुई कि बार बार स्नान लिये जायँ और ऐसा ही किया गया । इस चिकित्सा-विधिका नियमानुसार पालन करनेसे उसको मनोवाञ्छित फलकी प्राप्तिके साथ अत्यन्त प्रसन्नता हुई ।

चिकित्सा करते समय रोगीके पुराने गुर्देका रोग उभरा, जो कुछ दिन तक रहा । फिर एक जननेन्द्रियसम्बन्धी रोग उभरा । परन्तु दोनों रोग पहलेकी अपेक्षा बहुत मृदु रूपमें हुए । ये दोनों रोग उसको जब पहले हुए थे तब केवल आराम होनेका धोका दिया गया था; वास्तवमें वे आराम नहीं हुए थे, केवल ओषधियोंद्वारा दबा दिये गये थे । वे नाकके सर्त्तानकी केवल प्रारम्भिक अवस्था थे; परन्तु जब विषैली ओषधियोंसे उनकी चिकित्सा हुई, तब भीतर जाकर तुरन्त सर्त्तान रोगके रूपमें परिवर्तित हो गये । इस बातका उसे इससे और भी अच्छी तरह निश्चय हो गया कि चिकित्साके दिनोंमें नाकसे जो स्राव निकलते थे उनमें प्रायः उन ओषधियोंकी दुर्गन्ध आती थी जिनको रोगीने गुर्देके और जननेन्द्रियके रोगोंके होनेपर सेवन किया था । पहले कहा जा चुका है कि शरीर विषैली ओषधियोंको श्लेष्मामें लपेट देता है और उस श्लेष्माके टुकड़े शरीरकी भीतरी गर्भिके द्वारा शनैः शनैः जमकर सूख जाते हैं । किन्तु ठीक तौरसे जल-चिकित्सा करनेसे वे अत्यन्त दृढ़ और शुष्क खण्ड फिर घुलने लगते हैं और प्राकृतिक जीवन-शक्तिके उत्पन्न हो जानेपर शरीरसे बाहर निकलने लगते हैं । मैंने अपनी चिकित्सामें इस बातका कई हजार रोगियोंमें

अनुभव किया है और यह भी देखा है कि पहले किया हुआ औषधियोंका सेवन मेरी चिकित्साद्वारा पूर्ण आरोग्य होनेमें कितना अधिक विलम्ब करता है। शरीरसे जब औषधियोंका बुरा असर बाहर निकल करता है, तभी रोगीको अल्पाधिक कष्ट होता है। यह बात मेरे रोगीके अनुभवमें भी आ गई। किन्तु सौभाग्यसे उसकी दशा प्रतिदिन उन्नत होती चली गई और इसीसे उसमें साहस बना रहा। इसी लिए वह तबतक मेरी चिकित्सामें रहा जबतक कि वह इस दारुण रोगसे बिल्कुल मुक्त न हो गया।

यह कभी नहीं समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक मनुष्यका मेहन-स्नानमें मला जानेवाला स्थान शीतल जलसे प्रक्षालन करनेसे जल्मी हो जायगा। मेहन-स्नानमें लिंगकी त्वचाको रगड़नेसे जो क्षत हो जाते हैं (जैसा कि पुराने रोगोंमें मस्लन सर्तान रोगमें देखा जाता है) वे केवल खास हालतोंमें और खास शक्लमें ही होते हैं। यदि किसीके भीतर छिपी हुई सोजिश न हो, अथवा विकृत पदार्थ किसी दूसरी तरह आसानीसे निकल जाता हो, तो वहाँपर कोई क्षत नहीं होगा। मेरी चिकित्सामें ऐसे कई रोगी रहे हैं जो प्रतिदिन डेढ़ दो घंटे तक बराबर दो वर्ष तक मेहन-स्नान लेते रहे, परन्तु उनके कोई भी घाव नहीं हुआ। किन्तु दूसरे रोगी ऐसे थे जिन्हें मंद (chronic) गुप्त व्याधिके उग्र रूपमें (acute) अवस्थान्तरित होनेके संधि-कालमें—संकट-कालमें कुछ कालके लिए घावोंकी उग्र पीड़ा हुई थी और सो भी तभी तक जबतक कि प्रदाह नीचेको खिसककर आता रहा। किन्तु स्नानोंका प्रयोग करते करते वह पीड़ा उसी प्रकार चली गई जैसे कि आई थी। कितने ही रोगियोंमें प्रक्षालन करनेके स्थानसे कुछ दूर अनेक छोटे-बड़े खुले मुँहवाले पीबयुक्त व्रण

हो जाते हैं जिनमेंसे दुर्गन्धित और उद्वेगजनित पीब निकला करती है, जो कि उग्र अथवा उद्विग्न हुआ विजातीय द्रव्य है। यह पीब, जैसा कि बहुतसे नासमझ आदमी सोचते हैं, रगड़से पैदा नहीं होती; बल्कि रोगीकी शारीरिक अवस्थाके अनुसार निकलती है। यह पीब भीतर छिपे हुए तीव्र प्रदाहसे उत्पन्न होती है जो कि विजातीय द्रव्यमें उद्वेग होनेके कारण पैदा हो जाता है। निःसंदेह ही यह संकट या रोग उस पीबके कारण उत्पन्न हुआ है। जो लोग अपने घरपर ही मेरा उपाय काममें लाते हैं, वे यदि इन व्रणोंके हो जानेपर किसी प्रकारकी चिन्ता करते हैं तो गलती करते हैं। शरीर इस तरह प्रयत्नवान् होकर दुर्द्रव्यको अपनेसे बाहर निकालनेमें हिस्सेदारी लेता है, यह इस बातका निश्चित प्रमाण है कि स्नानोंद्वारा आरोग्य-शाम किया जा रहा है। प्रक्षालित स्थानपर घावका होना और उसमें पीबका होना उस समय स्वभावतः बहुत बुरा होता है, जब कि भीतरका प्रदाह सर्तान या सर्तानके समान सङ्गनयुक्त घावकी दशा उत्पन्न कर देता है। रोगीको चाहिए कि स्नानके समयके अलावा उस घावपर जलमें भीगे हुए लिनेन वस्त्रकी कई तहकी गद्दी रखकर पटी लपेट दे और उसको हर समय यथासम्भव तर रखे।

अब सर्तानके एक दूसरे रोगीका सर्वोपयोगी वृत्तान्त सुनाता हूँ। एक ५० वर्षकी बूढ़ी स्त्रीके बाँयें स्तनपर सर्तान रोग उत्पन्न हुआ। बर्लिन नगरके उन्हीं सुप्रसिद्ध डाक्टरोंने उसका भी ऑपरेशन किया, जिन्होंने स्वर्गीय बादशाह फ्रेड्रिककी चिकित्सा की थी। इसके कुछ ही दिनों बाद उसके दाहिने स्तनपर भी सर्तानका हमला हुआ। इससे यह भलीभाँति सिद्ध है कि उसका पहला ऑपरेशन जिसे डाक्टरोंने 'अत्यन्त सफल' कहा था, बिल्कुल बेकार था। रोगीकी दशा पह-

लेसे भी अधिक खराब हो गई थी। वह फिर उन्हीं डाक्टरोंके पास गई और सर्तानके पुनः प्रकट होनेके बारेमें पूछताछ की। बड़ी जाँच पड़ताल करके उन्होंने सलाह दी कि बिल्कुल नीरोग होनेके लिए दाहिने स्तनपर भी ऑपरेशन करनेकी आवश्यकता है; किन्तु शरीर अत्यन्त निर्बल है, वह ऑपरेशनको सहन नहीं कर सकेगा, इससे तुम्हारा जीवित रहना असम्भव है और सिवाय इसके कोई उपाय नहीं है। जर्मनीके बड़े बड़े प्रसिद्ध डाक्टरोंके मुखसे यह निराशापूर्ण उत्तर सुनकर वह बुढ़िया बड़ी व्याकुल होती हुई मेरे पास आई। उसका दाहिना स्तन सड़ा हुआ था और उसमें कठिन, काले रंगकी और सड़ती हुई अनेक गाँठें मौजूद थीं, जिनमें कुछ अंडेके बराबर और बगल तक लम्बी थीं। पेड़ू भी ग्रन्थियोंसे पूर्ण, परिमाणसे अधिक बढ़ा हुआ और कठिन था। पाचन-शक्ति अत्यन्त मन्द थी। तीसरे या चौथे दिन दस्त होता था; और सो भी बिना एनीमाकी पिचकारी दिये नहीं। भीतरी गर्मीसे मल अत्यन्त सख्त, स्याह, गाँठोंके रूपमें निकलता था। पेशाब भी कम आता था। जीवन-शक्ति मन्द थी जिससे बड़ी चिन्ता रहती थी और सिरमें अत्यन्त पीड़ा होनेसे प्रतिदिन वह और भी क्षीण होती जाती थी। उस छीने मेरी चिकित्सा बड़ी दृढ़ताके साथ आरम्भ की। इससे सिरकी पीड़ा तो शीघ्र शान्त हो गई। पाचन-शक्ति भी धीरे धीरे प्रतिसप्ताह सुधरने लगी। रोगिणीकी दशा और बलाबलके अनुसार उसके स्नानोंकी संख्या भी प्रतिदिन बड़े विचारके साथ ठीक करनी पड़ती थी। शुरू शुरूमें कोई छह हफ्तेतक तो चिकित्सा भी उसको कष्टदायक मादूस होती थी। चिकित्सा-कालहीर्म पूर्वमें किये गये 'अत्यन्त सफल' ऑपरेशनका नतीजा भी साफ़

प्रकट हो गया। पहले ही हफ्तेमें बाँयें स्तनपर जहाँ पुराना शिगाफ़ (आपरेशनका चिह्न) लगा था—फिर एक बहता हुआ घाव बन गया जो कि बढ़ते बढ़ते एक महीनेमें बहुत ही गहरा और १५ वर्ग इंच तक लम्बा चौड़ा हो गया। परंतु बाँयें स्तनकी सड़न जितनी बढ़ती गई, दाहिने स्तनकी उतनी ही कम होती गई। बाँयें स्तनपर शस्त्र-क्रियाके होनेसे सर्तनका कारण दूर नहीं हुआ था, केवल उद्देगका स्थान बदल गया था। उसके द्वारा शरीर इस बातपर विवश किया गया कि वह सर्तनके उद्देगका मार्गक्रम बदल दे, यहाँतक कि अन्तमें दाहिने स्तनसे बगलतक सख्त गाँठें बन चुकनेके बाद सर्तन दाहिने स्तनमें प्रकटया गया। मेरी चिकित्सा-विधिने रोगको फिर पीछेकी ओर खींचाया। इस लिए यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है कि विकृत पदार्थ बाँयें स्तनमें फिर उसी तेजीके साथ उभरा, जिस प्रकार कि शस्त्र-क्रियाके समय था। इससे यह साबित है कि प्रकृति उन अत्याचारोंको सहन करनेके लिए तैयार नहीं है जिनको कि डाक्टर लोग किया करते हैं। प्रत्येक ऑपरेशन इस बातका ताजा सबूत है कि डाक्टरी शास्त्र बिल्कुल अपूर्ण है और वास्तविक आरोग्यता प्रदान करनेवाली ओषधिके विषयमें बिल्कुल दारिद्र है। शस्त्र-प्रयोग ओषधिसे भी अधिक अप्राकृतिक है। इससे पाठकोंको यह विदित हो जायगा कि मैंने अपने नवीन चिकित्सा-विज्ञानको ओषधियोंके विनाका ही नहीं बल्कि शस्त्रोपचारके विनाका विशेषण भी क्यों दिया है।

अब उसी स्त्रीका हाल फिर सुनिए। नियमपूर्वक स्नान करनेसे वह दर्द, जो उसके हुआ करता था, शरीरमें तबदीली होते रहनेसे सहा होने लगा। कुछ ही समयके बाद उसके प्रक्षालन किये जानेवाले स्थानमें पीबवाले घाव होने लगे। इससे साफ़ जाहिर था कि भीतर

बढ़ा हुआ और सड़ा हुआ प्रदाह बाहरको निकल रहा है । फिर शीघ्र ही बगलकी तरफकी ग्रन्थियाँ मुलायम हो गईं और शनैः शनैः पेड़की ओर जाकर बगलसे गायब हो गईं । पहले दो मासमें वह केवल बिना छुने आटेकी रोटी और फलोंके आहारपर ही रही । इस प्रकार पथ्य और तीन महीने तक नियमपूर्वक ठंडे स्नान करते रहनेसे उसको इतना लाभ हो गया कि उसके बाँयें स्तनका घाव करीब करीब अच्छा हो गया और वह अपने घर जाने योग्य हो गई ।

मैंने सर्तानके और भी अनेक रोगियोंकी चिकित्सा की है । उनमेंसे एककी जिह्वामें सर्तान था और दूसरेके कण्ठमें । ये दोनों तरहके सर्तान आजकल बहुतायतसे होते हैं । मेरी चिकित्सा इन रोगियोंमें भी सफल रही ।

कण्ठके भीतरवाली सर्तानकी सख्त गाँठें कुछ ही सप्ताहोंमें मुलायम पड़ गईं और उनमेंसे पीब आने लगी । इससे रोगीको इतनी सुगमता हो गई कि वह भोजनको बिना किसी तकलीफ़के निगलने लगा ।

जिह्वाके सर्तानमें प्रत्येक ठंडे स्नानके बाद रोगीकी जीभपरका एक भूरी तहपरका कुछ हिस्सा लुप्त हो जाता था । जीभकी गाँठें इस प्रकार शरीरके निचले भागवाली गाँठोंकी अपेक्षा शीघ्र लुप्त हो गईं । इस प्रकार जिह्वा बहुत शीघ्र साफ़ सुथरी होकर पहले जैसी हो गई ।

इस रोगमें सबसे अधिक भयंकर बात पेड़में अर्शकी तरह अनेक बड़ी बड़ी ग्रन्थियोंका विद्यमान होना है । उस समय जब कि रोगी रोटी आदि ठोस पदार्थोंको नहीं खा सकता, तब भी यह सम्भव है कि उसका असह्य दर्द दूर हो जाय और इस तरह मार्फियाकी आदत छूट जाय और भूखा रहनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहे । इस प्रकार

ग्रंथियाँ घुलकर अनिद्रा दूर की जा सकती है, फिर भी मानना पड़ता है कि इस प्रकार वास्तविक आरोग्य लाभ नहीं होता, क्योंकि बराबर तरह पदार्थोंका सेवन करनेसे आँतोंसे मल नहीं निकलता।

श्वासोच्छ्वासकी गतिमें व्याघात होनेपर, जैसा कि अनेक भयंकर रोगोंमें हुआ करता है, मेहन-स्नानका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। जिन रोगियोंका मैंने इलाज किया उन्हें यह उपद्रव दिनमें अनेक बार होता था; परंतु वह स्नानको आरम्भ करनेसे कुछ ही मिनट बाद शांत हो जाता था। जब कण्ठके भीतरकी कोई ग्रन्थि फटती है और उसकी पीन श्वासकी नालीमें पहुँचती है या घुलनेसे पहले ग्रंथि सूज जाती है तब प्रायः रोगीके दम घुटनेका खटका हो जाया करता है। वह खटका ठंडे वर्षण-स्नानोंके द्वारा तुरन्त दूर हो जाता है। यह प्रक्रिया—जिसके लिए अबतक केवल एक ट्रैक्यूटोमी (Tracheotomy) ही साधन था—बड़े महत्त्वकी है। ऐसे दुस्तर संकटोंमें मेरे घर्षण-स्नान उसी प्रकार अमूल्य सेवा करते हैं—जैसे कि डिफ्थीरिया रोगमें श्वासोच्छ्वासकी गतिमें व्याघात होनेपर। इसके लिए अफसोस है कि डाक्टरोंके पास शस्त्र-क्रियाके सिवा और कोई उपाय नहीं है।

अस्पतालोंकी रिपोर्टोंसे मालूम हुआ है कि रुधिरके भीतर पिचकारी-द्वारा सीरम पहुँचानेसे भी अबतक ऑपरेशनोंकी संख्यामें कुछ कमी नहीं हुई है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इंजेक्शनका कितनासा मूल्य है।

बदगोश्त या दूषित मांस—(Proud flesh) उभार और मांसवृद्धि जो शरीरके किसी चुटीले स्थानमें हुआ करती है बदगोश्त कही जाती है।

यह सर्तानकी अपेक्षा कहीं कम भयंकर होती है और शीघ्र अच्छी भी हो जाती है; क्योंकि वह पीबके रूपमें आसानीसे तबदील हो सकती है। इसमें शरीरसे विकृत पदार्थके निकालनेमें बहुत थोड़ा समय लगता है। इसका यथार्थ अनुभव मुझे उन रोगियोंमें हुआ है जिनकी मैंने चिकित्सा की है। उन्हींमेंसे एक रोगीका वृत्तान्त नीचे दिया जाता है—

एक ३० वर्षकी युवती स्त्रीको यह रोग था। उसके दाहिने हाथकी तर्जनी अँगुली कुछ दिनोंसे बहुत खराब हो रही थी। कारण, अँगुलीके सिरेपर चोट लग जानेसे वह सूज गई थी और सूजकर उसमें बद-गोश्त हो गया था। उसके डाक्टरने शीघ्र ही उस मांसको काट डाला और उस जगह तेजाबोंको लगाकर उस स्थानको जलाया, किन्तु लाभ कुछ भी न हुआ। बारम्बार काटने और जलानेपर भी बदगोश्त पैदा हो जाता था। अन्तमें जब अँगुली सड़ने लगी, तब डाक्टरने कहा कि रोग हड्डी तक पहुँच गया है, अतएव इतने हिस्सेको काट डालना ही ठीक है, जिससे रोग आगेको न फैले। परन्तु वह स्त्री उसकी इस बातसे सहमत न होकर मेरे पास आई। मैंने कहा कि अंगका काट डालना अनावश्यक ही नहीं, बल्कि स्वास्थ्यके लिए बहुत हानिकारक भी है। मैंने उसे यह भी बताया कि तुम्हारी अँगुलीकी यह दशा किसी खास सबबसे हुई है, जिसको दूर कर देनेपर अँगुली झट अच्छी हो जायगी। मैंने उसे प्रतिदिन आध आध घंटेके तीन चार मेहन-स्नान लेनेकी अनुमति दी तथा प्राकृतिक और अनुत्तेजक पदार्थोंका आहार बतलाया और ३-४ दिन तक मेहन-स्नान लेनेसे पहले अँगुलीको एक वाष्प-स्नान देनेकी विधि बतलाई। परन्तु वह स्त्री बीचमें ही गर्भवती हो गई और मेहन-

खान लेनेमें आनाकानी करने लगी। किन्तु मैंने जब उससे यह कहा कि मेरे पास इससे बढ़कर और कोई इलाज नहीं है, तब उसने मेरी बात मान ली, क्योंकि न माननेसे अँगुली कटानी पड़ती। स्नानोंके आरम्भ करनेपर शीघ्र ही आराम होने लगा। पहले ही खानसे बदगोश्त बनना बन्द हो गया। तीसरे दिन उस मांसकी पीब बनने लगी, जो कि आरोग्य होनेका एक उत्तम लक्षण था। सड़न बन्द हो गई और परिणामतः हड्डियोंके संबंधका समस्त संकट दूर हो गया। १४ दिनमें वह अँगुली बिल्कुल अच्छी हो गई और उसपर घावका कोई निशान भी शेष न रहा।



तृतीय भाग

तृतीय भाग



औषध और शस्त्रोपचारके विना

जख्मोंकी चिकित्सा

जख्मोंकी चिकित्साके सम्बन्धमें जो संस्कार शस्त्रक्रिया (सर्जरी) के द्वारा फैलकर लोगोंके दिलमें जगह पकड़ गये हैं, उनको हटा देना कोई सीधी बात नहीं है। लोग साधारणतया सोचते हैं, कि सब तरहके आघात,—वे चाहे बाहरी हों या भीतरी—और सब तरहके जख्म केवल शस्त्रक्रियासे तथा विषघ्न (antiseptic) उपायोंसे ही आराम हो सकते हैं। परन्तु यह ख्याल कितना ग़लत बातसे साफ जाहिर हो जाता है कि मेरी चिकित्सा-विधिसे अधिक सफलता हो रही है। वास्तवमें जल-चिकित्साके महत्त्व का ५-६। रोगोंमें प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। जख्मोंको पानी आदि प्राकृतिक साधनोंके द्वारा अच्छा करनेकी प्रणालीके प्रचारका मेरी विधिके समान और कोई अच्छा साधन नहीं है।

दर्दरहित होनेके सिवाय मेरी विधिमें एक गुण यह भी है कि इस प्रकार प्रत्येक प्रकारके आघातको आराम होनेमें डाक्टरकी चिकित्साके मुकाबिलेमें तिहाईसे भी कम समय लगता है। यह बात उन रोगियोंकी

चिकित्सासे प्रमाणित होती है, जिनकी चोटें इस चिकित्साद्वारा अच्छी हुई हैं। आजतक एक बार भी इसमें असफलता नहीं मिली। इस विधिमें एक लाभ यह है कि घावोंके निशान, जो कि डाक्टरों इलाजमें बन जाने आवश्यक हैं, इसमें नहीं बनते; अर्थात् घाव मेरी चिकित्सासे आराम होनेपर पीछे अपना कोई चिह्न ही नहीं छोड़ते।

जब कभी कोई बाहरी चोट लग जाती है, जैसे कट जाना, पिच जाना, जल जाना, पालेकी चोट लगना इत्यादि, तो उसका शरीर खुद इलाज शुरू कर देता है। आघातसे नसोंमें जो प्रदाह होता है, वह उस ओर खूनके दौरानके लिए तथा उन तत्त्वोंके लिए जिनकी कि वहाँ आवश्यकता है—एक प्रकारकी पुकार है। वहाँ इकट्ठे होनेवाले द्रव्यकी परस्पर रगड़से गर्मी और सूजन पैदा हो जाती है। इस प्रक्रियाके कारण विशेषकर जल जाने और पिच जानेकी हालतमें बहुत दर्द हुआ करता है।

ऐसी हालतमें हम यदि शरीरको उसके प्रयत्नमें ठीक तौरपर रूकवा दें, तो बिना किसी कष्टके शीघ्र आराम हो सकता है।

इसी समय होती है जब कि शरीर चोटको आराम करनेकी क्रिया आरम्भ करता है। जख्मके कारण होनेवाली वह पीड़ा एक स्थानीय ज्वरके सिवाय और कुछ नहीं है। यदि हम इस बातका स्मरण रखें कि अन्यान्य रोगोंके समान ही व्रणकी चिकित्सामें भी हमें एक प्रकारके ज्वर (गर्मी) से ही वास्ता है, तो हमारे लिए घावको आराम करनेका मार्ग ढूँढ़ना बहुत सुगम हो जाय। जहाँ गहरी और विशेषकर दूरतक चोट लगी हो, वहाँ सबसे पहले हमें ज्वरको शान्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिए, जिससे कि वह स्थानिक ज्वर सारे शरीरमें न फैलने पावे।

यदि हम अपने प्रयत्नसे उक्त ज्वरको निवारण कर देते हैं, तो घावकी पीड़ा तत्काल दूर हो जाती है। हमको इससे अच्छा और कोई भी मौका यह देखनेके लिए नहीं है कि ज्वर किस प्रकार शरीरको आरोग्य करनेवाली तथा स्थानीय न्यूनताको पूरा करनेवाली क्रिया है। किन्तु दुर्भाग्यसे आजकल यह घावसे पैदा हुआ स्थानिक ज्वर सम्पूर्ण शरीरमें आम तौरसे फैल जाता है, जिससे व्रणके आराम होनेमें देर लगती है। इसका एक कारण है। आरोग्य मनुष्योंके घाव बहुत जल्द और सहजमें आराम हो जाते हैं। परन्तु जिनके शरीरमें विजातीय द्रव्यका अधिक भार होता है और परिणामतः जो आंतरिक ज्वरमें ग्रस्त रहते हैं, उनके घाव सहजमें और जल्द आराम नहीं होते। ऐसे मनुष्योंको चोट लगनेके साथ साथ होनेवाली स्नायुओंकी उत्तेजना—एक विशेष व्यापक और बड़ी उद्वेग-क्रियाको उत्तेजित करनेवाला कारण—सहजमें ही बन जाती है। परन्तु जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ भी विजातीय द्रव्यसे युक्त मनुष्यको विलम्बसे आराम होता है; क्योंकि शरीरमें घावकी ओर रुधिरका अधिक संचार होता है और इससे उस स्थानमें विजातीय द्रव्य विशेषरूपसे पहुँचता रहता है। इस प्रकार उस जगह विजातीय द्रव्यका संग्रह अधिक शीघ्रतासे होता है। अथवा वह जलम खुलकर उस दुर्द्रव्यके निकासकी एक नाली बन जाता है।

मैंने देखा है कि जिन पशुओंकी कोई देख-रेख नहीं करता, उनके घाव बहुत जल्द आराम हो जाते हैं। ऐसी स्वाभाविक बातोंपर विशेष ध्यान देनेसे, मैं पशु और मनुष्योंकी चोटोंके आराम होनेके भेदको देख-देखकर, दंग हो गया हूँ। मुझे प्रकृतिके रहस्योंका उद्घाटन और उनका अनुसन्धान करनेकी ओर इन बातोंने ही रुचि दिलाई है। पहले

सर्व साधारणके समान मैं भी यही समझता था कि चोट लग जानेकी हालतमें विचारे पशु मनुष्योंकी अपेक्षा बड़े दीन हैं, क्योंकि मनुष्योंको तो इलाजके सम्पूर्ण वैज्ञानिक साधन मिले हुए हैं और परिचर्या करनेके लिए उनके अनेक कुटुम्बी, मित्र आदि मौजूद होते हैं, परन्तु अनुभवसे मात्तम हुआ है कि घरोंमें या अस्पतालोंमें चिकित्सा करनेवाले रोगियोंकी अपेक्षा पशुओंको प्रकृतिकी सहायतासे शीघ्र आरोग्य लाभ होता है। विचार करनेसे मात्तम हुआ है कि यह कोई दैवी घटना नहीं है; बल्कि इसके गर्भमें कोई गंभीर कारण अवश्य छिपा हुआ है। स्पष्ट करनेके लिए नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

एक बिल्ली लोहेके पींजरेमें फँस गई थी, जिससे उसकी दाहिनी टाँग फँसकर पंजेसे एक इंच ऊपर टूट गई। वह उस पींजरेसे अपनी टाँग निकालनेके लिए पींजरेको इधर उधर घुमाती फिरी। इससे उसकी टाँगमें बल पड़ गये और घावमें धूल भर गई। जब उस बिल्लीकी टाँग पींजरेमेंसे किसीने निकाल दी तब वह अपनी टूटी टाँगको हवामें फहराती हुई खुले मैदानकी स्वच्छ वायुमें भाग गई। फिर कुछ दिनोंतक उसका कोई पता न लगा। इससे यह अनुमान किया गया कि वह मर गई।

किन्तु एक सप्ताह बाद पासके खलिहानमें एक बीमार बिल्ली दिखाई दी, जो कि वही निकली जिसकी टाँग पींजरेमें फँसकर टूट गई थी। इस समय आश्चर्यजनक रीतिसे उसकी पिछली टाँगको बहुत कुछ आराम हो गया था; किन्तु भग्न-स्थान अब भी अधिक सूजा हुआ था। उसके अत्यन्त दुर्बल होनेसे यह जान पड़ता था कि उसने कोई एक सप्ताहसे कुछ नहीं खाया है। इतनेपर भी उसने अत्यन्त स्वादिष्ट भोजनको खानेसे इन्कार कर दिया और जल तक नहीं छुआ।

केवल उस टाँगको वह बड़ी सावधानीसे हमेशा फैलाये हुए बैठी रहती थी और जब-तब उस भग्न-स्थानको सब तरफसे चाट लिया करती थी। उसको जल्मके चाटनेसे बड़ा आराम और पीड़ामें शान्ति मालूम होती थी; क्योंकि वह बार बार उसको चाटती थी। उस बिल्ली-के निराहार रहनेका भी एक खास कारण था। पाचन, उद्वेग-क्रियाहीका दूसरा नाम है और वह क्रिया गर्मीके उत्पन्न हुए बिना हो नहीं सकती। चूँकि उस बिल्लीके पास जल तो था नहीं, जिससे जल्मको ठंड पहुँचाती, अतएव उसने भोजन करना त्याग दिया, जिससे और गर्मी पैदा न हो। उसकी नैसर्गिक बुद्धिने उसको यह बात ठीक ठीक बता दी कि उसको क्या करना चाहिए था।

कुछ दिनों बाद जब कि वह बिल्ली फिर दिखाई दी, तो सूखकर काँटा हो गई थी; लेकिन थोड़ा थोड़ा दूध मिलनेसे उसमें जल्द ताकत आ गई। एक महीने बाद वह बिल्ली बिल्कुल अपनी असली हालतपर आ गई। उसके चोटकी जगह केवल एक गौंठ सी मालूम होती थी, परंतु उससे उसकी चालमें कोई रुकावट नहीं होती थी।

यदि किसी मनुष्यके इसी प्रकारकी चोट लगी होती, तो उसकी डॉक्टर-साहबके हाथसे किस प्रकार मरम्मत होती? प्रथम तो टाँग काट डालनेकी ही तजवीज होती, रोगी महीनों खाटपर पड़ा रहता और सदाके लिए लँगड़ा हो जाता। यदि टाँग न भी काटी जाती और बढ़ियासे बढ़िया ओपधियोंके उपचारसे ही चिकित्सा की जाती, तो भी वह टाँग हमेशाके लिए सतर रहती। मुड़ न सकती।

अब पशु-जगतसे एक दूसरा उदाहरण आपके सामने और रखता हूँ, जिससे व्रणचिकित्साके सम्बन्धमें मेरी चिकित्सा-विधि-का तत्त्व भलीभाँति समझमें आ जायगा। एक कुत्ता बन्दूकके छरोंसे

बहुत बुरी तरह घायल हो गया था; किन्तु मरान था। छर्रे उसकी साम-नेकी और पिछली टाँगोंमें लगे थे और दो छर्रे गर्दनमें भी दाहिनी तरफसे जाकर बाई तरफ चमड़ीमें रह गये थे, परन्तु सौभाग्यसे उसकी श्वास-नाली, अन्न-नाली और मुख्य रक्तवाहिनी नड़ियोंमें कोई चोट नहीं पहुँची थी। घावोंमें अधिक पीड़ा होनेपर वह कुत्ता किसी सायेदार और गीले स्थानमें जाकर उस स्थानकी मिट्टीको खोद खोदकर उसमें सोकर अपने घावोंको और शरीरको ठंडा करता था और उस मिट्टीके गरम हो जानेपर दूसरी जगहकी मिट्टी पैरोंसे खुरच लेता था और वहाँ भी वैसा ही करता था। सिवाय इसके वह घावोंको हरसमय चाँटा करता था। उसने भोजन करना बिल्कुल त्याग दिया था। वह दिनमें केवल दो बार अपने समीपवर्ती तालाबका जल पी लेता था, बस यही उसका आहार था। परन्तु फिर भी वह शीघ्र चंगा हो गया। पाँच दिनमें ही उसकी टाँगोंके घाव निरन्तर चाँटते रहनेसे बहुत कुछ अच्छे हो गये थे, केवल थोड़ीसी सूजन बाकी थी। लेकिन गर्दनके घाव, जिनको वह चाँट नहीं सकता था और जो टाँगोंके घावसे बहुत हल्के थे, टाँगोंके घावोंकी अपेक्षा देरमें आराम हुए। चोट लगनेपर उसने कोई एक सप्ताह कुछ नहीं खाया था, इससे गर्दनके घाव भी बिल्कुल आराम हो गये। छर्रे त्वचा और मांसके भीतर घुसे रह गये।

तीसरा उदाहरण सुनिए—न्यू फौंडलैंड देशके एक कुत्तेका पंजा कोयलोंकी गाड़ीके पहियेके नीचे आकर बहुत बुरी तरह कुचल गया। खाल फट गई और हड्डी टूट गई। इससे वह कुत्ता चलनेसे मजबूर हो गया। लोगोंने उसे उठाकर उसके स्थानपर पहुँचा दिया। वह वहाँसे धिसटकर एक सायेदार जगहमें जा बैठा और उस ज़ख्मी पंजेको बराबर चाटने लगा। चार दिन तक उसने कुछ भी नहीं खाया।

इन चार दिनोंमें उसे इतना लाभ हो गया कि वह तीन टोंगोंसे इधर उधर चलने-फिरने लगा । २० दिनोंमें वह बिल्कुल चंगा हो गया ।

इन दृष्टान्तोंसे मनुष्योंको व्रणोंकी चिकित्साके सम्बन्धमें बहुतसी उपयोगी शिक्षायें लेनी चाहिए । जल्मकी हालतमें जलके प्रयोगसे शीतलता प्राप्त करना, भोजनसे बचना अथवा गर्मी पैदा करनेवाले अहितकर पदार्थोंको त्यागना ही, प्राकृतिक चिकित्सा है ।

आजकल अस्पतालोंमें प्रचलित विधिके अनुसार जो रोगीको जीवन-शक्तिकी वृद्धि और पुष्टिके लिए मांस, मांसकी चाय, अंडे, दूध, मद्य आदि पदार्थोंका सेवन कराया जाता है, वह बिल्कुल ठीक नहीं है । ऐसा करना अत्यन्त बुरा और प्रकृतिके नियमोंके विरुद्ध है । मेरी सम्मतिसे शरीरमें किसी प्रकारका घाव हो जानेपर शरीरके यंत्रोंके ऊपर किसी तरहका भी भार नहीं डालना चाहिए; क्योंकि इससे शरीरकी आरोग्यकारिणी क्रियामें बाधा पड़ती है । घावोंकी चिकित्सा कृमिनाशक विधिसे — कारबोलिक एसिड, आयोडीन, कारोसीव सबलीमेट, कोकेन आदि ओषधियोंसे—करना यह प्रकट करता है कि औषधोपचार-पद्धति इस बातको आज भी बिल्कुल नहीं समझती कि ऐसी दशामें मनुष्यके शरीरमें क्या क्या प्रक्रियाएँ हुआ करती हैं । एल्योपैथिक शस्त्र-चिकित्सक जलचिकित्साके महत्त्वको न जाननेके कारण सही रास्तेसे बहुत ज्यादा दूर हटकर गुमराह हो जाते हैं । बात यह है कि उनको स्वाभाविक रूपसे आरोग्यता प्राप्त करनेकी पद्धतिका ज्ञान ही नहीं है ।

इस भूमिकाके पश्चात् अब मैं भिन्न भिन्न प्रकारके व्रणोंका वर्णन करूँगा और उनको स्पष्ट रूपसे समझानेके लिए कुछ रोगियोंके उदाहरण भी दूँगा ।

कटे, बिंधे, कुचले, विदीर्ण तथा चिरे हुए घाव—
जब शरीरमें काटने, शस्त्र लगने, कुचल जाने, फट जाने या चिर जानेसे कोई घाव हो जाता है, तो छोटी और बड़ी दोनों प्रकारकी रक्तवाहिनी नाड़ियोंसे भीतरी दबाव पड़नेके कारण खून निकलने लगता है। जबतक बाहरी दबावसे रोका न जाय तबतक यह खून जारी रहता है। घावोंकी चिकित्सामें यह एक आवश्यक क्रिया है, इस लिए प्रथम इसके सम्पूर्ण अंशोंपर विचार करना चाहिए। जिस वायुमें रहकर हम जीवन व्यतीत करते हैं, उसका हमारे शरीरके प्रत्येक वर्ग-इंच स्थानपर लगभग १५ पौंड (४० तोलेका १ पौंड होता है) का दबाव पड़ता है। यदि शरीरके भीतरसे उसपर उलटकर एक दूसरा भारी दबाव न पड़ता होता, तो हमारा शरीर उसे कभी सहन नहीं कर सकता था। आप लोगोंने कदाचित् पर्वतारोहण करते समय इस दबावके भेदका अवश्य अनुभव किया होगा। पर्वतोंके बड़े बड़े ऊँचे शिखरोंपर चढ़नेसे अथवा हवाई जहाजद्वारा यात्रा करने या गुम्बारेकी यात्रासे मात्स्य होता है कि बहुत ऊपर वायुका दबाव इतना कम हो जाता है कि कभी कभी यात्रियोंके मुख, नाक, आँख, कान आदि इन्द्रियोंसे तेज भीतरी दबावके कारण खून निकलने लगता है और जब भीतरी दबावका जवाब बाहरी दबावसे मिलने लगता है, तभी खून गिरना फौरन बन्द हो जाता है। शरीरमें कहीं भी जख्म हो जानेपर रुधिरके आन्तरिक वेगको स्वाभाविक रूपसे सीमाबद्ध रखनेवाली नाड़ियाँ फट जाती हैं और उनमेंसे जख्मके द्वारा रुधिर बहने लगता है। ऐसी हालतमें सबसे पहला

काम खूनको बन्द करना है। घावकी छोटाई-बड़ाईके अनुसार तथा रक्तकी स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियोंके न्यूनाधिक परिमाणमें जख्मी होनेके अनुसार रुधिरका स्राव कम या ज्यादा हुआ करता है। जहाँ तक सम्भव हो रक्तवाहिनी नाड़ियोंको सुईके द्वारा टाँके लगाकर नहीं जोड़ना चाहिए; क्योंकि नाड़ियोंके टाँके लगनेसे रक्तका अच्छे प्रकारसे संचार नहीं होता। अतएव इस प्रकारसे व्रणकी चिकित्सा करना स्वाभाविक चिकित्सा नहीं कही जा सकती। ऐसी अनेक उपयोगी रीतियाँ हैं, जिनसे टाँके लगानेकी आवश्यकता नहीं रहती। नाड़ियोंको या किसी अङ्गको टाँके लगाकर जोड़ना तभी न्याय्य है जब कि आघात होनेके कारण रक्तकी स्थूल नाड़ीमें चोट पहुँची हो और अधिक रक्त-स्राव होनेसे प्राणनाश होनेकी सम्भवना हो अथवा उक्त स्थानपर बाँधने योग्य गदियाँ पासमें न हों।

बहुधा रक्तके इकट्ठा होनेसे पीड़ा होने लगती है, जिसको दूर करनेका यत्न रक्तको बंद करनेके साथ साथ करना चाहिए।

उक्त पीड़ाको शान्त करनेका उपयुक्त साधन यही है कि उस समय घावके ऊपर पानीमें भिगोये हुए लिनेनके गीले कपड़ेको कई तह करके गद्दीसी बनाकर बाँध दिया जाय। इससे रुधिरका भीतरी वेग शीघ्र रुक जायगा और साथ ही पीड़ा भी कम हो जायगी। यदि हो सके तो गद्दी बाँधनेके बाद उस जख्मी अंगको शीतल जलमें तबतक रक्खे रहे जबतक कि पीड़ा शान्त न हो जाय। इसमें सम्भव है कि कई घंटे लग जायँ। यदि यह संभव नहीं हो तो उस गद्दीके ऊपर शीतल जलकी पतली पतली धार लगातार या थोड़ी थोड़ी देरमें छोड़ता रहे, जिससे कि गद्दी अच्छी तरह तर और ठंडी बनी रहे।

गद्दी कितनी मोटी और कितनी तहवाली बाँधनी चाहिए, यह बात घावकी हालत देखकर ही निश्चय की जा सकती है। यदि छोटासा जख्म हो, तो कपड़ेकी २, ४ या ६ तह करके और बड़े जख्मपर १०, १५, २० अथवा इससे भी अधिक ३० तहकी गद्दी बाँधनी चाहिए। घावपर पतली गद्दी बाँधनेसे न तो रक्तका प्रवाह बन्द होगा और न शीघ्र आराम ही होगा। साथ ही यह बात भी है कि गद्दी बहुत मोटी भी न होनी चाहिए। जैसे किसी अँगुलीमें चाकूका जख्म होनेपर २० तहवाली मोटी गद्दी बाँधनेसे बहुत देरमें आराम होगा और २, ४ तहवाली पतली गद्दी बाँधनेसे शीघ्र आराम होगा।

गद्दीकी घड़ी इतनी ही बड़ी करनी चाहिए कि जो घावके चारों ओरके किनारोंसे एक एक इंचसे अधिक न निकली रहे। इस प्रकार घाव भरनेकी हालतमें और आसपास खूनके दौरानमें कोई रुकड़ापैदा न होगी, जो कि एक बड़ी आवश्यक बात है। पानीकी गद्दीके ऊपर एक ऊनी कपड़ेकी पट्टी एक दो बार लपेटकर अवश्य बाँध देनी चाहिए। ऐसा करनेसे वह गद्दी घावपर जमी रहेगी और उसका थोड़ा-बहुत दबाव भी पड़ेगा। उससे शरीरमें आवश्यक गर्मीकी मात्रा भी नियंत्रित रहेगी। गद्दियोंको बाँधनेसे पहले उन्हें साफ, ठंडे और यदि बन सके तो खनिज-विहीन पानीमें भिगोकर और हल्का निचोड़कर बाँधे। जबतक गद्दी ठंडी रहेगी तबतक दर्दकी तकलीफ न होगी। जब गद्दी गरम हो जाय तब उसको खोलकर फिर पूर्वोक्त विधिसे शीतल जलमें भिगोकर बाँधे। यदि इतनेपर भी पीड़ा रहे तो यह समझना चाहिए कि अब और अधिक ठंडे पानीकी गद्दी बाँधनेकी आवश्यकता है। आरम्भमें गद्दी जल्द जल्द बदलनी चाहिए।

परन्तु कोई कोई घाव ऐसे होते हैं कि जिनमें गदियोंका जल जल बदलना ठीक नहीं है। उस दशामें घावोंके ऊपर चिकनी मिट्टीकी पट्टी बाँधनी चाहिए। वह पट्टी इस तरह तैयार की जाती है—बहुत साफ और शुद्ध चिकनी मिट्टीको एक वर्तनमें शीतल जलमें घोलकर लेही-सी बना ले। फिर उसका मोटे कपड़ेकी पट्टीपर गाढ़ा गाढ़ा लेप करके उसको घावके ऊपर बाँध दे। मिट्टीकी बाजू जल्मपर रहनी चाहिए। यह गद्दी कुछ घंटे बाद बदली जा सकती है। बदगोस्त या सड़े हुए घावोंकी अवस्थामें भी ऐसी मिट्टीकी पट्टी बाँधनी ठीक है।

यह बात भी बता देनेकी है कि डाक्टरोंमें जल-चिकित्साके मर्मको जाने वगैर पानीकी गद्दीमें एक अद्भुत मेडीको-सर्जिकल सुधार कर डाला है। वे एक रबड़की तहको गद्दी और ऊनी कपड़ेके बीचमें रखकर बाँधते हैं। परन्तु ऐसी गदियोंसे कुछ लाभ नहीं होता, क्योंकि रबड़ पानीको भाप बनकर उड़नेसे रोकती है और उससे पसीनेका निकलना भी बन्द हो जाता है। इस प्रकारकी जल-चिकित्सा (Hydropathy) कोरी माया है, इसलिए मैं ऐसी गद्दीका विरोधी हूँ और इसके उपयोग-के विषयमें मैं सबको सावधान कर देता हूँ।

घावोंकी चिकित्सामें भी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अनुत्तेजक आहारकी बड़ी आवश्यकता है। जितना कम और जितना सादा आहार किया जायगा उतनी ही जल्दी घाव आराम होगा। बिना छुने आटेकी रोटी, फल और पानी, बस यही आहार काफी है। जो पदार्थ जितने शीघ्र और सरलतासे पचनेवाले होते हैं, वे ही सबसे अच्छे होते हैं, क्योंकि उनके खानेसे शरीरमें उतनी ही कम गर्मी पैदा होती है। घावोंकी चिकित्सामें यह एक बड़ी आवश्यक बात है।

घावोंको शीघ्र आराम करनेके लिए मेरे बताये हुए ठंडे स्नान भी बहुत सहायक हैं । इनके प्रयोगसे घावोंका ज्वर बिल्कुल रोका जाता है और यदि स्थानिक ज्वर प्रारंभ हो भी जाता है, तो वे उसका शमन करते हैं । साथ ही साथ इससे शरीरकी जीवनी-शक्ति इतनी जग जाती है कि घाव शीघ्र ही आराम होने लगते हैं । इन स्नानोंकी उन मनुष्योंके लिए और भी अधिक आवश्यकता है जिनमें विजातीय द्रव्यका भार अधिक मौजूद है । इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए नीचे कुछ उदाहरण देता हूँ ।

एक कारखानेमें एक ४५ वर्षके पुरुषका बायाँ हाथ गोल करवतसे जख्मी हुआ । तर्जनी अँगुली और अँगूठेके बीचकी मांसकी गद्दी फट गई थी और वह करवतके आरेपर लटकती रह गई थी परन्तु सौभाग्यसे उसकी हड्डीपर चोट न पहुँची थी । चोट लगनेके बाद कुछ ही देरमें वह मनुष्य मूर्छित हो गया और आध घंटे तक उसे होश न आया । उस समय उसकी सूती कमीजको कई तह करके घावपर इतने जोरसे बाँध दिया गया कि खून निकलना बिल्कुल बन्द हो गया । इस तरह बँधे हुए उसके हाथको ठंडे पानीमें रख दिया । ऐसा करनेसे घंटे भरमें ही उसकी पीड़ा शान्त हो गई और एक दिनमें ही दर्द बिल्कुल जाता रहा । शुरू-शुरूमें उसको रात-दिन बराबर भिगोते रहे, परन्तु चौथे दिन उसकी गद्दी छोटी कर दी गई जिससे हाथ कुछ खुला रखना संभव हुआ । सिर्फ २० तहकी गद्दी घावपर रही और हाथके चारों ओर ऊनी वस्त्र लपेटकर गद्दीको घावपर खूब जमा दिया । उस ऊनी वस्त्रसे घावको काफी गरमी पहुँची और रुधिरका संचार अच्छे प्रकारसे होने लगा । पहले गद्दीको आध आध घंटेमें जलसे तर किया

जाता था, फिर और कुछ देरके बाद । इससे १५ दिनमें घाव इतना भर गया कि उसके स्थानीय इलाजकी कोई आवश्यकता न रही । महीने-भरमें वह बिल्कुल आराम और अपने हाथसे काम करने योग्य हो गया । दूसरे दिनसे ही प्रतिदिन दो बार मेरे ठंडे स्नान भी दिये जाते थे । इससे घाव जल्दी भरने लगा । वैसे भी उस आदमीकी तन्दुरुस्ती कुछ विशेष अच्छी न थी ।

डाक्टरी चिकित्सासे यह घाव बहुत दिनोंमें और तकलीफसे भरता । घावमें टाँके भरे जाते, नतीजा यह होता कि अँगूठा कमजोर और सख्त हो जाता । किन्तु मेरी चिकित्सासे शीघ्र आरोग्य होनेके अतिरिक्त घावका कोई निशान भी बाकी न रहा । यद्यपि आरम्भमें घाव बहुत बड़ा था, परन्तु शरीरने उसको भीतर ही भीतर भरनेका प्रयत्न किया, जिससे वह शीघ्र भरता चला गया और समयपर उसके किनारे अपने आप झड़ गये । इस आघातसे कई नाडी-तन्तु नष्ट हो गये थे और आधा अँगूठा स्पर्शज्ञानशून्य निर्जीवसा हो गया था, अतः वह मनुष्य महीनोंतक किसी छोटी और हलकी चीजको भी अँगूठेसे नहीं पकड़ सकता था; किन्तु कुछ काल तक मेरे मेहन-स्नानोंको बराबर लेते रहनेसे उसके नाडी-जाल फिर पूर्व रीतिसे संगठित हो गये । अँगूठेकी निर्जीविता दूर हो गई और वह फिर सजीव और कार्य करने योग्य हो गया ।

छिल जाना, कुचल जाना, भीतरी चोट लगना

ऊपर कही हुई चिकित्सा छिल जानेपर भी बहुत उपयोगी होती है । छिलनेमें और बन्द चोटमें प्रायः ऐसा होता है कि शरीरके अंदर रुधिरसे भरी हुई गुमडियाँ और रुधिरकी थैलियाँ-सी बन जाती हैं,

जो सम्पूर्ण शरीरमें बहुत ही उपद्रव करती हैं। जिस हालतमें बाहरी इलाज कुछ काम नहीं देता, उस समय मेरी स्नान-विधिका प्रयोग करनेसे अद्भुत फल होता है। यह स्नान-विधि भीतर ही भीतर सब शरीर-को ठंड पहुँचाती है और स्नायु-जालको बड़ा बल देती है। यदि किसी अवस्था विशेषमें अंदर जमा हुआ रुधिर या उद्वेगसे उत्पन्न हुई और कोई खराबी ठंडे स्नानसे आसानीसे दूर न हो, तो वहाँ एक स्थानिक बाष्प-स्नान दे देना चाहिए। परन्तु भाप देनेके बाद घर्षण-स्नान अवश्य लेना चाहिए। बाष्प-स्नानसे समस्त विकृत पदार्थ सहजमें ही शरीरसे बाहर निकलने योग्य हो जाता है।

एक बार एक लड़कीके सीधे हाथकी तर्जनी अँगुली बुननेकी मशीनमें चुचल गई। आरम्भमें उसकी एक बड़े नामी डाक्टर-रने चिकित्सा की। उन्होंने आइडोफार्म, कारबोलिक एसिड, सैलिसिलिक एसिड आदि अनेक ओषधियोंका प्रयोग करके अपने चिकित्सा-विज्ञानका ख़ात्मा कर दिया, और फिर बिना संकोचके फ़र्माया कि सम्भव है अँगुली या हाथ काटना पड़े। अँगुलीमें बहुत दर्द था और इतनी ज्यादा सूजी हुई थी कि नीली पड़ गई थी। कोई तीन सप्ताहके बाद सारा हाथ सूजकर नीला पड़ गया। अन्तमें डाक्टरने उस लड़कीसे पूछा कि उसे हाथ कटानेका साहस है? यह सुनके वह बहुत डरी और मेरे पास आई। मैंने उसी समय ठंडे जलमें भीगी हुई गदियाँ बँधवाई और दिनमें दो बार हाथका बाष्प-स्नान और उसके बाद मेहन-स्नान लेनेकी सलाह दी। केवल दो घंटेके इलाजसे उसका दर्द जाता रहा और वह कभी न लौटा। हाथ और अँगुलीकी सूजन घंटे घंटेमें कम होने लगी। दो दिनमें ही हाथका असली रंग-रूप हो गया। ३-४ सप्ताहमें हाथ पूरी

तरह चलाने योग्य न होते हुए भी वह लड़की सब काम करने लग गई।

इधर डाक्टर साहबके लिए अपना हाथ साफ करनेका एक दिल-चस्प वैज्ञानिक आपरेशनका मौका जाता रहा, मगर उधर वह बेचारी लड़की हमेशाके लिए लुंजी होनेसे बच गई।

एक ऐसे ही मौकेने एक बर्दईको आनेके लिए लाचार किया। उसका बाँयाँ हाथ काम करते हुए दोनों तरफसे—हथेली और पंजेकी तरफसे—कुचलकर घायल हो गया था। उसका विश्वास डाक्टरी चिकित्सासे पहलेके एक बुरे अनुभवसे ही उठ चुका था। उसकी बाँह कंधे तक इतनी सूज गई थी कि वह उसको हिला भी न सकता था। मेरे इलाजसे ३ घंटेसे कम समय-में ही उसका दर्द कम होने लगा और ४८ घंटेके बाद सूजन बिल्कुल पटक गई। १५ दिनमें वह लौटकर कामपर जाने योग्य हो गया।

नीचे दी हुई आरोग्यता-सम्बन्धी दो रिपोर्टोंसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जायगी कि एण्टीसेप्टिक चिकित्सासे कोई असली लाभ नहीं होता, बल्कि उससे एक प्रकारसे विकार दब जाता है।

दो लड़कियाँ एक ही मशीनमें एक साथ काम कर रही थीं। उन दोनोंकी तर्जनी अँगुलियाँ मशीनमें आकर एक ही प्रकारसे एक साथ जल्मी हो गईं। उनकी अँगुलीके सिरसे पहले पोरुवेकी सन्धि तक हड्डी टूट गई थी, परन्तु शेष अँगुलीमें बिल्कुल चोट नहीं लगी थी। वे दोनों कुमारियाँ आयु और शारीरिक अवस्थामें प्रायः एक समान थीं। उनमेंसे एकने तो डाक्टरसे चिकित्सा कराई और दूसरीने मुझसे। डाक्टरने हड्डीके टुकड़ोंको निकालकर उसपर खूब आइडोफारमका

प्रयोग किया। इससे उस लड़कीको बहुत कष्ट उठाना पड़ा। इस डाक्टरी चिकित्सासे उसको एक सप्ताहमें इतना आराम हुआ कि वह मजबूरीसे काम कर सकती थी। शल्यक्रियाके होनेसे अँगुलीका पहला पोरुवा बिल्कुल जाता रहा था और अँगुली कुरूप हो गई थी। फिर वर्षों तक उसको यह शिकायत रही कि मौसमकी तबदीलीमें उसके जल्मकी जगह पीड़ा होने लगती थी। यह पीड़ा उस गलत चिकित्साके होनेसे ही होती थी, क्योंकि उस चिकित्सासे आइडोफारमके रूपमें विजातीय द्रव्य अँगुलीमें पहुँच गया था। और अँगुलियोंकी अपेक्षा इस अँगुलीका अस्तित्व भी विशेषतासे अनुभूत होता था।

और जिस लड़कीने मेरी चिकित्सा की थी, उसको बहुत अधिक सफलता प्राप्त हुई। मैंने पहले इस बातकी चेष्टा की कि पीड़ा शीघ्र दूर हो जाय, जो कि पहले ही दिन दूर हो गई। इस मतलबको पूरा करनेके लिए उसको पानीमें भोगी लिनेनकी गद्दियाँ बाँधने और घर्षण-स्नान लेनेकी आज्ञा दी। उस लड़कीमें पहलेहीसे विकृत पदार्थ विद्यमान था, इस लिए स्नानोंकी आवश्यकता थी। मेरी चिकित्सासे तीसरे दिन बिना किसी शल्य-प्रयोगके हड्डीके टुकड़े पीबके साथ आप ही निकल गये और लड़कीको कोई विशेष तकलीफ़ न हुई। फिर छठे दिन हड्डीका दूसरा सबसे बड़ा टुकड़ा निकला। एक मासमें वह लड़की अपने कामपर वापस आ सकी। डेढ़ महीनेमें उसकी अँगुली बिल्कुल अच्छी हो गई। न वह सुन्न हुई, न टेढ़ी पड़ी, न उसमें कोई निशान रहा और न मौसमके तबदील होनेपर उसमें आज तक किसी प्रकारकी पीड़ा हुई। इन प्रमाणोंसे पाठक स्वयं निर्णय कर सकते हैं कि यहाँ प्रकृतिने सर्जरीका उत्तम कार्य किया या डाक्टर साहबकी ज़हर। ज़हरीली दवाओंने।

सन् १८७९ ई० में एक आदमीके बाँयें पैरके गट्टेकी नसों और क्वायुमें चोट आ गई, जिससे वह दो महीने तक खाटपर पड़ा रहा। इस बीचमें उसके डाक्टरों मरहम मले गये। आराम हो जानेपर भी उसके पाँवमें सूजन और निर्बलता बनी रही। यह बात उसको चलते हुए विशेषतासे मादूम पड़ती थी। कभी कभी पैर मुड़ जाता था, जिससे उसके बहुत दर्द होता था। चूँकि उसकी तन्दुरुस्ती भी खराब थी, इस लिए उसने मार्च सन् १८८९ ई० में मेरी चिकित्सा शुरू की। इससे लाभ मादूम होनेपर उसने चिकित्साको और भी बहुत दिनों तक जारी रक्खा। सन् १८९० ई० में उसका पाँव उन्हीं स्थानोंमें फिर सूज गया जहाँ कि वर्षों पहले उसे तकलीफ़ हुई थी। सूजनके साथ साथ दर्द भी तीन दिन तक रहा। मेरे इलाजसे ही ये सब उपद्रव चौथे दिन दूर हो गये और साथ ही साथ पाँवकी निर्बलता और गट्टेकी कमजोरी भी जाती रही। इससे यह साफ़ जाहिर है कि जिस चोटको लगे हुए ११ वर्ष बीत गये थे, और जिसे पूरी तरह आराम नहीं हुआ था वह मेरी चिकित्सासे बिल्कुल अच्छी हो गई।

जल जाना—आगसे जले छालेपर भी पीड़ाको शान्त करनेके लिए शीतल जलका उपचार बहुत उपयोगी है। पीड़ाके शमन करनेके लिए प्रायः कई कई घंटे तक जले हुए भागको ठंडे पानीमें डुबोये रखना चाहिए। जख्मी अंगको सिर्फ़ थोड़ी देरतक ही शीतल-जलमें रखनेसे अक्सर पीड़ा बढ़ भी जाती है, इसलिए जबतक पीड़ा बिल्कुल जाती न रहे तबतक उसे पानीमें डुबोये रखना चाहिए। जब दाह न रहे तब और घावोंकी तरह इनपर भी गदियोंका इस्तेमाल करना चाहिए। दरियाका पानी या बारिशका पानी सोतोंके पानीसे अच्छा होता है; क्योंकि सोतोंके पानीमें प्रायः उन वस्तुओंके कण मिले

होते हैं, जो आरोग्यताका बाधक हैं और दर्दको बढ़ा देती हैं। इस विधिसे बड़े बड़े दाह भी कितनी जल्दी शमन हो जाते हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुतसे मनुष्य— जो आगसे जलकर या किसी गरम चीजसे दग्ध होकर मर गये—वे मेरी विधिसे चिकित्सा होनेपर बच गये होते।

यदि जलनेके घाव इस युक्तिसे बहुत धीरे धीरे आराम होते दीख पड़ें, तो समझ लेना चाहिए कि शरीरमें विजातीय द्रव्य अधिक भरा हुआ है; अर्थात् उसमें कोई मन्द व्याधि छिपी है। ऐसी हालतमें मेरी स्नान-विधिके द्वारा सारे शरीरकी चिकित्सा करनी चाहिए और सादा अनुत्तेजक आहार देना चाहिए। घाव अनुक्रमसे आराम हो रहे हों, तो भी चिकित्सामें इन स्नानोंसे बहुत सहायता मिलेगी।

एक आदमी आगसे तीन जगह बुरी तरह जल गया था। उसके बड़े बड़े दो घाव गर्दनपर और सबसे बड़ा तथा गहरा एक घाव पंखपर था। उस रोगीने पहले एक डाक्टरका इलाज कराया, किन्तु तकलीफ़की अधिकतासे वह उसको एक दिनसे अधिक जारी न रख सका। फिर उसने प्राचीन प्राकृतिक चिकित्सा-विधिके अनुसार अपनी चिकित्सा आरम्भ की। जब उससे भी काफी लाभ न हुआ, तो कोई एक सप्ताह पीछे वह मेरे पास आया। मैंने पहले उसकी पीड़ाके दूर करनेका प्रयत्न किया। इसके लिए मैंने पहले घावोंकी पीब और तेलको अच्छी तरह धोकर साफ़ किया और फिर उनपर शीतल जलमें भीगी हुई गद्दियाँ बाँधीं। इससे दो घंटेके अन्दर ही पीड़ा दूर हो गई। इसके बाद दो दिनमें ही इस उपचारके करनेसे घावोंकी सूरत बिल्कुल बदल गई। गर्दनके ऊपरका सबसे छोटा घाव प्रायः भर चुका था

और दूसरे घाव भी जल्दी जल्दी भरते जा रहे थे। पाँवका बड़ा घाव भी गहराईमें आधा भर गया था। पाँचवें दिनसे वह आदमी काम करनेके लिए अपने कारखानेमें जाने लगा। गर्दनके घाव बिल्कुल अच्छे हो गये। पैर भी इतना अच्छा हो गया कि वह उससे चढ़ फिर सकता था।

बन्दूककी गोलीके घाव—इनकी चिकित्सा भी बिल्कुल वही है जो कि उन घावोंकी की जाती है, जो कि कटने या छिलनेसे हो जाते हैं। परन्तु युद्धसे विशेष सम्बन्ध होनेके कारण ऐसे घावोंपर अधिक ध्यान देनेकी आवश्यकता है। हर एक सैनिकको सबसे पहले यह ठीक ठीक जानना आवश्यक है कि घायल व्यक्तिके लिए प्रथम किस प्रकारकी सहायता उपयोगी हो सकती है, जब कि उसको किसी तरहकी कुछ भी सहायता नहीं पहुँचाई गई हो। घंटोंसे बिना किसी चिकित्साके पड़े रहनेपर और विशेषकर एंटीसेप्टिक चिकित्साके करनेपर यदि घावमें सड़न होने लगे तो आश्चर्य ही क्या है, जिससे कदाचित् उसकी मृत्यु न भी हो, तो भी उसका वह अङ्ग तो काटना ही पड़े। जीवनकी प्रकृतिके विषयमें सार्वजनिक अज्ञानकी दशामें और उस रीतिको न जाननेके कारण जिससे कि शरीर घावोंका इलाज अपने आप ही कर लेता है, बेचारा रोगी इसके सिवाय क्या कर सकता है कि अपना अंग कटवा डाले। लेकिन अंगके कट जानेसे घावको कभी आराम नहीं होता, बल्कि घाव और भी गहरा बन जाता है और रोगीको प्रायः जीवन-भरके लिए पंगु बना देता है।

डाक्टरोंका तथा लोगोंका आम तौरपर यह ख्याल है कि यदि शरीरके भीतर गोली या उसका टुकड़ा रह जाय, तो उसे तुरन्त निकाल देना चाहिए, नहीं तो उससे शरीरको हानि पहुँचगी। किन्तु ऐसा

समझना उनकी बड़ी भूल है और ऐसी भूलोंके ही कारण अबतक असंख्य मनुष्य यमराजके अतिथि हो चुके हैं । क्योंकि गोलीके भारी होनेसे यह असम्भव है कि शरीरको और अधिक चोट पहुँचाये बिना ही उसे शरीरसे बाहर निकाल दिया जाय । शरीरके अंदरूनी हिस्सोंपर श्लेष्मा इतनी अधिक चढ़ी होती है कि बन्दूककी गोली या और कोई फेंकी गई वस्तु उसमें होकर शीघ्र बिना कठिनाईके आर-पार हो जाती है और उतना ही बड़ा सूराख बना सकती है जिसमें होकर कि वह निकल जाय । इसका कारण यह है कि नसें स्थिति-स्थापक (elastic) होनेके कारण गोलीके दबावसे ऐसे फैल जाती हैं जैसे कि रबड़ । उसमें एक ऐसा सूराख पैदा हो जाता है, जिसमें-से कि गोली जाकर लौट नहीं सकती, जब तक कि उस रबड़को फैलाया न जाय ।

फिर चोट लगे हुए स्थानपर सूजन क्यों हो जाती है और यदि सूजन बहुत जल्द दूर भी हो जाती है—जैसा कि प्रायः होता है—तो भी पहलीसी स्थिति-स्थापकता क्यों जाती रहती है ? चोट लगे हुए स्थानपर खून आदि शोधक पदार्थ आकर भर जाते हैं, जिससे वह सख्त हो जाता है । अब यदि हम गोलीको उसी मार्गसे फिर निकालनेकी कोशिश करें जिससे कि वह आई थी, जैसा कि आम तौरपर रिवाज है, तो यह बात असम्भव हो जायगी; क्यों कि घावका द्वार और कुछ रास्ता उस समय सूज जाता है और तंतुओंमेंसे फैलनेकी शक्ति जाती रहती है । इसलिए गोलीको निकालनेके लिए शरीरको काटने और चोट पहुँचानेकी जरूरत पड़ती है । इससे शरीरको कितना भयंकर नुकसान होता है, यह बात सहजमें ही ख्याल की जा सकती है । गोलीका शरीरमें रहना उतना भयंकर नहीं होता जितना कि उसको जबर्दस्ती शरीरसे बाहर निका-

लना । शरीर जल्द ही विजातीय द्रव्यके उस बड़े टुकड़ेको हानिरहित कर देता है । पहले वह पानी जैसी किसी चीज़से ढक जाता है, जो धीरे धीरे स्नायु-तंतुओंके आवरणके रूपमें पलट जाता और उस पदार्थको अपने भीतर बन्द कर लेता है । यदि डाक्टरकी चिकित्साके विषसे मनुष्यकी पूरी जीवनी-शक्ति लुप्त न गई होगी, तो आगे कभी न कभी शरीर उस पिंडको ऐसी युक्तिके साथ बाहर निकाल देगा जो उसके लिए बहुत ही अनुकूल होगी । बहुत बार ऐसा हुआ है कि मनुष्यके कंधेमें लगी हुई गोली—जो अनजानमें रह गई थी—महीनेमें नहीं बल्कि कई वर्षोंबाद चूतड़ या जाँघके रास्तेसे पीठके साथ बाहर निकली ।

अतएव गोली लगनेपर उसको निकालनेकी नहीं, बल्कि घावकी दाहको दूर करने और खूनको बन्द करनेकी चेष्टा सबसे पहले करनी चाहिए । यह किया किस प्रकार की जाय—इसको मैं ऊपर बता चुका हूँ । सबसे अच्छी बात तो यह है कि प्रत्येक सैनिकको लिनेनका कपड़ा और कुछ ऊनकी पट्टियाँ दे दी जायँ जो कि समयपर उसके काम आ सकें । अक्सर पानीकी भी सफ़्त ज़रूरत पड़ जाती है, जो कि चिकित्साकी अन्याय वस्तुओंकी अपेक्षा बहुत सुलभ है । किन्तु जहाँ जल न मिले, वहाँ सैनिकोंको घास, कीच आदि किसी भी ठंडी चीज़से काम चला लेना चाहिए । जब कि घावपर अच्छे प्रकारसे पट्टी बाँध दी जाय, तब दाहको शान्त करनेके लिए आवश्यकताके समय इन्हीं चीज़ोंको काममें ला सकते हैं । इस प्रकार अनेक घायल सिपाही जो कुछ हाथ-पैर चला सकते हैं अपने आप अपनी आरम्भिक चिकित्सा कर सकते हैं और उन्हें किसी दूसरे डाक्टरके इन्तज़ारमें अपना अमूल्य समय ख़राब करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती । इस लिए यह बहुत आवश्यक है कि प्रत्येक सैनिकको घावकी इस प्राकृतिक चिकित्सा-विधिकी पूरी शिक्षा दी जाय,

जिससे वह तुरन्त अपना उपकार कर सके और डाक्टरके आनेतक हाय हाय ही न करता रहे। इससे यह भी होगा कि जो सिपाही थोड़ा घायल हुआ है, वह अपने अधिक घायल साथीकी भी तुरन्त सहायता कर सकेगा।

सन् १८७० और ७१ में फ्रान्स और जर्मनीके संग्रामके समयमें मुझे एण्टी-सेप्टिक चिकित्साके दुष्प्रभावोंके देखनेका खूब मौका मिला है। मैं यहाँ आपको इस विषयका एक असरकारक उदाहरण देता हूँ। सन् १८८३ में एक मनुष्य मेरे पास आया, जिसके पेडूमें सन् १८७० ई० के युद्धमें गोली लगी थी। गोली रीढ़के समीप पीठमें लगकर शरीरसे बाहर निकल गई थी। १३ वर्ष तक बराबर एण्टी-सेप्टिक चिकित्सा की जानेपर भी उसका वह घाव आराम नहीं हुआ, उसमेंसे बराबर पीव निकलती रहती थी। कभी कभी उस घावका मुँह बन्द हो जाता था, लेकिन मौका मिलनेपर वह फिर फूट निकलता था। इससे रोगीकी अवस्था बिगड़ती चली जाती थी और वह चलने-फिरनेसे भी मजबूर हो गया था। मैंने अपने मुखाकृति-विज्ञानसे देखा कि इसके शरीरमें विकृत पदार्थ अधिक है, और क्षतका पुराना ज्वर इसके आरोग्य होनेमें बाधक हो रहा है। मैंने उसकी कोई स्थानिक चिकित्सा न करके उसे घर्षण-स्नान तथा बाष्प-स्नान कराये और पथ्य भोजन देना शुरू किया। एक सप्ताहमें ही घाव भर गया और फिर कभी नहीं फूटा। १५ दिनमें वह अच्छी तरहसे पैदल चलने योग्य हो गया और बहुत खुश हुआ। मेरी सम्मतिसे वह फिर भी कुछ दिनों तक और इलाज करता रहा, जिससे शरीरमेंसे विजातीय द्रव्यका समस्त भार बाहर निकल गया।

इसी प्रकार एक और सिपाहीको मेरी चिकित्सासे लाभ हुआ । युद्धके समय गोली लगनेसे उसकी घुटनेकी हड्डी (Knee-cap) टूट गई थी । सब प्रकारकी चिकित्साओंके करनेपर भी उसे कुछ आराम नहीं हुआ । उसकी टाँग बिल्कुल अकड़ी हुई तो न थी, लेकिन तो भी वह स्वतन्त्ररूपसे उसे हिलानेसे मजबूर था । उसकी चिकित्सा इसलिए और भी अधिक रोचक है कि वह २० वर्ष तक प्राचीन प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धतिके अनुसार चिकित्सा करता रहा था, परन्तु मतलब कुछ हल न हुआ था । २० वर्ष बाद उसने मेरी चिकित्सा कराई, वह भी अपने घुटनेको आराम हो जानेकी इच्छासे नहीं; बल्कि मेरे विज्ञानकी परीक्षाके लिए । कुछ दिन बाद जब कि उसके घुटनेमें दाह और शोथ बढ़ा तब उसे आश्चर्य होने लगा । इससे यह सिद्ध होता है कि उसकी चोटको पूरी तरहसे आराम नहीं हुआ था । मेरी चिकित्सा कुछ दिन और करनेसे उसकी दाह और सूजन बहुत जल्द दूर हो गई । उसको यह देखकर और भी आश्चर्य हुआ कि घुटनेके जोड़की सख्ती बिल्कुल जाती रही । वह टाँगसे उसी प्रकार अच्छी तरह चलने-फिरने लगा जैसे कि चोट लगनेसे पहले चलता-फिरता था ।

हड्डीका टूट जाना (Fractures)—इसकी गणना उन रोगोंमें की जाती है जो बाहरी चोटसे पैदा होते हैं । इसमें बहुत धीरे धीरे आराम होता है । डाक्टर लोग इसमें प्रायः पैरिस ड्रेसिंगके प्लास्टरका व्यवहार करते हैं; किन्तु मैं इसके लिए अत्यन्त निश्चित और तत्काल प्रभावजनक एक और ही प्रकारका उपाय करता हूँ । मेरी चिकित्सामें सबसे बढ़िया बात यह है कि रोगीको तुरन्त चैन पड़ जाता है और चैन तब तक बना रहता है जब तक कि हड्डी टूटनेके बाद

उत्पन्न हुई सृजन और दर्द बिल्कुल दूर नहीं हो जाते। ऐसी दशा में रोगीको घर्षण-स्नानकी तरफसे लपवाही न करना चाहिए जिससे आरोग्यता शीघ्र प्राप्त होती है। जो मनुष्य इस प्राकृतिक जल-चिकित्साको छोड़कर ग्लास्टर ड्रेसिंग आदिके द्वारा चिकित्सा करते हैं, वे मानों प्रकृति देवीके निर्दिष्ट सत्य सिद्धान्तोंकी अवहेलना करते हैं।

यदि कदाचित् स्थानिक कारणसे जख्मी अङ्गपर जलकी गदियाँ ठीक तौरसे न बाँधी जा सकें और सहारेके लिए किसी सख्त चीजके बाँधनेकी आवश्यकता हो, तो लकड़ीके पतले तख्ते, कागजके पुट्टोंके टुकड़े या पेड़की छालके तख्ते बाँधकर काम निकाल लेना चाहिए, पर ग्लास्टर ड्रेसिंगका उपयोग कभी नहीं करना चाहिए।

जो लोग मेरी इस अनुमतिके अनुसार चिकित्सा करेंगे, उन्हें स्वयं विदित हो जायगा कि मेरी सम्मतिसे चिकित्सा करनेपर टूटी हड्डी कितनी जल्दी आसानीसे आराम हो जाती है और कितनी जल्दी पीड़ामें कमी हो जाती है।

एक ३० वर्षके जवान आदमीके दाहिने हाथकी कोहनीके पासकी हड्डी टूट गई थी। प्राकृतिक चिकित्साका वह भक्त था, इसलिए तुरन्त उसने अपनी बाँहपर शीतल जलकी गदियोंका बाँधना और बाँहको स्नान कराना शुरू किया। एक डाक्टरको उसने सम्मतिके लिए बुलाया। उसने एक ग्लास्टरकी पट्टी बाँधनी चाही और कहा कि बाँह हमेशाके लिए कठोर हो जायगी; किन्तु रोगीने इस बातको कुछ आशाजनक न समझा और वह सीधा मेरे पास चला आया। मैंने उसको यह बताया कि बाँहको कागजके पुट्टोंके सहारे बाँधकर लोहेकी बारीक जालीमें रखा जाय और ठंडे पानीकी गदियोंसे वहाँ ठंड पहुँचाई जाय। साथ ही मेरा घर्षण-स्नान और अनुत्तेजक सादे आहारका सेवन किया जाय। इस

प्रकार इलाज करनेसे उसे शीघ्र ही चमत्कारी फल दिखाई दिया। २४ घंटेमें ही उसकी पीड़ा और सूजन बिल्कुल जाती रही। एक सप्ताहमें उसका हाथ कुछ कुछ लिखने योग्य हो गया और दूसरे सप्ताहमें वह सहजमें ही कुर्सीको उठाने लायक हो गया। कोई ३ सप्ताहमें उसकी टूटी हुई बाँह बिल्कुल आराम हो गई।

खुले मुँहवाले घाव—शस्त्रके द्वारा छेदन अथवा भेदन किए हुए घाव या वे घाव जो अकस्मात् बाह्य आघातके होनेसे—जैसे किसी युद्धमें तलवार आदिके लगनेसे—हो जाते हैं, इस चिकित्सा-विधिके द्वारा सहजमें ही शीघ्र आराम हो जाते हैं; परन्तु शरीरमें उत्पन्न होनेवाले दूसरे प्रकारके दुर्गन्धित घावोंके सम्बन्धमें यह बात नहीं है। मेडिकल साइन्स इन पकते हुए और दुर्गन्धित घावोंको औपदेशिक, सार्तानिक अथवा क्षय-सम्बन्धी आदि चाहे किसी भी नामसे क्यों न पुकारे, पर वास्तवमें सब घाव एक ही हैं और शरीरके भीतरकी एक प्रकारकी पचन (सड़न) क्रियाको प्रकट करते हैं। किन्तु ऐसे घावोंको पूर्ण रूपसे आरोग्य करनेमें एलोपैथी चिकित्सा अब तक कामयाब नहीं हो सकी है। भले ही वह ओषधिद्वारा पचन-क्रियाको प्रकट न होने दे अथवा दूषित पदार्थको फिर शरीरमें ही दबाकर उसकी क्रियाका स्वरूप बदल दे, परन्तु इस विचारको संपूर्ण दूर करनेकी उसमें क्षमता नहीं है। न उसमें इतनी शक्ति है और न उसे ऐसे साधन ही प्राप्त हैं कि वह रोगका सफलतासे प्रतीकार कर सके। अत एव वे घाव, जो हमें एलोपैथीके द्वारा प्रत्यक्षमें आराम हुए दिखाई देते हैं, शरीरके किसी दूसरे अङ्गमें फिर फूट निकलते हैं, अथवा यों कहिए कि शरीरके भीतरसे दूषित पदार्थ किसी न किसी प्रकार बाहर निकलता ही रहता है। यद्यपि यह ठीक है कि ऐसे बहते हुए घाव, यदि उनमें बाहरसे चोट न लगे तो, उतने कष्टदायक नहीं

होते जितने कि बाह्य आघातसे उत्पन्न हुए घाव, तथापि ऐसे घावोंका आराम होना यदि असंभव नहीं तो बहुत कुछ कष्टसाध्य अवश्य है, क्यों कि खुले हुए घावोंका सम्बन्ध किसी गहरी मन्द व्याधिके साथ होता है। आजकल जो प्रतिदिन आत्मघात हो रहे हैं, उनका कारण भी यही भीतरी व्याधिग्रस्त दशा है। हम देखते हैं कि मानव-जातिका, अपनी प्रकृति माताके प्रति विद्रोह कितने नियमित और संगठित रूपसे हो रहा है। उक्त घावोंके उत्पन्न होनेका कारण क्या है ? इस विषयमें मेरा उत्तर यह है कि वे घाव, शरीरमें विजातीय द्रव्यका भार होनेसे ही उत्पन्न होते हैं और उन रोगोंकी समुन्नत दशा हैं जिनको आराम न करके शरीरके भीतर दबा दिया गया है। बहुतसी दशाओंमें ये घाव शरीरमें नीचे कही ओषधियोंकी अधिक भर्ती करनेसे ही हुए हैं, जैसे—पारा, आयोडीन (Iodine), आयोडाइड ऑफ पुटेसियम (Iodide of Potassium), ब्रोमाईन (Bromine), सैलिसिलिक एसिड (Salicylic acid), डिजिटेलिस (Digitalis), कुइनाइन (Quinine) आदि, ये ओषधियाँ अत्यन्त विषैली और शरीरके लिए बहुत हानिकारक हैं। इनके अलावा टीका लगाना शरीरमें विष फैलानेका एक दूसरा साधन है। यह बहुत ही बुरी चीज है जिससे कि मानव-समाज प्रतिदिन क्षीण होता चला जा रहा है। टीकेके प्रभावसे जीवन-शक्ति अत्यन्त निर्बल होती जाती है। इसीसे वह विकृत पदार्थको—जो धीरे धीरे शरीरमें संचित होता रहता है,—शीतला और चेचकके रूपमें तो बाहर नहीं निकलने देती बल्कि भविष्यमें उस क्षय, सर्तान, आतशक, उपदंश, मृगी, उन्माद आदि भयंकर और प्रायः दीर्घकाल तक चलने-वाले असाध्य रोगोंके रूपमें बाहर निकालती है। दुर्भाग्यसे वर्तमान

डाक्टरों प्रणाली जीवनशक्तिके मर्मको नहीं समझती। यदि ऐसा न होता, तो उन वर्षोंके दुष्प्रभाव, आधुनिक डाक्टरोंसे छिपे न रहते, चाहे वे वर्षों बाद ही क्यों न प्रकट हुआ करते।

जिस औषध-विज्ञानको अभीतक यह भी ठीक पता नहीं है कि ओषधियाँ मनुष्यके शरीरमें किस जगह रहकर कैसा प्रभाव डालती हैं, उसी विज्ञान-शास्त्रके अनुयायियोंके द्वारा सेवन कराई हुई विषैली ओषधियाँ मनुष्यके शरीरमें रोग प्रकट होनेसे वर्षों पहले ऐसा बीज बो देती हैं, जिससे शरीर शनैः शनैः विजातीय द्रव्यसे भर जाता है और शीघ्र ही उसपर खुले घाव फूट निकलते हैं।

डाक्टरों चिकित्सा-विज्ञान सदैव नई ओषधियों, वायुको शुद्ध करने-वाले नवीन कृमिनाशक पदार्थों और वायुकी कृमिनाशक नवीन वस्तु-ओंकी खोजमें लगा रहता है और एकसे एक अधिक प्रभावशाली ओषधियोंका निर्माण करता रहता है, अर्थात् एकसे दूसरी ओषधि अधिक विषैली बनाता रहता है। आरोग्यप्रद शोधन क्रियाके प्रकट होनेपर पहले तो ऐसी ओषधिका व्यवहार किया जाता है, जो जीवन-शक्तिको क्षीण करनेवाली हो, जैसे—एण्टीफेब्रीन। वह फिर रोग (काइसिस) को जारी नहीं रहने देती। ऐसा करनेसे रोगके बाह्य लक्षण तो लुप्त हो जाते हैं, परन्तु रोगका असली कारण दूर नहीं होता। तो भी डाक्टर कहते हैं कि रोगीको आराम हो गया। यदि कदाचित् कुछ समयके बाद शरीरकी जीवन-शक्ति फिर कुछ लौट आती है और रोग उसी रूपमें या और किसी रूपमें प्रकट हो जाता है, तो उस समय एण्टीफेब्रीन अपनी पहली जैसी प्रतिक्रिया नहीं दिखला सकती, फलतः पहलेसे अधिक तीव्र और विषैली ओषधियोंकी जरूरत पड़ती है। शरीरमें जीवन-शक्ति जितनी अधिक होगी, उतनी ही कम ताकतवाली ओषधि शोधन-प्रक्रियाको

रोकनेके लिए काफी होगी—और इसके विपरीत शरीरमें जीवन-शक्ति जितनी कम होगी, उतनी ही अधिक तेज़ ओषधि काइसिस या रोग-निवारक संकटको दबा सकेगी। हर एक ओषधि एक प्रकारका विष है, अर्थात् वह ऐसा विषैला पदार्थ है, जिसे शरीर कभी अपनेमें नहीं मिला सकता। मनुष्यके शरीरमें जितनी अधिक जीवनी-शक्ति होगी, वह उतने ही अधिक बलसे और शक्तिसे विजातीय द्रव्यके द्वारा पहुँचे हुए नुकसानसे शरीरकी रक्षा करेगी। उस समय वह विष श्लेष्म (म्यूकस) के एक पर्देमें छिप जाता है। इसके अतिरिक्त जब जीवन-शक्ति क्षीण होती है, तब थोड़ीसी विषैली ओषधिका उस-पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वह न्यूनाधिक बेसुध रहती है और जबतक उसका पूरी तरह न छेड़ा जाय, काम नहीं करती। ऐसी अवस्थामें विषके हानिकारक प्रभावको रोकनेकी क्रिया बहुत धीरे धीरे होती है।

अब मैं अपनी चिकित्साका एक उदाहरण देता हूँ, जो ऊपरके कथनको भली भाँति स्पष्ट करेगा। एक डाक्टरको विश्वास था कि उसने बड़ी खोज करके टाँगके खुले हुए घावोंको आराम करनेके लिए एक अद्भुत ओषधिका आविष्कार किया है, जिसके कारण उसकी बहुत कुछ ख्याति भी हो गई। उस ओषधिका इतना अच्छा प्रभाव होता था कि उसके लगानेसे प्रायः घाव बहुत जल्द भर जाते थे, क्योंकि वह केवल दूषित पदार्थको एकदम शरीरके भीतर प्रविष्ट कर देती थी। अतः उस ओषधिसे, इस प्रकार, एक आदमीकी टाँगकी हड्डीके बड़े बड़े गहरे घाव शीघ्र अच्छे हो गये। परन्तु कोई दो वर्ष बाद जब वे पुराने घाव फिर फूटे, तब रोगी उसी डाक्टरके पास फिर गया। किन्तु शोक, इस बार वह ओषधि अपना कुछ भी चमत्कार न दिखा सकी। हैरान

होकर डाक्टरको यह कहना पड़ा कि ये घाव दूसरे ही प्रकारके हैं, पहली बार यह बीमारी न थी और उसकी ओषधि इस नये रोगको आराम करनेवाली नहीं है। अब टाँगको काट डालनेके सिवा और कोई रास्ता नहीं है। ऐसे चिकित्सा-विज्ञानको धिक्कार है। सम्मानित डाक्टर लोगोंके पास पीवसे टीका लगानेके सिवा रोगसे बचनेका और कोई उपाय नहीं है, जैसा कि शीतलमें किया जाता है। अथवा जिनके रोगका ठीक पता नहीं चलता, उनके उन अङ्गोंको ही काटकर शरीरसे अलग कर देनेके सिवाय वे और कुछ नहीं कर सकते। परन्तु इसके विरुद्ध डिप्लोमा-हीन बेचारे प्राकृतिक चिकित्सकोंमें यह बात नहीं है।

खुले हुए घावोंकी—जो भीतर ही भीतर काट करते चले जाते हैं—उत्पत्तिका भी वही एक छिपा हुआ कारण है, अर्थात् शरीरमें विजातीय द्रव्यके भारका होना। यह बात इससे स्पष्ट है कि घावमेंसे जो पीव निकलती रहती है उसमें विजातीय द्रव्य होता है। खुले हुए घाव विजातीय द्रव्यकी केवल बढ़ी हुई अवस्था है, जो कि भीतरकी बढ़ी हुई गर्मीपर अवलम्बित है। यह भीतरी बढ़ी हुई गर्मी—जिसे मैं ज्वर कहता हूँ—विजातीय द्रव्यमें पहले एक प्रकारका उद्वेग-सा पैदा कर देता है, जिससे बेसिलार्डकी उत्पत्ति बढ़ने लगती है। फिर विजातीय द्रव्यके रूपमें गर्मीकी मात्राके अनुसार तबदीली होती रहती है।

यदि हम इस बातको याद रखें तो वह विधि—जिससे कि यह दशा बदलकर भयानक बेसिलार्ड नष्ट हो सकते हैं,—हमारे लिए स्पष्ट हो सकती है। बढ़ी हुई गर्मीका नियंत्रण अवश्य किया जाना चाहिए। घटानेके लिए मेरे ठंडे और भापके स्नान तथा सादा भोजन वैसे ही सर्वो-

त्तम साधन हैं जैसा कि मेरा मुखाकृति-विज्ञान बढ़िया रोगकी परीक्षाका अचूक थर्मामीटर है ।

मैंने सर्तानी घाव, क्षयके घाव, आतशक, उपदंश, क्षय आदि भिन्न भिन्न प्रकारके असंख्य रोगियोंके घाव अच्छे किये हैं । बहुतसे ऐसे रोगियोंके घाव जिनकी जीवनी-शक्ति अधिक नष्ट नहीं हुई थी और जिनका शरीर ओषधियोंका अधिक खजाना नहीं बन चुका था, बहुत ही थोड़े समयमें अच्छे हो गये । उनमेंसे मैं यहाँ केवल एक ही रोगीका हाल सुनाता हूँ, जिसकी हालत बहुत रद्दी थी और जिसके आराम होनेमें औसतन तीनसे छै गुना तक समय लगा था ।

एक ५० वर्षके सज्जनके पैरों और टाँगोंमें घुटनोंतक बहुतसे खुले हुए घाव थे । कोई ३०, ४० घावोंका एक छत्तासा बन गया था, जिनमें सबसे बड़ा घाव ४ इंच लम्बा चौड़ा था । उनमेंसे पानीके समान बड़ी बद्बूदार पीब निकलती रहती थी । एक दफा वे आराम हो गये, परन्तु उस स्थानमें इतनी ज्यादा खुजली पैदा हुई कि खुजलाते खुजलाते वे घाव फिर उभर आये । खुजली होनेका कारण केवल त्वचाके भीतर दूषित पदार्थ—विजातीय द्रव्यके उद्वेगकी तेजी और टाँगोंमें उसकी बढ़ी हुई गर्मी थी । ज्यों ही घाव फिर फूट निकले त्यों ही खुजली एकदम बन्द हो गई । टाँगके निचले हिस्सेका रंग स्याह पड़ गया था, जिससे यह मात्क्रम होता था कि उसके भीतर सड़न भी मौजूद है । कुछ घाव तो इतने गहरे थे कि कटते कटते हड्डी तक पहुँच गये थे । उस रोगीने जितनी चिकित्सायें कीं उनमेंसे किसीसे भी लाभ न हुआ । बस यही बाकी रह गया कि या तो टाँग काट दी जाय या सड़नके आगे बढ़नेसे मृत्यु हो जाय । ऐसी निराशाकी अवस्थामें यद्यपि उसको मेरी विधिपर विश्वास न था तो भी वह पुरुष मेरे पास आया ।

मैंने मुखाकृति-विज्ञानके द्वारा यह जान लिया कि उसका हाज्मा बिल्कुल बिगड़ा हुआ है। वह बहुत हल्के भोजनको भी ठीक तरहसे नहीं पचा सकता था, इस लिए शरीरमें शुद्ध रक्त नहीं बनता था। फेफड़ोंकी क्रिया भी ठीक नहीं थी। इससे यह बात साफ ध्यानमें आ सकती है कि उसके शरीरमें विकृत पदार्थ बहुत इकट्ठा था और नित्य बढ़ रहा था। उसके आमाशय और फेफड़ोंकी हालत ही ऐसी थी कि दुर्द्रव्यकी नित्य वृद्धि होना लाजमी था, परन्तु रोगीको इसकी कुछ भी खबर न थी कि मैं विजातीय द्रव्यके भारसे ग्रस्त हूँ और इसी कारण टाँगोंमें घाव हो रहे हैं। इसलिए वह मेरी इस बातको न समझ सकता था कि मैं उसके समस्त शरीरकी चिकित्सा करनेके लिए क्यों इतना जोर दे रहा हूँ और केवल टाँगकी ही चिकित्सा क्यों नहीं करता। उसके घावोंके लिए मैंने पानीकी गदियाँ बाँधना और उसके ऊपर ऊनी कपड़ा लपेट देना बता दिया था। मैंने इस बातपर बहुत जोर रखा कि वह बिल्कुल सादा आहार करे, ताजी वायुमें रहे और प्रतिदिन चार मेहन-स्नान कर स्वाभाविक रीतिसे पसीना लानेकी कोशिश करे। परन्तु रोगीने शुरूसे ही इस बातपर तो अधिक ध्यान दिया कि टाँगोंमें भीगी गदियाँ बाँधे, लेकिन पथ्य और स्नान आदिकी कुछ पर्वाह न की; क्योंकि वह इसका कुछ मतलब न समझ सका था। नतीजा यह हुआ कि उसको ६ महीने तक कुछ लाभ न मादूम पड़ा। अंतमें जबरन उसे मेरे कहनेपर पूरी तरह चलाया गया, अपनी मनमानी न करने दी गई, तब अगले ६ महीनोंमें उसे इस चिकित्सासे अत्यन्त लाभ हुआ। बड़े बड़े घाव छोटे हो गये और छोटे छोटे बहुतसे घाव भरकर अच्छे हो गये। खुजलीकी तकलीफ भी जाती रही, पीब निकलना प्रायः बन्द हो गया। इसके सिवा उसकी शारीरिक अवस्था और पाचन-शक्ति पहलेसे बहुत

कुछ सुधर गई। फेफड़ोंकी खराबीका बढ़ना भी बंद हो गया। इन शुभ लक्षणोंको देखकर फिर तो उस रोगीने मेरी चिकित्सा बड़े उत्साहके साथ की। दूसरे वर्ष घाव घुटनेके नीचेसे हटकर घुटनेके ऊपर हो गये, अर्थात् नीचेके घाव आराम होकर फिर घुटनेके ऊपर फूट निकले। यह एक बहुत अच्छा लक्षण था, इससे यह जान पड़ा कि रोग अब पेड़के अत्यन्त निकट आ गया है। नीचे टाँगकी दशा बहुत कुछ सुधर गई। जब जाँघपर पहला घाव पैदा हुआ जहाँ कि पहले कभी नहीं हुआ था तब रोगीने यह समझा कि मेरे इलाजसे भी कुछ फायदा नहीं है। क्योंकि अब तो घाव बिल्कुल धड़के समीप पहुँचा है। मैंने उसे समझाया कि यह एक बहुत अच्छा लक्षण है कि विकृत पदार्थ जिस मार्गसे (अर्थात् पेड़की ओरसे) आया था उसी तरफको लौट रहा है। उसको यह बात ठीक मालूम पड़ी और अपना इलाज जारी रखवा। तीन सालकी चिकित्सासे उसका हाज्मा और फेफड़े सुधरकर इतने बलिष्ठ हो गये कि घावका नाम भी न रहा। साथ ही इस बीचमें उसकी त्वचाका असली रंग भी लौट आया। इस प्रकार मेरी चिकित्सा-विधिने उस रोगको—जिसे मशहूर डाक्टरों-ने क्षय और सर्तान मिश्रित असाध्य रोग बताया था—आराम कर दिया। अब तक उसके घाव फिर कभी नहीं फूटे और न ऐसा कोई लक्षण ही दिखाई दिया।

विषैले कीड़े-मकोड़ोंका काटना, पागल कुत्ते या सर्पका काटना रुधिरका दूषित होना—रुधिरके कण (Corpuscles) बहुत ही संवेदनशील होते हैं। रुधिरमें विकृत पदार्थका स्पर्श होते ही उसमें एक प्रबल प्रतिक्रिया पैदा होती है। वह प्रतिक्रिया

उद्वेगकी प्रक्रियाके समान ही होती है । विषैले सर्पके काटनेसे एक वास्तविक नीरोग मनुष्यको भी, चाहे उसकी शारीरिक दशा कैसी ही उत्तम क्यों न हो, बिल्कुल उद्वेगके समान बुखारके लक्षण पैदा हो जायेंगे ।

जब शरीरमें विजातीय द्रव्य भरा होता है तब विष अपना काम और भी अधिक तेजीसे करता है, यह प्रत्यक्ष ही है । विजातीय द्रव्य स्वतः एक उद्वेगकारी वस्तु है । यदि खूनमें विष पहुँच जाय तो दुर्द्रव्य और अधिक बढ़ जाता है, फिर चाहे वह विष कीड़े या सर्पके काटनेसे दाखिल हुआ हो अथवा कुत्तेकी लार, पीव या पचन-क्रियाके विकारसे उत्पन्न हुआ हो । इस तरह विजातीय द्रव्यका अधिक संग्रह हो जाता है, जो शरीरमें तीव्र उद्वेग पैदा कर देता है, जिससे अवस्थ और भी भयानक हो जाती है । मनुष्यके शरीरमें जितना अधिका विजातीय द्रव्य होगा उसके रुधिरमें विष प्रविष्ट होकर उतने ही तीव्र वेगसे उद्वेग क्रिया होने लगेगी । इसी कारण एक मधुमक्खीके काटनेपर किसीके शरीरमें तो अत्यन्त सूजन हो जाती है और किसीके शरीरमें मच्छरके काटनेके बराबर भी उसका असर नहीं होता । मैंने देखा है कि एक मनुष्य पागल कुत्तेके काटनेसे पागल हो गया और दूसरे मनुष्यके उसी कुत्तेके काटनेपर कुछ ऐसा भी असर न हुआ जो कहनेके योग्य हो । साँपके काटनेपर भी एक आदमी मर जाता है और दूसरेको केवल ज्वर ही आकर रह जाता है । भय साँपके काटनेमें नहीं है, बल्कि भय उस मनुष्यकी शारीरिक दशामें है, जिसको साँप काँटता है । यही ऑपरेशनद्वारा रुधिरमें विष फैलनेसे (blood poisoning) होता है जो कि अक्सर बड़े बड़े कामयाब ऑपरेशनोंके बाद देखनेमें आता है ।

इस तरह मेरा उद्वेगवाला सिद्धान्त इस बातको साफ तौरसे समझा देता है कि पागल कुत्तेके काटनेपर ऐसे ऐसे विचित्र प्रभाव क्यों दिखाई पड़ते हैं, जहाँ कि कुत्तेकी लार तो गुप्त रीतिसे पहले रोगकी भूमिकाका भ्रम कर देती है और तीव्र लक्षण फिर बादको प्रकट होते हैं । कुत्तेका विष सबसे पहले उदरकी नाड़ियों और उसके दूसरे यन्त्रोंपर अपना प्रभाव डालता है । यह प्रभाव काटनेके बाद भी कई कई सप्ताह तक सिर और दिमागमें नहीं पहुँचता । जब असर दिमाग तक पहुँच जाता है, तभी हाइड्रोफोबिया (अर्थात् जलसे डरना या कुत्तेके काटनेपर अन्यान्य उपद्रवोंका होना) के रूपमें नाड़ियोंके संकुचित होनेके चिह्न दिखाई देने लगते हैं । मैंने देखा है कि पागल कुत्ताकी पाचन-शक्ति और क्षुधा त्रिलकुल असाधारण हो जाती है ।

सर्पके काटनेका प्रभाव नीचे लिखे उदाहरणसे भली भाँति समझमें आ जायगा—

एक लड़का जंगलमें जमीनपर लेटा हुआ था । उसके सिरमें अचानक एक सर्प (adler) ने काट लिया । नतीजा यह हुआ कि लड़केके पेटमें ऐंठन शुरू हो गई, जिससे उसे १५ घंटे तक पेशाब न हुआ । उसका जीवन बड़े खटकेमें पड़ गया । मेरी चिकित्सा-विधिसे उसका इलाज किया गया । उसको सारे शरीरका और स्थानिक वाष्प-स्नान देकर पसीना लाया गया । फिर ठंडे स्नान दिये गये और सादा, अनुत्तेजक आहार दिया गया । कुछ समयमें ही तमाम खतरा दूर हो गया और उसको खूब खुलकर पेशाब हुआ ।

अब यदि हम सब तरहके रुधिरके विषोंका विचार करते हैं, तो हमें मालूम होता है कि प्रथम शरीरके क्षत स्थानपर सूजन आ जाती

है, बड़ी जलन पड़ती है और तीव्र ज्वर होता है। पहले ज्वर स्थानिक ही होता है। हमारा पहला लक्ष्य यह ज्वर शान्त करना होना चाहिए। इसमें शरीरके क्षत अङ्गको स्थानीय ठंड पहुँचाना बहुत ही उपयोगी होता है। जब रुधिरमें विषका अधिक वेग हो, तब प्रायः यह आवश्यक होता है कि काटे हुए स्थानको यदि हो सके तो नदीके बहते पानीमें या कुर्येके ही पानीमें डुबोकर जहाँतक मुमकिन हो उसको ठंड पहुँचाई जाय। बहनेवाला पानी हो तो और भी अच्छा। यदि अङ्गको शीतल जलमें रखना न बन सके, तो उसपर पानीकी गदियाँ लगातार बाँधनी चाहिए और साथ ही साथ मेरी घर्षण-युक्त मेहन और कटि-स्नानकी विधि का भी क्रम क्रमसे एकके बाद दूसरीका प्रयोग करना चाहिए।

छोटे छोटे जीवोंके काटनेपर, जैसे मक्खीके डंक मारनेसे कुछ सूजन हो जाती है, जो थोड़े समय तक रहकर फिर अपना कोई असर छोड़े बिना ही नष्ट हो जाती है। इसमें यह एक ध्यान देने योग्य खास बात है कि ये छोटे जीव प्रायः शरीरके उन्हीं अंगोंमें काटा करते हैं, जिनमें कि विकृत पदार्थका भार अधिकतर होता है। उपर्युक्त दशाओंमें भी पानीकी गदियोंका बाँधना हितकर है। ये गदियाँ विषको बाहर निकाल निकाल करके आरोग्य-लाभके साधनोंमें शरीरको मदद पहुँचाती हैं, अथवा श्लेष्ममें उस विषको मिलाकर उसे निर्विष कर देती हैं।

जब सूजन फैलकर आगे बढ़ने लगती है, तो भय निकट ही होता है और बर्बाद करनेके लिए समय नहीं रह जाता। जहाँ विषका प्रभाव फैला हो, उस अङ्गको तुरन्त ठंडे पानीमें रखना चाहिए और यदि ऐसा न बन सके तो उसपर पानीकी गदियाँ बाँधनी चाहिए और यदि मुमकिन हो तो मेरा बताया वाष्प-स्नान लेकर ठंडे स्नान लेनेसे तुरन्त चैन पड़ जायगा। ठंडे घर्षण स्नानोंको फिर अलग भी लेना चाहिए

और यदि कोई खतरा दीखे तो हरएक दो दो या तीन तीन घंटे बाद उनको लेते रहना चाहिए। इस प्रकार ज्वरकी गरमीको बाहर निकाल देनेसे बहुत कुछ लाभ होता है। ऐसी दशामें उपवास करना बहुत अच्छा है। यदि बिना खाये न रहा जा सके, तो बिना छने आटेकी थोड़ी सी रोटी और फल खाने चाहिए। पानी पीनेमें कोई हानि नहीं है। ठंडे स्नानके बाद शरीरमें गर्मी लानेके लिए कुछ देर धूपमें बैठना चाहिए और हो सके तो मैदानमें घूमना या व्यायाम भी करना चाहिए। यदि क्षत-स्थान कड़ा हो गया हो, तो उस अङ्गको वाष्प देना बहुत अच्छा है, लेकिन उसके बाद ठंडा घर्षण-स्नान अवश्य देना चाहिए। वाष्प-स्नानसे जो पसीना आता है उसके साथ शरीरका बहुतसा दुर्द्रव्य बाहर निकल जाता है।

इस कथनका सारांश यह है कि इस प्रकारकी चोटें भी ज्वरही-की एक दशा उत्पन्न कर देती हैं। उस ज्वरको शान्त करनेके लिए ही हमें सबसे पहले चेष्टा करनी उचित है।

एक २० वर्षके लड़केको खेतमें काम करते हुए बाँयें हाथमें एक विषैले कीड़ेने काट खाया। उस समय उसको कुछ विशेष पीड़ा नहीं मालूम हुई और न वह जगह कुछ ऐसी सूजी ही, इसलिए उसने उसपर कुछ अधिक ध्यान नहीं दिया। कुछ घंटोंके बाद उसके पीड़ा बढ़नी शुरू हुई और सारा हाथ सूज गया। थोड़ी देरमें फिर सूजन पूरी बाँह तक चढ़ गई। उस समय जो चिकित्सक बुलाया गया, उसने कहा कि रुधिरमें विष फैल गया है और सारी बाँह काट देना अनिवार्य है। दैवयोगसे वहाँ मेरी प्रणालीका जाननेवाला एक आदमी मौजूद था, उसने मेरी विधिका व्यवहार कराया। क्योंकि इस

प्रकार हाथ कटवा देना किसीको अच्छा नहीं लगता। पहले स्थानिक बाष्प दिया गया, फिर उसको घर्षण उदर-स्नान कराया गया। कभी कभी केवल सादे उदर-स्नान ही कराये गये। इससे उसको बहुत लाभ हुआ और सूजन बढ़नी रुक गई। स्नानोंके बीचमें उसके क्षत स्थानपर पानीकी गड़ियाँ रक्खी गईं। रोगीको खुले मैदानमें, विशेषकर धूपमें पसीना लानेके लिए, अच्छे प्रकारसे शारीरिक व्यायाम कराया गया, इन सरल उपचारोंके करनेसे ही विषके सब लक्षण तुरन्त ही मिट गये और साथ ही रोगीका साधारण स्वास्थ्य भी बहुत कुछ सुधर गया।

-स्त्रियोंके रोग

स्त्री-शरीरका गठन ऐसा उलझा हुआ है कि उनको जननेन्द्रिय-सम्बन्धी व्याधियाँ बहुत प्रकारसे घेर लेती हैं। ये व्याधियाँ प्रायः अत्यन्त दुःखद होती हैं।

मासिक धर्मका व्यतिक्रम, गर्भाधान, प्रसव, प्रसूति, जन्माखाने और स्तन-पानमें अनियमिततासे जो अनेक प्रकारकी पीड़ाएँ उत्पन्न होती हैं, उनके आतिरिक्त और भी अनेक शिकायतें पैदा हो जाती हैं। ये व्याधियाँ बहुधा वर्तमान युगकी भूलोंके सीधे परिणाम हैं। ये दूषित काम-वासनाओंके अधिक बढ़ने, अधिक भोजन करने और कुमार्गगामी होनेसे पैदा हो जाती हैं। इन्हीं कारणोंसे स्त्रियोंके शरीरोंमें चिरस्थायी और अत्यन्त हानिकारक रोगोंकी जड़ जम जाती है। इन्हींके द्वारा क्रम क्रमसे असाध्य विकारोंकी माला उत्पन्न हो जाती है, जिनको आरोग्य करनेमें चिकित्सा-शास्त्रके सम्पूर्ण उपाय व्यर्थ सिद्ध हुआ करते हैं।

अब विचार करनेकी बात यह है कि ये भिन्न भिन्न प्रकारके रोग — जो स्त्री-शरीरसे विशेष सम्बन्ध रखते हैं—कैसे उत्पन्न होते हैं ? इसका उत्तर यही है कि स्त्रियाँ ठीक तरहसे जीवन-निर्वाह नहीं करतीं। वे अपने शारीरिक स्वास्थ्यकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देतीं। खुले मैदानमें ठीक तरहसे व्यायाम नहीं करतीं। शारीरिक आवश्यकताओंको स्वाभाविक रूपसे ठीक समयपर पूरा नहीं करतीं। विषय-वासनामें रात-दिन लीन रहती हैं और प्रकृतिके मार्गसे हमेशा थोड़ा बहुत हटी हुई ही रहती हैं।

ये सब बातें और इसी प्रकारकी अन्य बहुतसी बातें स्त्रीके मृदु कलेवर-पर अपना शीघ्र प्रभाव जमा लेती हैं। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या है यदि स्त्रीके शरीरकी ग्रहन-शक्ति सर्वथा नष्ट हो जाय और उसके शरीरमें बहुतसी व्याधियाँ अपना डेरा जमा लें।

ऐसा न हो तो क्या हो ? एक मेहनती किसानकी ग्रामीण स्त्री प्रकृतिके यद्यपि बिल्कुल अनुकूल नहीं चलती, तथापि उसकी और एक नागरिक फैशनेबल रमणीकी यदि तुलना की जाय, तो मेरी बातका पता चल जायगा।

चूँकि स्त्रियोंका शरीर जो प्रायः इतनी सारी बीमारियोंका, घर होता है, उनमेंसे कुछ तो पैतृक होती हैं और कुछ अपनी भूलोंके कारण पैदा कर ली जाती हैं; इसी लिए मेरी चिकित्सा-विधिकी उनको बहुत बड़ी जरूरत है; क्योंकि इसमें उन सब रोगोंको मिटा देनेकी पूरी शक्ति विद्यमान है।

यह एक आनन्दकी बात है कि मेरी इस चिकित्सा-विधिकी इतना सरल और सुगम होनेके कारण स्त्री जातिने ही बड़ी खुशीसे बहुत

अधिक अपनाया है। उनके शरीरमें फिरसे तन्दुरुस्तीको लाकर इसने उनके दिलपर अपना अधिकार कर लिया है। बिना किसी लम्बे चौड़े तर्क-वितर्कके उन्होंने इस विधिको चुपचाप स्वीकार कर लिया है। इस विधिने, उन्हें अपनी सत्यताका निश्चय करा दिया है और उनको इस विधिका पूरा पूरा उत्साही भक्त और शिष्य भी बना दिया है। साथ ही मेरी नवीन निदानकी प्रणाली अर्थात् मुखाकृति-विज्ञानकी भी बहुतसी स्त्रियाँ भक्त बन गई हैं। यह विधि स्त्रियोंको पसन्द आनी ही चाहिए, क्योंकि इसके द्वारा निदान करनेसे जननेन्द्रियोंकी परीक्षा करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती, जो कि औरतोंको स्वभावसे नापसन्द होती है। इस निदान-विधिसे आश्चर्यजनक रीतिसे शरीरकी हालतका सच्चा पता मिल जाता है।

स्त्रियोंके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उनके रोगके कारण, अर्थात् किसी गहरी छिपी हुई व्याधिको ठीक तरह समझ लिया जाय। डाक्टरसे मुआयना करानेके डरसे कुमारियाँ और स्त्रियाँ शर्म खाती हैं, इस लिए उनकी बड़ी बड़ी शिकायतोंकी ओरसे भी प्रायः असावधानी और लापरवाही की जाती है।

स्त्रियोंने इस बातके लिए भी धन्यवाद प्रकट किया है कि मेरी प्रणालीमें जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ उनके गुप्त भागोंको अल-शस्त्रद्वारा वेधकर तकलीफ पहुँचानेका कोई वास्ता ही नहीं है।

चूँकि स्त्रियोंको इससे बहुत लाभ पहुँचा है, इसी लिए उनमें मेरी चिकित्सा-विधिका प्रचार बहुत बढ़ गया है। उनमें इसका इतना प्रचार होना इस बातका प्रमाण है कि यह चिकित्सा-विधि बहुत उत्तम और उपयोगी है। खी चाहे किसी भी रोगसे ग्रस्त क्यों न हो, इस चिकित्साके करते ही उसको तुरन्त शान्ति मिलती है।

मासिक धर्मके दोष—मासिक धर्मके होनेसे यह प्रकट होता है कि स्त्रीमें गर्भ धारणकी सामर्थ्य मौजूद है, और जबतक गर्भाधान नहीं होता, तब तक बराबर हर महीने—बिना उसका प्रयोजन सिद्ध हुए—रजःस्राव होता रहता है। इस क्रियाके होनेसे तन्दुरुस्त स्त्रीके शरीरमें किसी प्रकारकी शारीरिक पीड़ा अथवा मानसिक वेदना नहीं होती। यदि किसी स्त्रीके किसी प्रकारकी पीड़ा प्रतीत हो, तो यह निश्चय समझना चाहिए कि उसके शरीरमें विजातीय द्रव्यका भार मौजूद है।

मुझे अपने दीर्घकालके अनुभवसे यह प्रतीत हुआ है कि स्त्रियोंकी इस प्राकृतिक क्रिया (मासिक धर्म) का सम्बन्ध चन्द्रमाकी कलाओंसे है। अतएव आरोग्य स्त्रीके पूर्णमासीके दिन रजःस्राव शुरू होकर तीन या चार दिनतक जारी रहना चाहिए और २९ वें दिनकी समाप्तिपर फिर प्रकट हो जाना चाहिए। जिन स्त्रियोंके पूर्णिमाके दिन अथवा उसके आसपासके दिनोंमें मासिक धर्म नहीं होता, उनके उदरस्थ यन्त्रोंमें विजातीय द्रव्यका भार अवश्य है और वह भार उतना ही अधिक समझना चाहिए जितना कि ऋतुस्रावके दिन पूर्णिमासे अधिक दूर हट गये हों। यदि ऋतुस्राव दो दो या तीन तीन सप्ताहोंमें ही होने लगे, अथवा १४ या १५ दिन तक जारी रहे, तो विजातीय द्रव्यका भार और भी अधिक गहरा समझना चाहिए। दुर्भाग्यसे आज कल यह दशा अत्यन्त साधारण है।

प्रकृतिके साम्राज्यमें हरएक वस्तुमें नियमित समयपर उतार चढ़ाव हुआ करता है। इसी तरह हमको मासिक धर्मके द्वारा शारीरिक दशाओंमें भी सदा उतार चढ़ाव और कमीवैशी मादूम होती है। स्त्रियोंके लिए

मासिक धर्मका समय अधिक ध्यान देने योग्य है, जिसपर आमतौरसे कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता। रजस्वला स्त्रीको सब तरहकी उत्तेजनासे रहित और शान्त चित्त रहनेकी बड़ी आवश्यकता है, नहीं तो उसे बड़ी हानि उठानी पड़ती है, जैसा कि मैं अक्सर देख चुका हूँ। यही बात गर्भवती स्त्रियोंके लिए भी बहुत आवश्यक है। उनके विचारोंका और उनके कामोंका गर्भस्थ बालककी वृद्धिपर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। अनुभवसे यह सिद्ध है कि इन दिनोंमें जो रोग स्त्रियोंको हो जाते हैं उनका बहुत ही बुरा परिणाम होता है।

इन स्वाभाविक घटनाओंपर ध्यान देनेसे एक विचारशील पुरुषको स्त्रीके शरीरमें होनेवाली और और बातोंपर भी प्रकाश पड़ता है। उन बातोंसे हमको यह मालूम होगा कि प्रकृतिके सभी नियम किस प्रकार एक पैमानेपर काम कर रहे हैं। मैंने इस विषयका अपनी मुखाकृति-विज्ञान नामक पुस्तकमें विशद रूपसे वर्णन किया है। इस विषयसे अधिक रुचि रखनेवाले पाठक उसे वहाँ पढ़ें।

पहले कहा जा चुका है कि ऋतुस्त्रावका बहुत होना या कम होना, अथवा देरसे होना या जल्दी होना, इन सब बातोंसे यह साबित होता है कि शरीरमें विजातीय द्रव्यका भार है। अब प्रश्न यह है कि इस रुग्ण अवस्थाको किस प्रकार दूर किया जाय? हमारा नवीन चिकित्सा-विज्ञान वहाँपर भी हमारा साथ नहीं छोड़ता। पेटमें विजातीय द्रव्य होनेके कारण पहले हाज्मा बिगड़ता है और हाज्मेके बिगड़नेपर ऋतुसम्बन्धी शिकायतें शुरू होती हैं। ऐसा होना कानून और प्राकृतिक है। यदि हम पाचन-शक्तिको सुधार लें, आँतोंकी हालत ठीक कर लें जिससे कि मल अच्छी तरह आने लगे और बड़ी हुई गरमीको कम कर सकें, तो यह विकार अपने आप जाता रहेगा।

मेरे ठंडे स्नान जिनका क्रम विजातीय द्रव्यके भारकी कमी-वैशीके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिके लिए स्वतंत्र बनाना होगा, अनुत्तेजक आहार तथा मेरी और और स्वास्थ्यपद प्रक्रियायें ऋतुकालके दोषोंको दूर करनेके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई हैं। यह बात उन अनेक स्त्रियोंसे प्रमाणित हो चुकी है, जिन्हें इससे आराम हुआ है।

मेरी रायसे स्त्रियोंका मासिक रज शरीरमें उत्पन्न होनेवाले रसोंकी अनावश्यक अधिकता प्रकट करता है। गर्भस्थिति हो जानेपर वे ही रस जो पहले अनावश्यक थे गर्भकी पुष्टिके काममें आने लगते हैं। यह एक सत्य है कि गर्भकी रक्षाके लिए पूर्णिमाके आसपासके दिन खटकेके होते हैं। यह समय वह है जिसमें नीरोग स्त्रीको गर्भवती न होनेपर स्वाभाविक ऋतुकाल उपस्थित होता है।

मैंने इस बातका भी निश्चय किया है कि जिन रोगोंका सम्बन्ध गर्भाशयसे होता है वे जैसे जैसे चन्द्रमा वृद्धिगत होता है वैसे वैसे अधिक कष्टकारी होते जाते हैं और जैसे जैसे चन्द्रमा क्षीण होता जाता है वैसे वैसे तकलीफमें कमी आती जाती है। इन प्रक्रियाओंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मानव-जाति प्रकृतिके साथ कैसी बँधी हुई है।

अब मैं पाठकोंको अपने अनुभवके कुछ उदाहरणोंका वृत्तान्त विस्तृत रूपसे सुनाता हूँ, जिनमें उक्त समयके विचित्र प्रभावोंका वर्णन है।

एक गर्भवती स्त्री चूहोंसे बहुत डरती थी। एक दिन उसकी नंगी बाँहपर एक चूहा दौड़ता हुआ चला आया और यह ठीक उन दिनोंकी बात है जब कि उसको गर्भसे पहले साधारण तौरसे ऋतुधर्म हुआ करता था।

भयका उसपर इतना प्रभाव बैठ गया कि उसके दिलसे वह ल्याल कभी हटता ही नहीं था। रातको भी स्वप्नमें यही दीखता था। जब ६ महीने बाद उसके बालक पैदा हुआ, तो उस बालककी उसी बाँहके ठीक उसी स्थानपर दुम और बारीक बालोंके सहित उतनी ही बड़ी चूहेकी शक्ल मौजूद थी ! परन्तु यह चूहेका आकार बाँहकी त्वचामें ही मिला हुआ था, केवल विचित्रता यह थी कि चूहेकेसे ही भूरे बाल उसपर मौजूद थे।

दूसरा वृत्तान्त इस प्रकार है—एक स्त्रीके छठा गर्भ था। उस स्त्रीके, उसके पतिके और उसके सब बालकोंके काले बाल थे। किन्तु इस गर्भावस्थाके दिनोंमें एक लड़की—जिससे उसको अत्यन्त स्नेह था—उसके पास अधिकतर रहती थी। उस कन्याके ऐसे चमकीले सुनहले और घूँघरवाले कमनीय बाल थे कि जो बहुत कम देखनेमें आते हैं। वह स्त्री उस लड़कीसे अत्यन्त प्रेम रखती थी और यह चाहा करती थी कि मेरे बालकके भी ऐसे ही बाल हों। उसकी यह अभिलाषा उन दिनोंमें अधिक उभरा करती थी जब कि उसके ऋतुकालके दिन करीब होते थे और वह अक्सर इस बातका स्वप्न भी देखा करती थी। पाँच महीने बाद उसके कन्या उत्पन्न हुई। वह रूप रंगमें तो अपने माता-पितासे मिलती जुलती थी, किन्तु उसके बाल उसी लड़कीके समान सुनहले थे।

तीसरा वृत्तान्त यह है कि एक स्त्री अपने छोटेसे कुत्तेको गोदमें लिये हुए हवा खानेके लिए गाड़ीमें जा रही थी। वह कुत्ता किसी पासकी चीजपर ऐसा ललचाया कि एकदम कूद पड़ा और झटका खाकर गाड़ीके नीचे आ गया और पहियेसे उसका सिर कुचल गया। इस घटनासे

उस स्त्रीको इतना धक्का लगा कि वह कुत्तेके कुचले हुए सिरको किसी तरह भी अपने दिलसे न भुला सकी। वह स्त्री कई महीनेसे गर्भवती थी। इसके ६ महीने बाद उसके जो बालक उत्पन्न हुआ उसका सिर कुचले हुए आकारका था। पैदा होनेके बाद वह शीघ्र ही मर गया।

एक चौथा दृष्टान्त और सुनिए। एक स्त्रीके ऐसा बालक पैदा हुआ जिसका मुँह एक कानसे दूसरे कान तक फैला हुआ था। वह पैदा होते ही मर गया। इस कुरूप सन्तानके होनेका कारण यह था कि वह स्त्री एक बार अचानक एक बहुरूपियेको देखकर डर गई थी, जिसने एक बड़े लम्बे-चौड़े मुँहवाला चेहरा लगा रक्खा था। वह उसको देखनेसे इतनी अधिक भयभीत हो गई थी कि कई रात तक उसे नींद नहीं आई थी। यह घटना उसके मासिक धर्मके दिनोंमें ही हुई थी। अन्यथा उसका प्रभाव इतना भयंकर न हुआ होता।

अब पाठक इस बातको अच्छी तरह समझ गये होंगे कि बालकोंकी प्रकृति और विचार किस तरह माताओंकी मानसिक अवस्था और क्रियाओंके अनुसार होते हैं, जो कि उनकी गर्भावस्थाके समीपवर्ती मासिक धर्मके समय हुआ करती हैं। यदि स्त्री रंजीदा और निवृष्ट विचारोंको लिये हुए होगी, तो बालकमें भी आगे-पीछे वे ही बातें चमकेंगी। क्रोध, कायरता, उत्साह, साहस, चालाकी, बेईमानी, लोभ आदि सभी भले-बुरे गुण बालकमें इसी तरह आते हैं।

इस बातसे यह नतीजा निकलता है कि वे सब बाहरी कारण जो हमारी इन्द्रियोंपर अपना प्रभाव डालते हैं, अर्थात् हमारे मनपर अपना असर करते हैं, वे अपनी विशेष शक्तिको सीधे तौरपर नियोजित नहीं करते, बल्कि उसे नाडि-तंतुओंद्वारा प्रेरित करके पेड़ तथा उदरस्थ यन्त्रोंपर अपना काम करते हैं। जिन पाठकोंने मेरे ज्वरके सिद्धान्त-

को भली भाँति समझ लिया है वे जान सकते हैं कि मैं पेड़को ही समस्त रोंगोंकी उत्पात्तिका स्थान मानता हूँ । मेरा सिद्धान्त—जो पेड़को शरीरका प्रधान अङ्ग मानता है—ऊपर कही हुई बातोंसे अच्छी तरह पुष्ट होता है और साथ ही मेरी चिकित्सा-विधि ऐसे प्रमाणोंका अकाट्य समर्थन करती है ।

गर्भाशयका लटक आना और पेसरीका व्यवहार—यह शिकायत भी उसी एक कारणसे—अर्थात् गर्भाशयमें विकृत पदार्थके इकट्ठा हो जानेसे पैदा होती है, । विजातीय द्रव्य गर्भाशयमें भीतरी गर्मी और दबाव उत्पन्न करता है, और गर्भाशय कमताकत होनेके कारण उस दबावको रोकनेमें असमर्थ होता है, इससे वह आगेको निकल आता है । इसकी गति भी अन्त्रवृद्धि रोगके समान ही होती है, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है ।

इसका असली कारण बड़े बड़े डाक्टरोंको भी नहीं मालूम है । वे रोगकी जड़को तो समझते नहीं हैं, बस योनिमें केवल एक रबड़की पेसरी लगाकर गर्भाशयको पीछेकी ओर रोक देते हैं । मैंने ऐसी अनेक स्त्रियोंकी चिकित्सा की है, जो पेसरी (एक तरहका रबड़का छल्ला) पहने हुए थीं । ऐसे छल्लोंसे कुछ कालके लिए कुछ सहारा भले ही मिल जाता हो, किन्तु वे रोगके मूल कारणको दूर नहीं कर सकते ।

मेरी चिकित्साके द्वारा भीतरका दबाव, जिसकी वजहसे रोग बार बार अपना आक्रमण करता है, शीघ्र कम हो जाता है । विजातीय द्रव्य निकल जाता है और फिर पेसरीकी कोई अवश्यकता नहीं रहती । रोगके भी फिर उभरनेका खटका जाता रहता है ।

योनि का खिंच जाना—(Uterine Flexion) इसपर भी यही सिद्धान्त लागू होता है। यह विकार भी उसी तरह पेड़ों में भीतरी खिंचाव-के बढ़ जानेसे पैदा होता है। पेड़ों में दुर्द्रव्य इतना ज्यादा भर जाता है कि गर्भाशय अपनी स्वाभाविक स्थितिसे हटकर तिरछा होकर खिंच जाता है। इस विकारका भी वही एक ही इलाज है। यह मेरी चिकित्साविधिसे आरोग्य हुई स्त्रियोंके द्वारा साबित होता है। शस्त्र-क्रियासे अथवा हाथसे गर्भाशयको ठीक करना उसे सदाके लिए चुटीला कर देना है।

बन्ध्यात्व दोष—बड़े दुःखका विषय है कि बहुतसी स्त्रियाँ मेरे पास आकर अपनी हार्दिक वेदना इस तरह प्रकट करती हैं कि “हम बिल्कुल तन्दुरुस्त हैं, लेकिन हमारे विवाहसे लेकर अबतक—कोई सन्तान क्यों नहीं हुई।” वे स्त्रियाँ बहुत भूली हुई हैं। वास्तवमें बन्ध्यात्व दोष (बाँझपन) विजातीय द्रव्यके भारकी अधिकतासे हुआ करता है। यह भार जननेन्द्रियोंमें विशेष रूपसे होता है, जैसे—गर्भाशय, योनि, उसकी नलिका (ये दो नलिकाएँ हैं जो गर्भाशयके ऊपरी सिरेसे निकलकर कोख तक चली गई हैं।) आदि स्थानोंमें रहता है। यदि कभी विजातीय द्रव्यकी कुछ कमीसे गर्भ रह भी जाय, तो भी विजातीय द्रव्यकी अधिकतासे प्रदाह उत्पन्न हो जाता है, जो कि इतना तीव्र होता है कि उससे अत्यन्त खिंचाव और दबाव होकर गर्भपात हो जाता है, अथवा समयसे पहले ही बालक उत्पन्न हो जाता है। प्रायः गर्भपात अधिकतर पहले चार महीनोंमें ही हुआ करता है और उसमें प्रायः ऐसे कारण शामिल हो जाते हैं, जैसे—मनमें किसी प्रकारके भावोंकी उत्तेजना होना, भय, या अचानक कोई धक्का लगना, किसी ऊँचे

स्थानसे गिरना इत्यादि । इन सब बातोंसे विजातीय द्रव्यमें अत्यन्त उद्वेग उत्पन्न हो जाता है । कमरमें कसकर पट्टी बाँधनेसे भी गर्भपात हो जाता है ।

ग्रामोंमें जहाँ शहरोंकी अपेक्षा स्वास्थ्यसम्बन्धी नियमोंका अधिक पालन होता है, वहाँकी स्त्रियोंके गर्भपात बहुत कम होता है । मैंने ऐसी ग्रामीण स्त्रियाँ देखी हैं, जो गर्भावस्थाके सातवें महीने तक नाच-कूदमें शरीरक होती रहीं और फिर भी उन्हें कुछ हानि नहीं हुई ।

गर्भपात तभी दूर हो सकता है जब कि पहले उसके कारणको, अर्थात् जननेन्द्रियसे विकृत पदार्थको, दूर कर दिया जाय । इस विकारमें शस्त्र-क्रिया या इंजेक्शनसे अथवा ओषधिसे सिवाय लज्जाहरणके और कोई मतलब सिद्ध नहीं हो सकता । इन उपचारोंके करनेसे सम्भव है कि शोधनशक्ति इतनी नष्ट हो जाय कि फिर मेरी चिकित्सा-प्रणालीसे भी फायदा न हो सके ।

यहाँ यह बतला देना भी बहुत जरूरी है कि मैथुन किस समय करना चाहिए । इस विषयपर प्रत्येक व्यक्तिको ध्यान देना आवश्यक है । जैसे सृष्टिकी प्रत्येक वस्तुमें प्रातः समय जीवनी-शक्तिका अधिक संचार होता है, ऐसे ही मनुष्योंमें भी होता है । अतएव प्रातःकाल ही सन्तानकी उत्पत्तिके लिए बीज वपन करनेका उत्कृष्ट समय है । रात्रिको या और किसी समय किया हुआ संभोग स्त्री-पुरुषोंके स्नायुओंको शिथिल करता है और यदि ऐसे समय गर्भस्थिति हो जाय, तो बालकमें वैसी जीवनी-शक्ति नहीं आती जैसी कि आनी चाहिए ।

भी अवाशिष्ट हो, तो वन्ध्यात्व दोष दूर हो सकता है । मैं अपनी चिकि-

त्साके द्वारा ऐसी कितनी ही स्त्रियोंकी हार्दिक अभिलाषाको पूर्ण करनेमें सफल हो चुका हूँ ।

एक स्त्रीके विवाहको द्वाए आठ वर्ष बीत गये थे, परन्तु उसके कोई सन्तान नहीं हुई थी। उसकी बड़ी प्रबल इच्छा थी कि मेरे भी कोई सन्तान उत्पन्न हो। इसके लिए उसने बड़े बड़े प्रसिद्ध चिकित्सकोंकी चिकित्सा की, किन्तु परिणाम कुछ न हुआ। अन्तमें वह मेरे पास सलाह लेने आई। मैंने उससे कहा कि तुम्हारे बाँझ होनेका मुख्य कारण पेडूके भीतर विजातीय द्रव्यकी अधिकता है। इस लिए सबसे पहले उस दुर्द्रव्यको दूर करना चाहिए। ऐसा करनेसे ही तुम अपने मनोरथको पूरा कर सकोगी।

मैंने उसके लिए यह व्यवस्था दी कि प्रतिदिन दो-तीन ठंडे स्नान, अनुत्तेजक पदार्थोंका सादा आहार और स्वाभाविक रूपसे जीवन-निर्वाह करो। इस प्रकार उपचार करनेसे विजातीय द्रव्यका भार कम हो गया और कुछ महीनोंके बाद ही उसके गर्भ रह गया। मेरी चिकित्सा-विधिके अत्यन्त प्रभावशाली होनेका प्रमाण यह है कि उस स्त्रीका वह बालक बड़ी सुगमतासे नीरोग अवस्थामें उत्पन्न हुआ।

स्तनोंका घाव, अर्थात् थनैला तथा दूधका न उतरना—
बालकका सबसे उत्तम और प्रकृत आहार माताका दूध है। स्तन अङ्गोंमें सबसे आवश्यक अङ्ग हैं; किन्तु आजकल अनभिज्ञताके कारण दुर्भाग्यसे उनकी उपयोगिताका कुछ महत्त्व नहीं समझा जाता। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि एक ऐसे अमूल्य अङ्गकी ओर असावधानता होनेसे सन्तान आरोग्य नहीं बनती और जातीय निर्बलताका कारण होती है। ऐसी कितनी ही स्त्रियाँ देखी जाती हैं जो अपने बालकोंको अच्छे प्रकारसे दूध नहीं पिला सकतीं। वास्तवमें ऐसी स्त्रियाँ मनुष्य-जातिको उत्पन्न

करने योग्य नहीं हैं। पशुओंमें कभी ऐसी दशा देखनेमें नहीं आती। हम कभी यह नहीं देखते कि कोई पशु अपने बच्चेको दूध न पिला-सकता हो अथवा दूध पिलानेसे उसके स्तनोंमें घाव हो जाते हों। इससे यह माद्दम होता है कि ऐसे कोई निश्चित कारण अवश्य होंगे, जिनसे मानव-जातिमें यह विकार उत्पन्न होता है। इसका एक कारण यह है कि प्रसव होने और बालकको दूध पिलानेसे पहले स्तनोंका अत्यन्त भर जाना। जिन स्त्रियोंके स्तन अत्यन्त बड़े हुए होते हैं, वे स्त्रियाँ प्रायः बालकको दूध पिलाने योग्य नहीं होतीं, अथवा उनके स्तनोंके अग्र-भागमें व्रण हो जाते हैं, यह बात प्रसिद्ध है। कुमारावस्थामें ही स्तनोंका अधिक बढ़ जाना साधारण नहीं है। यह इस बातका लक्षण है कि उनके शरीरमें विजातीय द्रव्यका भार अधिक है।

ग्रामोंमें प्रायः यह देखा जाता है कि वहाँकी स्त्रियाँ विना किसी पीड़ाके सहजमें ही सन्तान प्रसव करतीं और उनको अच्छी तरह दूध पिलाती हैं। उनके न तो गर्भ रहनेसे पहले और न दूध पिलानेकी दशामें ही छातीका अधिक उभार होता है। दूधकी कमी उस हालतमें भी होती है जब कि स्त्री बहुत दुर्बल होती हैं। इस बातसे यह प्रकट होता है कि उसके शरीरमें विजातीय द्रव्यकी जड़ और भी गहरी है। यह हालत विशेष तौरसे तभी होती है जब कि स्त्रियाँ ऐसे पौष्टिक आहार करती हैं, जैसे—शराब, मांस, अंडे, दूध आदि नाना प्रकारके दुष्पाच्य पदार्थ। इससे वे फिर बालकको बिल्कुल दूध पिलाने योग्य नहीं रहतीं।

साथ ही मुझे यह भी अनुभव हुआ है कि उपयोगी और अनुत्तेजक पदार्थोंका आहार, मेरे ठंडे खान और वाष्प-खान, माताओंके दूध न उतरनेकी शिकायतको और थनैलेको भी दूर कर सकते हैं।

एक ब्रीके तीसरी सन्तान उत्पन्न हुई। इससे पहले वह अपनी दो सन्तानोंको दूध नहीं पिला सकी थी; किन्तु उसे बालकको दूध पिलानेका बड़ा चाव था। इस बार बालकके उत्पन्न होनेसे कुछ पहले उसने मेरी चिकित्सा आरम्भ की। इससे उसकी इच्छा पूरी हुई। उसके खूब दूध उतरा और वह बालकको भली भौति पाल सकी।

मुझे अपने चिकित्सालयमें ऐसी अनेक स्त्रियाँ देखनेको मिली हैं। एक धनैलेकी चिकित्साका हाल भी आपको सुनाता हूँ—

एक रमणीके स्तनोंमें सन्तान होनेके कुछ ही दिनों बाद धनैलेकी बहुत बड़ी शिकायत शुरू हुई। उसके घरू डाक्टरने उससे शस्त्र-क्रिया करानेके लिए कहा; किन्तु वह स्त्री इस बातपर राजी न हुई। तब उसने सन्ध्याके समय मुझे बुलाया। मैंने उससे कहा कि शस्त्रक्रिया केवल बेकार ही नहीं, बल्कि बहुत खतरनाक होगी। मैं यकीन कर कहता हूँ कि इस रोगको बिल्कुल दूसरी ही तरहसे बहुत शीघ्र अच्छा कर दूँगा। उस स्त्रीने मेरे कहे मुआफिक काम करना शुरू किया। उसी रात्रिमें उसने आध आध घंटेके चार मेहन-स्नान ५५ दर्जे (55 °F) गर्मीवाले जलमें लिये। इससे अगले दिन ही उसकी हालत बहुत कुछ सुधर गई। थोड़े ही दिनोंमें उसका सब दर्द बिल्कुल जाता रहा। कुछ ही सप्ताहोंमें उसका स्वास्थ्य ठीक हो गया। रोगका हेतु—विकृत पदार्थ—जो शरीरमें स्थित था, पेड़के रास्ते बाहर निकल गया।

ये इलाज ही डाक्टरोंके वैज्ञानिक मतोंकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक हैं। यह इस बातकी दलील है कि मेरी चिकित्सा-विधि इस रोगमें कैसा चमत्कार दिखाती है।

प्रसूति-ञ्वर—अनेक मातायें इस भयंकर रोगके कारण प्रतिवर्ष कराल कालका प्रास बनती हैं। इसका कारण यह है कि आज तक

संसारकी कोई भी चिकित्सा इस रोगका प्रतीकार करनेके लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हुई है।

इस रोगके होनेपर यह निश्चय समझना चाहिए कि शरीरमें विजातीय द्रव्य अच्छी तरह भरा हुआ है। यह भयानक ज्वर तभी होता है, जब कि विकृत पदार्थ शरीरमें हो और उसमें उद्वेग आरम्भ हो जाय। केवल उसी माताको प्रसूति ज्वर हो सकता है जिसके शरीरमें प्रसवके पश्चात् काफी विजातीय द्रव्य रोग पैदा करनेके लिए बाकी रह जाता है। इसमें यह कहना आवश्यक नहीं है कि वह खून, जो गर्भाशयमें या किसी स्नायुमें बाकी रह जाता है, इकट्ठा होकर सड़ने लगता है, अर्थात् उसमें उद्वेग प्रारंभ हो जाता है जो शरीरमें मौजूदा विजातीय द्रव्यको उत्तेजित कर देता है। इस लिए हम यदि प्रसूति ज्वरको अच्छा करना चाहते हैं, तो रोगिणीके शरीरसे पहले विजातीय द्रव्यको बाहर निकालनेकी कोशिश करें। यह बात मेहन-स्नानसे सहजमें हो सकती है।

एक स्त्री सुखपूर्वक बालकको उत्पन्न करनेके बाद प्रसूति-ज्वरसे बुरी तरह ग्रस्त हो गई। दाईने उसके गर्म गर्म गदियाँ बाँधीं, लेकिन उनसे कुछ भी लाभ न हुआ। वह दाई यह नहीं समझती थी कि ऐसी हाल-तमें रोगीके भीतर दूषित द्रव्यके उद्वेगके कारण गर्मी कितनी बढ़ गई है जो कि केवल शीतोपचार करनेसे दूर हो सकती है। मैंने उस रोगीसे कहा कि मैं तुम्हें आरोग्य तो अवश्य कर सकता हूँ, परन्तु मुझे डर है कि तुम मेरे कहनेपर चलोगी नहीं। उस स्त्रीने कहा कि—“आप जो बताएँगे मैं वही करूँगी।” मैंने उसको प्रतिदिन १५ से ३० मिनट तक ६४ दर्जेकी (64° F) गर्मीके पानीमें तीन-चार मेहन-स्नान लेनेके लिए कहा।

चूँकि उस लीके पास पानी गरम करनेका प्रबन्ध न था, इस लिए उसने जैसा नलसे (५० दर्जेका) पानी निकलता था, वैसा ही ले लिया। बाकी मेरी सब हिदायतोंकी उसने पूरी पूरी तामील की। लेकिन अधिक ठंडे पानीसे कोई नुकसान नहीं हुआ; बल्कि उससे इलाज और भी जल्द हो गया। हालाँकि गर्म पानी शुरूमें कुछ सुहावना जरूर माहूम पड़ता, परन्तु जब शरीरकी आरोग्यकारिणी शक्ति कमजोर न हो, तो ठंडा पानी ज्यादा फायदा करता है। इससे १५ घंटेमें ही उसका ज्वर घट गया और वह संकटसे पार हो गई। फिर एक सप्ताहमें वह अपना मामूली काम करने योग्य हो गई। इससे यह प्रमाणित होता है कि मेहन-स्नान कितना जल्द अपना अद्भुत प्रभाव दिखाता है। विकृत पदार्थ स्वाभाविक उत्सर्ग मार्गोंकी तरफ खिंच आया, जिससे उसमें आगेकी उद्वेग क्रियाका होना (जैसा कि ज्वरमें हुआ करता है) रुक गया। कुछ समय तक इलाजको जारी रखनेसे उसकी तन्दुरुस्ती इतनी अच्छी हो गई कि वैसी पहले कभी न थी। और यह भी देखनेकी बात है कि मेरी चिकित्सा उस डाक्टरकी चिकित्सासे बिल्कुल विपरीत हुई जो डाक्टर बताता। बहुधा देखा गया है कि डाक्टर लोग रोगीके सिरपर बर्फकी थैलियाँ रखकर ठंड पहुँचाने और पेड़ूको गर्म रखनेकी व्यवस्था देते हैं, जिससे वह दुर्द्रव्य जिसको कि वे निकालना चाहते हैं और अधिक मात्रामें बढ़ जाता है। मेरी समझमें यह नहीं आता कि बर्फकी थैली ये मूर्ख डाक्टर हमेशा सिरपर ही क्यों रखवाते हैं, जिससे सारा खून उसी तरफ़को खिंच आता है और नुकसानकी संभावना बढ़ जाती है। प्रत्येक व्यक्ति इस बातको जानता है कि विजातीय द्रव्यके निकालनेका रास्ता सिरमें नहीं है। बल्कि यह काम मल त्यागनेवाले स्वाभाविक अङ्गोंके द्वारा ही हो सकता है। बर्फ केवल ठंड ही नहीं पहुँचाता, बल्कि मस्तिष्कको सुन्न कर देता है। शरीर

फौरन् वहाँ खूनको अधिक लाकर गर्मी पैदा करता है, जिससे वह ठंड दूर हो। लेकिन दिमागकी तरफ रुधिरका प्रवाह गर्मीको बढ़ा देगा, जिससे बाहर तो सुन्न पैदा हो जायगी लेकिन भीतर गर्मी बढ़ जायगी। इससे ज्वरके भीतरी तापमानमें वृद्धि होगी और शरीर अंदर ही अंदर भस्म होने लगेगा। यदि ये दोनों दशाएँ एक दूसरेकी न्यूनाधिकताको शीघ्र पूरा करने योग्य न होंगीं, तो रोगीकी तत्काल मृत्यु हो जायगी।

एक और दृष्टान्त आपको सुनाता हूँ। प्रसवके पश्चात् अगले ही दिन एक स्त्रीको प्रसूति-ज्वर हो गया। बड़े बड़े प्रसिद्ध डाक्टर जो कि नामांकित प्रोफेसर थे और प्रमाणभूत समझे जाते थे, उसकी चिकित्सा कर रहे थे, परन्तु आराम किसीसे भी न हुआ। चिकित्साका परिणाम यह हुआ कि ज्वर तीव्र अवस्थाको छोड़कर मन्द हो गया। एक सप्ताहके बाद उसका मास्तिष्कपर बुरा असर पड़ा। इससे उसको सन्निपात हो गया रोगी आँखें बंद बकने लगा। अतः डाक्टर और उसके सब परिचारक घबड़ा गये। ऐसी भयानक अवस्थामें मुझको तार देकर बुलाया गया और रोगी मेरे सिपुर्द कर दिया गया। मैंने पहले पहल उसके आन्तरिक ज्वरको दूर करनेका प्रयत्न किया, जिसमें मुझे शीघ्र सफलता हुई। उसके पेड़की भीतरी गर्मीको दूर करने और उसके मस्तिष्ककी दशाको सुधारनेके लिए एक एक घंटेके कुछ मेहनत-स्नान दिये गये, जिनसे पेड़की गर्मी शान्त हो सकी और साधारण मानसिक अवस्था लौट आई।

यद्यपि इस थोड़ेसे समयमें ज्वरको उत्पन्न करनेवाला विजातीय द्रव्य बिल्कुल दूर न हो सका था, तथापि संकट-काल टल गया। उसने मेरे बताये स्नानों और सात्विक आहारका नियमित रूपसे कुछ अधिक काल तक सेवन किया, इससे उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा हो गया। यह बात मुझे प्रायः उसके लिपजिगनिवासी सम्बन्धियोंसे मालूम होती रहती थी।

विना किसी पीड़ाके निर्विघ्न प्रसव कैसे हो सकता है ?

प्रकृतिके साम्राज्यमें अनादि कालसे अपने अटल नियमोंपर चलने-वाली सृष्टिमें जिन नियमोंके द्वारा प्रत्येक जीव जीवित रह सकता है, उनको स्पष्ट रूपसे पहलेसे ही निश्चित कर दिया गया है ।

हमको सबसे पहले इस बातपर ध्यान देना चाहिए कि वे जीव—जो मनुष्यके संसर्गसे दूषित नहीं हुए हैं—किस तरह सहजमें अपनी सन्तान प्रसव करते हैं ।

यदि हम हिरनी, खरगोश, बिल्ली, या अन्य स्वच्छन्दविहारी पशु-ओंकी ओर दृष्टि दौड़ाते हैं, तो यह मालूम होता है कि उनको प्रसवमें कभी किसी सहायताकी आवश्यकता नहीं पड़ती । न उनको जननेमें कभी कष्ट होता है और न देर लगती है; न उनमें ऐसे समयपर किसी प्रकारका भय या व्याकुलता ही देखी जाती है । जो काम मनुष्योंके लिए प्रायः कष्टसाध्य हो, उसीको जानवर बेखटके कर गुजरते हैं और इससे उनके स्वास्थ्यमें किसी प्रकारका बिगाड़ नहीं होता ।

मैंने अक्सर ऐसे जानवरोंको देखा है और मुझको हमेशा यही बात मिली है कि बच्चेके पैदा होते ही वे अपनी मामूली हालतपर आ जाते हैं, मानों उनके कोई बात हुई ही नहीं । सिवाय इसके कि वे अपनी सन्तानकी पूरी तरहसे सुध रखते हैं । मुझको यह बात कहीं नहीं मिली कि प्रकृतिने कहीं भी अपने उस नियमको बदला हो, जिसका उसने नीरोग पशु-जगतमें निदर्शन कराया है । एक बार मुझको यह देखनेका अवसर मिला कि एक खरगोशानीके प्रसव-कालमें—जब कि उसके दो बच्चे हो चुके थे—एक शिकारीने बन्दूक मारी । गोली लगते ही वह इतनी

तेजीसे भागी, जैसे कि बिल्कुल तन्दुरुस्त हो—लेकिन गिर पड़ी। देख-नेपर मालूम हुआ कि अभी उसके पेटमें बच्चा है। उसका पेट चीरकर जो बच्चा निकाला गया वह जीवित था। खोज करनेपर उसके वे दोनों बच्चे भी मिल गये, जो उसी समय जन्मे थे।

लेकिन स्त्रियोंमें विना कष्टके प्रसवका होना शायद ही देखनेमें आता हो। जब हम देखते हैं कि प्रायः स्त्रियोंको प्रसव-कालमें घोर पीड़ा होती है, उनके गर्भपात हो जाते हैं और गर्भावस्थाके समय भी प्रतिदिन नाना प्रकारके उपद्रव होते रहते हैं, तब ऐसी दशामें यह आवश्यक है कि इस विषयपर गंभीरतासे विचार किया जाय। आजकल सहा-यताके विना प्रसव होना स्वप्नकी-सी बात हो गई है। वास्तवमें अब प्रसवने अपना स्वाभाविक रूप छोड़कर कृत्रिम रूप धारण कर लिया है। इसके अतिरिक्त हानिके डरसे प्रसूताको प्रसवके पश्चात् कुछ दिनों तक शय्यापर ही रक्खा जाता है।

प्रकृतिके अटल नियमोंमें इस विपरीतताका कोई न कोई गहरा कारण अवश्य होगा। यह विक्षेप तभी हो सकता है जब कि प्रकृतिके नियमोंको तोड़ दिया गया हो। प्रकृति स्वयं ऐसा विक्षेप नहीं डालती है, उसके नियम अटल हैं। केवल मनुष्य ही प्राकृतिक संगठनको बिगाड़ता है—जो कि किन्हीं मुख्य नियमोंसे नियंत्रित होता है। इस तरह वह अपने अज्ञानसे प्रकृतिके कार्यमें विक्षेप डालता है। यह बात नहीं है कि प्रकृति और उसके नियम मनुष्य-जातिको स्वस्थ रखनेके लिए काफी नहीं रहे, बल्कि मनुष्य स्वयं ही निरन्तर अपूर्णताकी ओर अग्रसर हो रहा है।

फिर इसमें आश्चर्य ही क्या है, यदि प्राकृतिक नियमोंकी इस अव-हेलाका बदला मनुष्यको इस तरह मिल जाय कि उसका दिन-प्रतिदिन

शारीरिक विनाश होता रहे। जबसे मनुष्य प्रकृतिके पथसे विचलित हुआ है, तभीसे उसमें धीरे धीरे रोग और विजातीय द्रव्यका भार हुआ है। यह बात अब अच्छी तरह माद्धम हो गई है कि प्रकृतिकी इस प्रकार अवहेलना करनेसे ही मनुष्यकी सन्तान-परम्परापर कैसा घातक प्रभाव पड़ रहा है। वह स्वर्ग जो पूर्ण स्वास्थ्यके रूपमें आविर्भूत होकर इस संसारको रम्य बनाता है—लुप्त हो गया है। वह तभी तक प्रकट होता है जब तक कि मनुष्य प्रकृतिसे अत्यन्त निकट और उससे एकताल होकर जीवन व्यतीत करता है।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उसका सारांश यह है—जो ब्रिजियाँ वास्तवमें नीरोग हैं उनका गर्भकाल हमेशा सुखसे व्यतीत होगा, निर्विघ्न प्रसव होगा और सन्तान नीरोग होगी। परन्तु यहाँ नीरोग शब्दका वह अर्थ समझना चाहिए जो इस पुस्तकमें बताया गया है; अर्थात् शरीरका विकृत पदार्थसे रहित होना।

किन्तु बालक तभी पूर्ण नीरोग होगा जब कि उसके पितामें विकृत पदार्थ बिल्कुल न होगा। क्योंकि प्रकृति गर्भमें बालकको उसके माता पिताके सर्वोत्कृष्ट तत्त्वोंसे ही रचती है। पितृ-परम्परासे रोगके अङ्कुर सन्तानमें आनेका कारण यह है कि गर्भाधानके समय माता-पिताके अङ्गोंमें जो दुर्द्रव्यका भार या रोग होता है, उससे बालकके भी अङ्ग अधूरे ही विकसित होते हैं। दुर्द्रव्यके भारके कारण ही बालक प्रायः भोंडी दशामें पृथ्वीपर कदम रखते हैं। फिर जब बालकके शरीरमें और विजातीय द्रव्य पड़ूँचता है,—जो कि आजकल टीके और कृत्रिम आहारके द्वारा लाजमी है—तो वह दुर्द्रव्य वहीं जाकर संग्रह हो जाता है जहाँ उसको कुछ रुकावट मिलती है। इस तरहसे विजातीय द्रव्यका अधिक संग्रह ठीक उन्हीं अवयवोंमें होता है जो कि पहले-ही-से कम-

जोर हैं। इसलिए बालकोंमें भी वे ही रोग आते हैं जो उसके माता-पितामें थे। लेकिन स्वाभाविक चिकित्सा और प्रकृतिके नियमोंपर ध्यान देनेसे हम उस विजातीय द्रव्यको बाहर निकाल सकते हैं और उन अवयवोंको फिर पुष्ट तथा नीरोग बना सकते हैं, जो पहलेसे ही कमजोर थे, अर्थात् जिनकी ओर दुर्द्रव्यकी प्रगति थी। इस रीतिसे यह सम्भव है कि कुछ कालमें हम एक दृढतर और स्वस्थतर मनुष्य-जातिकी अर्थात् एक बलवान् नूतन राष्ट्रकी उत्पत्ति कर सकेंगे।

प्रायः यह देखा जाता है कि जिन स्त्री-पुरुषोंमें विजातीय द्रव्य अधिक भरा होता है, उनकी सन्तान भी वैसी ही उत्पन्न होती है। यहाँ यह कहावत बिल्कुल ठीक जँचती है कि—“फलेन परिचीयते।” दीर्घ कालसे बालकोंको अप्राकृतिक रीतिसे पालन करनेका नतीजा यह हुआ है कि आज मानव-जातिकी अत्यन्त हीन दशा हो गई है जिसका सिलसिला पुस्तोंसे चला आ रहा है।

इसके सिवा और भी अनेक कारण हैं जो स्वास्थ्यको बिगाड़ने-

यह बात प्रकृतिमें कहीं भी दिखाई नहीं पड़ती कि कोई भी जानवर सन्तान पैदा करके कुरूप भद्दा या निकम्मा हो जाता हो, परन्तु मनुष्य-जातिमें कैसी विपरीत दशा है। यह एक साधारण-सी बात हो गई है कि स्त्री एक ही प्रसवके बाद बूढ़ीसी मालूम होने लगती है, उसकी चेष्टा बदल जाती है। मिसालके तौरपर उसका पेड़ ही बहुत बढ़ जाता है। इसका सारा दोष गर्भ, प्रसव और बालकको दूध पिलाने-के सिर मढ़ा जाता है। प्रत्येक प्रसवके बाद स्त्रियोंकी सुन्दरता

अधिकाधिक क्षीण होती चली जाती है, भले ही वे साधारण तौरसे अच्छा आहार-विहार करती हों ।

इसका एक विशेष कारण मैं बताता हूँ—सृष्टिमें मानव-समाजके सिवा यह बात कहीं भी नहीं देखी जाती । कि गर्भ-स्थिति हो जानेपर भी मादा फिर सम्भोग कराती हो । बल्कि देखा तो यह जाता है कि गर्भ-स्थितिके बाद वह उससे दूर भागती है । यह स्वभाव बिल्कुल प्रकृतिके अनुकूल है; मैथुन गर्भाधानके लिए है न कि सुखोपभोगके लिए । इस क्रियासे खूनका दौरान जननेन्द्रियोंकी ओर अधिक बढ़ जाता है और जब स्त्री गर्भवती होती है, तब वह दौरान गर्भके पोषणके लिये तो हानिकारक होता ही है—परंतु इससे स्वयं स्त्रीको भी हानि पहुँचती है; क्योंकि प्रकृति गर्भकी रक्षाके लिए गर्भाशयको हरएक हानिकर पदार्थसे बचाये रखनेकी कोशिश करती है । प्रकृतिके इस नियमको तोड़नेसे स्त्रीके शरीरको हानि पहुँचती है, उसकी जीवन-शक्ति क्षीण हो जाती है और सैकड़ों भयंकर रोग उठ खड़े होते हैं ।

गर्भावस्थामें प्राकृतिक नियमोंको उल्लंघन करनेसे ही गर्भावस्थाके उपद्रव प्रायः हुआ करते हैं । जैसे—सुबह ही कै होना, जी मिच-लाना, खाद्य पदार्थादिमें बास-सी आना, खाया न जाना, दाँतोंमें दर्द, रंगका बदलना, कभी अधिक गर्मी और कभी अधिक सर्दी मालूम होना, चित्तमें सन्ताप होना और आँसू निकलना, नाड़ियोंका उत्तेजित होना, भोजनमें अरुचि और भूखका असाधारण हो जाना । किसी-किसीको सम्भव है कि ये लक्षण परम्परासे आये हुए दुर्द्रव्यके भारके कारण होते हों । यह बात अनुभवमें आई हुई है कि प्रत्येक स्त्रीकी प्रकृत और स्वस्थ वासना गर्भ स्थित हो जानेपर फिर मैथुनकी ओर जाती

ही नहीं। यह आजकलका रिवाज है और विजातीय द्रव्यके कारण पुरुषोंकी अतिवृद्ध कामवासनाका परिणाम है कि ऐसा अस्वाभाविक कर्म भी होता है।

यह सत्य पुराने ग्रामीण किसानोंको अच्छी तरह विदित है कि ठेहरोंमें अस्वाभाविक काम-वासनाकी अतिशय वृद्धि किसी रोगके पैदा हो जानेका निश्चित लक्षण है। यही बात मनुष्यके सम्बन्धमें भी है, जिसको हर एक आदमी जो देखनेकी पर्वाह करता है देख सकता है। यहाँ इतना कहना ही काफी होगा कि क्षयके रोगमें कामवासनाकी असाधारण अतिशय वृद्धि होती है।

नीरोग मनुष्यकी काम-वासना आजकल प्रायः देखी जानेवाली बे-लगाव काम-वासनासे जुड़े प्रकारकी होती है। बुरे विचारोंसे सर्वथा स्वतंत्र, अप्राकृतिक वासनासे पूर्ण निर्लिप्त, सबी काम-वासना केवल पुत्र-पणाके रूपमें अपने जातीय अस्तित्वको बनाये रखनेके लिए होती है। उसकी अनुभूति ऐसी आवश्यकताके रूपमें या अनिवार्यताके रूपमें तो कभी होती ही नहीं जिसके बिना चैन ही न पड़े। इसकी ठीक ठीक परीक्षा तो वही कर सकता है जो नीरोग है और अपने शरीरको सादे तथा अनुत्तज्जेक आहारद्वारा शुद्ध रखता है।

जो मनुष्य अपनी इच्छाको प्रकृतिके प्रतिकूल न चलने दे; जो अपने शरीरको इतना बशमें रखे कि उसकी कामवासनायें उचित सीमासे बाहर न जा सकें, वह मनुष्य साधारण अवस्थामें कठिन कष्ट जानेवाले संयमको सहजमें ही धारण कर लेता है और वह उसे एक महान् लाभ समझता है। ऐसा ही मनुष्य प्रकृतिकी ओर लौटे। यदि वह मेरी स्वास्थ्य-शिक्षाको ग्रहण कर अपने शरीरसे विजातीय द्रव्यको

बाहर निकाल दे, तो उसको वह हथियार हासिल हो जायगा जिससे उसे पूर्णतम आनंद और संतोषकी प्राप्ति हो सकेगी।

आजकल हमको जगह जगह तरह तरहके अस्वाभाविक प्रसव होते दिखाई देते हैं। प्रायः गर्भपात या समयसे पहले बालकका जन्म होता है। गर्भाशयमें बालक उल्टे या तिरछे पैदा होते हैं। असाधारण बड़े सिरके बालक पैदा होते हैं और उनके पैदा होनेका मार्ग इतना तंग होता है कि विना शस्त्र-क्रियाके उनका निकलना असम्भव हो जाता है। कभी कभी प्रसवका वेग बहुत हल्का होता है। खुलासा यह है कि ऐसी बहुतसी अस्वाभाविक बातें होने लगी हैं कि जिनका कारण किसी न किसी प्रकारका मातामें और प्रायः बच्चेमें भी वंशपरम्परागत विजातीय द्रव्यका होना है।

गर्भाशयमें गर्भके विचलित होनेका कारण यह है कि या तो गर्भिणी स्त्रीमें विकृत पदार्थका अधिक भार होता है, या किसी अनुचित क्रियाके करनेसे—विशेषकर शुरूके साढ़े चार महीनोंके बीचमें—बच्चा दुर्द्रव्यके भारसे या किसी अटपटे कामके करनेसे जिससे कि पेड़मे तनाव हो या उसपर जोर पड़े गर्भ अपनी असली जगहसे हट जाता है। जब स्त्रीका योनिद्वार विजातीय द्रव्यके भारसे संकुचित होता है, तब जननक्रियामें कठिनताका होना निश्चित बात है। यदि माता-पितामें विजातीय द्रव्यका भार अधिक है, तो सम्भव है जन्मके समय बच्चेका शरीर और विशेषकर उसका सिर असाधारण बड़ा हो। इससे भी प्रसवमें कठिनता पड़ना स्वाभाविक है। योनि-मार्गमें विजातीय द्रव्य होनेसे वहाँकी तमाम नसों नाड़ियों और बंधनोंमें वह द्रव्य घुस जाता है और उससे वह जगह सूजीसी हो जाती है और उसमेंसे फैलनेकी शक्ति जाती रहती है। परन्तु सहजमें प्रसव होनेके लिए यह

अनिवार्य रूपसे आवश्यक है कि सब शरीर पूरी तौरसे स्वस्थ हो।

विजातीय द्रव्य धारण किये हुए प्रत्येक अवयवके स्वाभाविक काममें बहुत कुछ बाधा पड़ जाती है और दुर्द्रव्यसे लदी हुई हालतमें जितना अङ्ग सहन कर सकता है उससे कहीं अधिक उसपर जोर पड़ता है, तो मरोड़ होने लगती है जैसा कि प्रसवकी पीड़ामें हुआ करता है। इससे जनन-कालमें बहुत तकलीफ़ उठानी पड़ती है। इस तरहसे विजातीय द्रव्यके कारण प्रसवके समय जो अधिक पीड़ा होती है वह मेरे विचारसे रोग है। जरायु (खरियाई) के चिपक जानेका भी यही कारण है।

फिर यदि वे स्त्रियाँ, जिनमें विजातीय द्रव्यका भार अधिक है, प्रसव क्रियासे अत्यन्त भयभीत हों तो आश्चर्य ही क्या है। यह भय कोई स्वाभाविक नहीं है, केवल दुर्द्रव्यके भारका परिणाम है। एक स्त्री जो वास्तवमें नीरोग है इस कष्टको जानती तक नहीं है। चिन्ता जो कि नैसर्गिक बुद्धि (Instinct) की आवाज है, और जो कि प्रायः दबायी जाती है, वह प्रसव जैसे काठिन समर्थोंपर हमको साफ तौरसे बता देती है कि हमने शरीर और स्वास्थ्यके साथ, जो कि प्रकृतिसे हमको मिले हैं, अन्याय किया है। परन्तु आज कल उस चिन्ताकी—उस नैसर्गिक बुद्धिकी आवाजको ठीक ठीक समझा सकनेवाला कौन है? अगर ऐसा कोई हो जिसको कि अब भी यह शंका है कि प्रसवमें ऐसे भी बहुतसे मौके होते हैं जिनमें शस्त्र-क्रिया या हाथकी क्रिया अनिवार्य रूपसे आवश्यक है—तो वह नीचे लिखे वृत्तान्तको पढ़े।

एक स्त्रीकी आयु ३६ वर्षकी थी, जिसे दूसरी बार प्रसव होनेको था। वह दो दिन और दो रात बराबर प्रसवकी पीड़ाके कारण तड़फती रही,

परन्तु बालक गर्भाशयसे बिल्कुल नहीं हटा। मिडवाइफकी यह राय थी कि डाक्टर सहायताकी अनिवार्य आवश्यकता है, तब एक सुप्रसिद्ध डाक्टरको बुलाया गया जो धातृकर्ममें बहुत चतुर था। उसने ४ घंटे तक हरेक तरहकी शल्यक्रिया की किन्तु सब व्यर्थ; उससे कुछ भी न हुआ। अंतमें उसने यह निश्चय किया कि बच्चा ठीक स्थानपर स्थित नहीं है, इस कारण बड़ा आपरेशन करना पड़ेगा और प्राण-संकटके वगैर प्रसव असंभव है। इसपर उस बेचारी स्त्रीने कहा कि मुझे मरना मंजूर है, परन्तु इस शल्यक्रियाका महाभयानक कष्ट सहना मंजूर नहीं है। इसपर वह डाक्टर यह कहकर चला गया कि चूँकि बालक बाहर नहीं निकल सका है, यह स्त्री अब बचेगी नहीं। परन्तु प्रकृतिदेवीको इससे विपरीत ही मंजूर था। उसके जानेपर २४ घंटे बाद, बिना किसी डाक्टरकी शल्यक्रियाके, केवल मामूली दाईकी सहायतासे, बालक पैदा हो गया। अब बताइए उस प्रसिद्ध डाक्टरने ज्यादा काम दिया या प्रकृति देवीने। उस प्रकृति-विरुद्ध शल्यक्रियाके हो चुकनेका यह दुष्परिणाम हुआ कि बालक होनेके ९ हफ्ते बाद तक वह इतनी सख्त बीमार रही कि उसके जीनेकी भी आशा जाती रही और उसीके कारण वह बेचारी लंगड़ी भी हो गई। अन्तमें वह, शरीरका मजबूत गठन होनेके कारण ही, आरोग्य हुई।

यह ठीक है कि चिरकालसे मानव-समाजकी अधोगति होनेसे प्रसवमें ऐसे ऐसे पेंच आकर पड़ जाते हैं जिनको न डाक्टर ही सुलझा सकते हैं और न प्रसूति-शास्त्रज्ञ। परन्तु अनुभवसे मेरी राय तो यह है कि ऐसे समयपर सबसे अच्छी बात यह है कि चित्तको शान्त करके केवल प्रकृतिके भरोसे सब कुछ छोड़ दिया जाय। उससे अच्छी सहा-

यता और कोई भी नहीं कर सकता । प्रसव-कालमें पीड़ाकी मन्दगातिको उत्तेजित करनेके लिए मेहन-ज्ञानसे बढ़कर और कोई उत्तम उपाय में नहीं जानता । उस समय मिट्टीको एक सनके कपड़ेपर गाढ़ा गाढ़ा फैला लिया जाय, फिर उसको मिट्टीकी तरफसे पेड़पर रखकर बाँध दिया जाय और उसके ऊपर एक ऊनी कपड़ेकी पट्टी बाँध दी जाय । उस मिट्टीकी पट्टीको एक-एक या दो-दो घंटेमें बदलते रहना चाहिए ।

प्रसवके समय शस्त्रोपचार करनेसे असंख्य स्त्रियाँ अकाल-ही-र्म कालका प्रास हो गई हैं । यदि प्रसवसम्बन्धी सम्पूर्ण क्रियाओंको आप-रेशनोन्माद (Operation Mania) वाले डाक्टरोंके बजाय दया-मयी प्रकृति माताके ही ऊपर छोड़ दिया जाय, तो हजारों स्त्रियोंके प्राण बच सकते हैं और उनके परिचारक सैकड़ों आपत्तियोंसे बचकर बहुत कुछ आनन्द पा सकते हैं । यदि दुर्भाग्यसे किसी स्त्रीकी ऐसी दशा हो जाय कि बिना शस्त्रक्रियाके उसका प्रसव होना असंभव मादूम पड़े, तो इसके लिए स्त्री ही दोषी समझी जायगी । क्योंकि जबसे स्त्री गर्भवती होती है तबसे उसके पास इस बातके लिए काफी समय होता है कि ऐसे साधन काममें लाये जिनसे उसके सहजमें सन्तान उत्पन्न हो सके । यह आवश्यक है कि उन साधनोंका प्रयोग समझनेकी उसमें बुद्धि होनी चाहिए और वे साधन ठीक समयपर काममें लाये जाने चाहिए । जो मनुष्य मेरी चिकित्सा-विधिका ज्ञाता है वह यह जानता है कि सुख-पूर्वक सन्तानकी उत्पत्तिके लिए क्या उपाय करना चाहिए । पिछले वर्षोंमें ऐसी अनेक घटनायें हुई हैं, जो मेरे सिद्धान्तको पुष्ट करती हैं । एक भी जगह ऐसा नहीं हुआ कि मेरे मेहन-ज्ञान और नियमित

सात्त्विक भोजन अपने काममें सफल न हुए हों। जहाँ कहीं भी मेरी चिकित्सा-विधिका ठीक ठीक प्रयोग किया गया वहीं जननक्रिया सहजमें और सुखपूर्वक हुई।

मेरे पास रोगियोंने अबतक धन्यवादके जो पत्र भेजे हैं उनमें उन्होंने मेरे मेहनत-स्नानकी बहुत तारीफ़ की है। मगर यह तो स्पष्ट है कि प्रसवकी पीड़ाको दूर करनेका प्रबन्ध पहलेसे कर लेना अधिक सहज है; बन्सुकावले इसके कि वक्तके वक्त उसकी सहायताका प्रबन्ध किया जाय। प्रसवमें बाहरी सहायताकी जरूरत हमेशा बढ़ती जा रही है, इससे यह साफ़ तौरपर साबित होता है कि मन्द व्याधियोंका दौर-दौरा नित्य-प्रति बढ़ता जा रहा है।

जो यह चाहते हैं कि उनके यहाँ प्रसव सहजमें हो जाय और सन्तान भी नीरोग उत्पन्न हो, उनको सबसे पहले इस बातपर दृष्टि डालनी चाहिए कि गर्भाधान करते समय उनका शरीर विजातीय द्रव्यसे बिल्कुल پاک और साफ़ है या नहीं; अर्थात् वह तन्दुरुस्त है। तन्दुरुस्ती तभी प्राप्त हो सकती है जब कि शरीरसे सब विजातीय द्रव्य बाहर निकल जाय और नया न बने। इस पुस्तकमें बताये मार्गपर चलनेसे ही ऐसा हो सकता है।

एक स्त्रीकी मैंने चिकित्सा की जिसको दीर्घ कालसे रगोंके गठिया रोगकी पीड़ा थी। उसके विजातीय द्रव्यका भार विशेष था और वह भी पेटमें सबसे ज्यादा। उसके पाँच संतानें हो चुकी थीं और प्रत्येक सन्तानका जन्म बड़े कष्टके साथ हुआ था। बालक जननेमें उसे दो-तीन दिन लग जाते थे। प्रसवका वेग काफी परिमाणमें नहीं होता था। इसलिए उसको हरबार तबतक अत्यन्त भयंकर कष्ट होता था

जबतक कि डाक्टर आकर जम्बूरसे बालकको बाहर न निकालता था । छठी बार गर्भ होनेपर उस खीने मेरी विधिका अनुसरण किया । वह प्रतिदिन दो-तीन मेहनत-स्नान लेने लगी; इसका फल यह हुआ कि इस मर्त्तबाका प्रसव जो कि, साधारण तौरपर पहलेकी अपेक्षा अधिक कठिनतासे होना चाहिए था, बड़ी सुगमतासे हुआ । जननेमें मुश्किलसे एक घंटा लगा होगा । प्रसवका वेग पहलेसे ही ठीक तरह हुआ, जिसमें करीब करीब बिल्बुल ही तकलीफ नहीं हुई ।

ऐसे अच्छे नतीजेकी उसे कल्पना भी नहीं थी । बालकका जन्म होनेसे पहले मैंने उससे कहा था कि अबकी बार ऐसा प्रसव होगा । उसने मेरा हास्य करते हुए अविश्वाससे कहा था कि आप ऐसा आविष्कार तो कर ही नहीं सकते कि बिना पीड़ा हुए ही प्रसव हो जाय । इसके पश्चात् उसे इस बातपर बहुत पछतावा हुआ कि अब मेरी ऐसी अवस्था ही नहीं रही जो फिर गर्भिणी होनेकी आशा करूँ । क्यों कि जब उसे यह मालूम हो गया था किस प्रकार बिना कष्टके भी प्रसव होता है, तब वह इच्छा करने लगी कि मुझे और भी बच्चे हों । उसको इस बातपर भी अधिक आश्चर्य्य हुआ कि इस बार उसने अपने ही स्तनोंका दूध अपने बालकको पिलाया; इस आनन्दका तो उसने पहले कभी उपभोग भी नहीं किया था ।

यह सब-कुछ प्रकृतिके अनुकूल ही हुआ था । क्योंकि उस खीने जबसे मेरी चिकित्सा-विधिका हाल सुना था तभीसे वह बिल्कुल प्राकृतिक जीवन-निर्वाह करती थी और मेरे स्नानोंको यथाविधि नित्य लिया करती थी । इन स्नानोंके करनेसे उसका शरीर, जो पहले विजातीय द्रव्यसे अत्यन्त भरा हुआ था, बहुत कुछ शुद्ध हो गया । इससे

उसकी शारीरिक और मस्तिष्क-शक्तिकी विशेष उन्नति हो जाना अवश्य-
म्भावी था।

ऐसा ही सुन्दर फल एक दूसरी स्त्रीको भी प्राप्त हुआ जिसने अपनी गर्भकी हालतमें मेरी सलाहसे काम किया था। सात महीने तक यह चिकित्सा करनेके बाद उसको प्रसव हुआ जिसमें उसे कुछ भी कष्ट नहीं हुआ। केवल आध घंटेमें सन्तान हो गई। उस समय उसके पास कोई दवाई भी न थी।

इसी तरह एक और स्त्रीको भी इस चिकित्सा-विधिसे सन्तोष प्राप्त हुआ है। उसने सितम्बर १८९० ई० में मेरे पास एक धन्यवादपत्र भेजा था, जो नीचे प्रकाशित किया जाता है।

“इस समय मेरी २८ वर्षकी अवस्था है। मैं १५ वर्षकी उम्रसे मसाने और गुर्दाकी पीड़ासे बहुत दुखी थी। उस समय मैं ८ हफ्ते तक अपने नगरके एक अस्पतालमें रही, पर नतीजा यह हुआ कि मसानेकी श्लेष्माकी तक्लीफ़ अधिक असह्य हो गई। दर्दके मारे मैं न खड़ी हो सकती थी और न चल-फिर सकती थी; सिर्फ़ लेटी रहती थी।

“चार सप्ताह तक यही दशा रही। फिर मैं एक दूसरे अस्पतालमें चली गई, जहाँ दीर्घ कालतक रहनेके बाद मेरी भयंकर पीड़ा कुछ कालके लिए शमन हो गई। किन्तु वहाँ भी मेरे रोगकी जड़पर कुठारा-घात नहीं किया गया, इसलिए वह रोग एक सालके भीतर ही फिर बड़े उग्ररूपसे प्रकट हो गया। उस समय मैं चिमनिटिज़ नगरमें रहती थी, और वहींके चिकित्सालयमें जाती थी। वहाँ मैं ३ महीने तक रही। वहाँ मेरी चिकित्सा सैलिसिलिक एसिड, ल्यूनर कास-

टिक और बिजलीके द्वारा की गई, परन्तु अणुमात्र भी लाभ न हुआ। फिर अप्रैल सन् १८८० में मैं लिपजिग नगरके चिकित्सालयमें गई। वहाँ ४ सप्ताह तक रही जिसमें मेरे गर्भाशयकी एक बीमारीकी चिकित्सा की गई, परन्तु यहाँ भी कुछ लाभ न हुआ। अक्सर दर्दकी तकलीफकी अधिकताके कारण मुझे यह माछम नहीं होता था कि अस्पतालसे घर तक किस प्रकार पहुँचूँगी।

“जब कुछ आराम न हुआ तब मैंने अस्पताल छोड़ दिया। फिर लिपजिगके एक डाक्टरका ४ वर्ष तक इलाज कराती रही। उसके इलाजसे मेरे मसनेकी श्लेष्मा और गर्भाशयकी दृश्य तकलीफ दूर हो गई। उन्होंने मुझे तीन वर्षके लिए फ्रैनजैन्सबाद (Franzensbad) नामक नगरमें भेज दिया जहाँ मुझे कीचड़ और चेरीबीट (Charybeate) के स्नान कराये गये और वहींका पानी पिलाया गया। पर इन सबका कोई स्थायी परिणाम न हुआ। जब मैं उक्त नगरमें आखरी मर्त्तवा गई, तो मेरे चिकित्सकने मुझे वहाँसे लिपजिग वापिस भेज दिया और कहा कि आपरेशन अनिवार्य है। लिपजिगमें मेरा आपरेशन हुआ जिससे मेरी दशा कुछ सहा हुई। परन्तु फिर भी पुराने रोगका अस्तित्व अनुभूत होता रहा। मुझे यह साफ माछम पड़ता था कि शस्त्र-क्रियासे मेरा रोग दब गया है, लेकिन शरीरसे दूर नहीं हुआ है। मुझे अक्सर तकलीफ दूर करनेके लिए गदियाँ बाँधनी पड़ती थीं। आखिरकार फिर मुझे एक डाक्टरके पास जाना पड़ा। एक वर्ष तक उसकी चिकित्सा करनेसे भी मुझे कुछ लाभ न हुआ। अन्तमें डाक्टरने कहा कि तुम्हारा गुर्दा अपनी जगह छोड़े हुए है, (Floating Kidney) इसमें अब कुछ नहीं हो सकता। फिर भी उसने मुझे एक पुराने प्रोफे-

सरके पास भेजा । उन्होंने एक सप्ताह तक मेरी रोज परीक्षा की और अन्तमें यह कहकर विदा कर दिया कि तुम्हारा कुछ इलाज नहीं हो सकता ।

“ इस प्रकार निराश होकर मैंने, दो वर्ष हुए—जुलाईके महीनेमें—, आपकी शरण ली । आपकी चिकित्साको आरम्भ करते ही मैं पूर्वोक्त भयंकर पीड़ाओंसे सर्वथा मुक्त हो गई और ४ सप्ताहमें ही फिर अपना काम करने लायक हो गई । आपकी चिकित्साके प्रतापसे ही मैं इस समय पूर्ण आरोग्य और शक्तिसम्पन्न हुई हूँ ।

चिकित्साके पहले वर्षमें ही मेरी शारीरिक दशा इतनी सुन्दर और बलिष्ठ हो गई कि मुझे सबके मना करनेपर भी विवाहकी इच्छा हुई । डाक्टरोंने तो यहाँ तक कहा कि तुम कुशलपूर्वक प्रसव न कर सकोगी । परन्तु मैंने उनकी बात न मानकर अपना विवाह कर लिया । आपकी सम्मति और अपने अनुभवसे मुझे अधिक शिक्षा मिली है और जो कुछ आपने पहले कह दिया था सब वैसा ही हुआ है । मैंने विवाह किया, फिर गर्भावस्थाके होनेपर आपकी आज्ञाका उचित रूपसे पालन किया, जिससे बड़ी सुगमता और निर्विघ्नतासे बिना दार्द्र्यकी सहायताके प्रसव हुआ जिसे देखकर सब आश्चर्यमें पड़ गये । ये सब लाभ मुझे आपकी सरल चिकित्सा-विधिके द्वारा ही हुए हैं, इसके लिए आपको विशेष धन्यवाद है ।

लिपजिग

(मैसेज़) लूई बी—

प्रसवके बादकी परिचर्या

पूर्ण आरोग्य स्त्रीको यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है कि प्रसवके बाद परिचर्या किस प्रकार करनी चाहिए। यह देखा जाता है कि केवल पशु ही नहीं, बल्कि असभ्य जातिकी अशिक्षित स्त्रियाँ भी अक्सर प्रसवके बाद तत्काल उठकर अपनी दैनिक क्रियाओंको करने लगती हैं। परन्तु सभ्य समाजकी स्त्रियोंमें यह बात बहुत कम देखी जाती है। प्रसवके बाद उनको बहुत दिनोंतक चारपाईपर डाले रखना एक रिवाज हो गया है। पहले तो केवल ९ दिनकी अवधि थी, परन्तु अब डाक्टर लोग १२ दिन तजवीज करते हैं। इसका कारण स्त्रीकी निर्बलता इतनी नहीं है जितनी कि जननेन्द्रियोंकी, अपनी पहली और असली हालतपर पहुँचनेमें विघ्नरूप, अस्वाभाविक शिथिलता है। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि बहुत दिनों तक चारपाईपर इस प्रकार पड़े रहना तन्दुरुस्तीके लिए खराब है। शारीरिक परिश्रम न करनेसे पाचन-शक्ति मन्द हो जाती है जिससे मुक्त पदार्थोंका उत्तम प्रकारसे रस नहीं बनता। इस बातका पता उस कब्जियतसे मिलता है, जो प्रायः इस दशामें हो जाया करती है। परन्तु जब तक जननेन्द्रियाँ अपनी असली हालतपर न पहुँच जायँ उससे पहले शय्याको छोड़ना भी हानिकारक है। इससे प्रायः स्त्रियोंका उदर बढ़ जाता है। यह बात बहुधा उन स्त्रियोंमें देखी जाती है जिनके कई सन्तानें हो चुकी होती हैं।

मैंने इसपर बहुत कुछ विचार किया है, कि स्त्रीको बहुत दिनों तक शय्यापर रखे बिना ही यह दोष दूर हो जाय। अन्तमें मैंने एक सरल उपाय निकाल लिया, जो बहुत असाधारण रीतिसे सफल हुआ है।



प्रसव हो चुकनेपर स्त्रीको, जबतक उसकी इच्छा हो, विश्राम करना चाहिए । यदि उसे थोड़ी देरके लिए नींद आ जाय तो और भी अच्छा है । इसके बाद उसको चाहिए कि अपने शरीरको अच्छी तरह धोकर साफ करे । इसका सबसे अच्छा साधन घर्षण-युक्त मेहन-स्नान है । इसके लिए जल ७३ से ७७ दर्जे फ़ैरनहाइट का लेना चाहिए और बैठकके उपर १ इंचसे ३ इंच तक पानी आ जाना चाहिए । स्नानके बाद पेड़ूके ऊपर खूब मजबूत एक पट्टी बाँध देनी चाहिए । वह किसी छिद्रयुक्त (Porous linen) लिनेन वस्त्रकी होनी चाहिए, जिसमें बाँधनेके लिए डोरियाँ भी लगी हों । पट्टी बाँधनेकी विधि चित्रसे स्पष्ट प्रतीत हो जायगी । डोरियोंको पहले किबाड़के हँडलसे बाँध दिया जाय, और पट्टीका दूसरा सिरा पेड़ूके चारों तरफ़ लपेटकर मजबूतीसे धाम लिया जाय । फिर धूम धूमकर सब पट्टीको चारों ओर कसकर लपेटकर डोरियोंके छोरसे बाँध देना चाहिए । पट्टियोंके बाँधनेसे भीतरी यन्त्रोंको मजबूत सहारा मिलता है जिसकी उनको बड़ी आवश्यकता रहती है और फिर स्त्री निर्भय होकर शय्या छोड़ सकती है, यदि उसके शरीरमें काफी बल हो । यदि उसे चिंता होती हो, तो तीसरे या चौथे दिन तक पट्टी न बाँधी जाय । यह पट्टी ३ या ४ सप्ताह तक बराबर बाँधी रखनी चाहिए । यदि सब काम ठीक हुआ चला जाय तो पट्टीके सिवा और किसी चीजके प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं है । यदि ज्वर हो जाय तो मेरे ठंडे स्नानोंको लेना चाहिए और बारी-बारीसे मिट्टीकी पट्टी भी बाँधनी चाहिए । इस उपचारसे शरीरमें शीघ्र ही पसीना आयगा, ज्वर दूर हो जायगा और शरीरकी कमीको पूरी करनेवाली प्राकृतिक प्रक्रिया फिर चालू हो जायगी ।

यदि सम्भव हो तो स्त्री बच्चेको अपना दूध पिलवे, यह विदित रहे कि दूधकी वृद्धि आधिक पौष्टिक पदार्थोंके खाने-पीनेसे नहीं होती है, बल्कि ऐसा करनेसे तो दूध और कम हो जाता है। यहाँ भी प्रकृतिका ही आश्रय लेना उचित है। अर्थात् भूख-प्यास लगनेपर ही साप्तिक पदार्थोंका खान-पान करना ठीक है। वास्तवमें एक प्रसूता स्त्रीको विल्कुल स्वाभाविक आहार करना चाहिए। इस प्रकारके आहारसे तन्दुरुस्त स्त्रियोंके दूधकी आधिक वृद्धि होती है और वह दूध बालकोंके लिए अति उत्तम तथा पौष्टिक होता है।

नवजात शिशुकी पहले महीनोंकी परिचर्या शिशुका पालन-पोषण

यदि प्राकृतिक नियमोंपर विचारपूर्वक ध्यान दिया जाय तो मालूम होगा कि बालक और उसकी माताका बहुत दिनों तक एक प्रकारका घनिष्ठ संबंध रहता है। विशेषकर आरम्भकालमें तो माताके साथ बालकका बहुत ही सामीप्य सम्बन्ध रहता है; क्योंकि बच्चेके फलनके लिए माताकी उष्णताकी आवश्यकता रहती है। यह बड़ी भूल है कि बालकको मातासे अलग करके उसे उस उष्णतासे वंचित किया जाय जो कि उसके लिए बड़ी आवश्यक है। दुर्भाग्यसे अनेक स्त्रियाँ इस अत्यन्त आवश्यक बातपर कुछ भी ध्यान नहीं देती।

एक बार मुझे एक गृहस्थने बुलाया। उसका सबसे छोटा बालक, जो कि ३ सप्ताहका था, पालनेमें लेटते ही बेचैन हो जाता था। इससे उसकी माता अत्यन्त फिक्रमें रहती थी। इसका सबब यह भी था कि

बच्चेका हाज्मा बिगड़ा हुआ था। माताके शरीरकी उष्णता पहुँचाने और हररोज तीन उदर-स्नान करानेसे बालकको चैन पड़ा और वह चंगा हो गया।

बच्चोंका पालन-पोषण—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आजकलकी अधिकांश स्त्रियाँ अपनी सन्तानको अपना काफी दूध पिलानेमें असमर्थ होती हैं या उनके दूध ही नहीं उतरता। परिणाम यह होता है कि अधिकांश बालक अत्यन्त दुर्बल पाये जाते हैं। माताके दूधका अभाव होनेपर बालकको धायका दूध पिलाना सबसे अच्छा है। परन्तु दुर्भाग्यसे धायके दूधपर भी बालकका स्वास्थ्य ठीक बना रहेगा यह भी निश्चयसे नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अगर धाय नीरोग न हुई, तो बालकके शरीरमें उसका विजातीय द्रव्य पहुँच जायगा और जो जन्मके साथ साथ उसके शरीरमें आया था वह तो अलग ही रहा। यह ठीक है कि मुखाकृति-निदानके द्वारा धायकी परीक्षा हो सकती है, परन्तु किसी पूर्ण आरोग्य धायका मिलना बहुत ही कठिन है। बहुतसी हालतोंमें बालकको कृत्रिम आहार दिया जाता है। परन्तु वह आहार न तो ठीक तरहसे तजवीज़ होता है और न ठीक तरहपर तैयार ही किया जाता है। यदि बालकको गायका दूध दिया जाय तो उसे कुछ ही गरम करना चाहिए, बहुत नहीं औँटाना चाहिए। औँटया हुआ दूध बहुत ही मुश्किलसे पचता है। दूधमेंसे हानिकारक कृमियोंको मारना कोई महत्त्वकी बात नहीं है, इससे यह बात बहुत आसानीसे प्रमाणित होती है।

सबसे अधिक पुष्टिकारक आहार वही हैं जो सहजमें ही पच जाते हैं। जब तक पाचन-शक्ति ठीक हालतमें होती है तबतक पाचक रस

में यह सामर्थ्य होती है कि वह अनिष्ट पदार्थको नष्ट करके बाहर निकाल दे। जब कि कच्चा दूध बहुत जल्द पच जाता है औंटाया हुआ दूध आमाशयमें बहुत देरतक पड़ा सड़ता रहता है, इसलिए उसमें साधारण खाद्यकी अपेक्षा उद्देग अधिक होता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बालकोंकी बहुतसी व्याधियोंका और उनकी अधिक मृत्युका यही कारण है। कृत्रिम आहार और अनेक चीजोंसे निकाले हुए सत आदि बालकोंके पाचनको बिगाड़ते हैं। उनसे बालकोंका आमाशय फैल जाता है, पाचन-शक्ति बिगड़ जाती है और बेचैनी पैदा हो जाती है। प्रोफ़ेसर साक्सहलेटकी विधि के अनुसार उबाला हुआ दूध और डब्बेका दूध—जिसकी वर्तमान पादरी लोग बहुत प्रशंसा करते हैं—बालकोंके लिए उतना ही हानिकर है जितना कि अग्निपर पकाया हुआ दूध; क्योंकि ये विद्वान् प्रोफ़ेसर दूधको पकाकर जिस तत्त्वको नष्ट कर देना चाहते हैं वही तत्त्व दूधको शीघ्र पचानेवाला होता है। जैसे ही दूध पाचक यन्त्रमें पहुँचता है वैसे ही उसमें उद्देग उठना शुरू हो जाना चाहिए। प्रकृतिमें यह कहीं भी नहीं देखा जाता कि बच्चेके द्वारा पिये जानेसे पहले दूधमें हवा लगती हो। दूध एक पुष्टिकारक रसके सिवा और कुछ नहीं है, वह माताके स्तनोंद्वारा बालकके मुँहमें विना वायु लगे ही सीधा पहुँचना चाहिए। जैसे ही दूधमें वायु लगती है वैसे ही उसमें रासायनिक परिवर्तन हो जाता है जो कि बालककी पाचन-शक्तिपर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। दूध यदि ताज़ा होता है तो इस तबदीलीका कोई महत्त्व नहीं होता, परन्तु चाहे कुछ भी हो सावधानताकी आवश्यकता फिर भी रहती है क्योंकि गायका भी विकृत पदार्थसे रहित होना असम्भव है। यह समझना भूल है कि

एक दृष्ट-पुष्ट गाय जो कि अच्छी तरह पाली गई है और सदी, गर्मी आदि हरमौसममें गोशालामें ही बैधी रहती है निर्दोष दूध देगी। बल्कि इसके विरुद्ध ऐसी गायोंका शरीर विजातीय द्रव्यके कारण फूला होता है और अतएव उनके दूधमें भी दूषित तत्त्व आकर मिले होते हैं। वास्तवमें बात यह है कि आजकल सब संसारको विवश होकर बहुत विजातीयद्रव्य मिले दूधको ग्रहण करना पड़ रहा है, क्योंकि समस्त सभ्य देशोंमें स्वस्थ गायें मुश्किलसे मिलती हैं। गायके दूधकी बजाय जईके आटेकी लपसी दी जा सकती है। यह लपसी अच्छे मोटे बिना सुखाये और बिना पालिश किये हुए जौके दानेकी होना चाहिए और चलनीमें छानकर दी जानी चाहिए। उसमें नमक, मक्खन अथवा शक्कर नहीं डालना चाहिए। बाजारमें जईका आटा हरजगह थोड़ा-बहुत आगपर भुना हुआ या सुखाया हुआ होता है जिससे वह बहुत दिनों तक बिगड़े नहीं। परन्तु इससे आटेकी पाचकता नष्ट हो जाती है, इसलिए वह नन्हें बालकोंके योग्य नहीं रहता। जई जरा भी घुनी या सूखी नहीं होना चाहिए। जहाँ शुद्ध आटा न मिल सके वहाँ छड़ी हुई जईको खरीदकर और उबालकर उसका दलिया बना लेना चाहिए। यदि बाजारमें वह भी न मिल सके, तो छिल्के सहित जईको लाकर हावनदस्तेमें कूट लिया जाय या छोटीसी हाथकी चक्कीमें पीस लिया जाय और उसको पकाकर दलिया बना लिया जाय। यह दलिया बालकोंके लिए सबसे बढ़कर उत्तम खाद्य है। इसमें कठिनाई केवल जईके दलनेकी है। किन्तु इस जरा-सी बातसे किसीको घबड़ाना नहीं चाहिए; क्योंकि दो-एक बार तैयार कर लेनेके बाद फिर यह कार्य सुगम हो जाता है। मैंने इस विषयका और बालकोंके

पालन-पोषण-सम्बन्धी विषयका अपनी बनाई हुई 'शिशु-पालन' नामक पुस्तकमें विशेषरूपसे वर्णन किया है।

बड़े शोकका विषय है कि अनेक माताओंको अपने बालकोंका पालना बड़ा ही कठिन मालूम पड़ता है। इसी कारण बहुतसे बालक सीखते नहीं, उनका दिल कहींका कहीं होता है। वे बदचलन, क्रोधी और तुनुकमिजाजके होते हैं। अतएव उनकी शिक्षामें माता-पिता और उस्तादको बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। इसका कारण जब उन लोगोंकी समझमें नहीं आता तो आखिरकर उसका दोष जमाने या तक-दीरके सिर मढ़ दिया जाता है। किन्तु असली कारणपर उनका ध्यान ही नहीं पहुँचता। जब बालकके शरीरमें विजातीय द्रव्य भरा होता है, तब उनके मस्तिष्क और शरीरकी क्रियाओंमें अप्राकृतिक विक्षेप पड़ जाता है। यदि उन बालकोंके शरीरसे विजातीय द्रव्य निकाल दिया जाय, तो वे प्राकृतिक अवस्थामें लौट आते हैं। मैंने प्रायः इस बातको देखा है कि जिन बालकोंकी आदतें बहुत खराब थीं, वे बालक मेरी चिकित्सा करके अत्यन्त शान्त और सुशील बन गये। जो लड़के कुछ भी नहीं सीखते थे और सरलसे सरल बातपर घंटों मगज मारा करते थे, उनके शरीरमेंसे विकृत पदार्थ निकाल देनेपर वे औरसे और हो गये; अर्थात् खूब पढ़ने और समझने लगे। उनकी सुस्ती और आलस्य सब जाता रहा। इस प्रकार कुछ दिनोंमें ही वे अपने माता-पिताके प्रिय और आनन्ददायक पुत्र बन गये। जो मनुष्य यह जानता है कि नीरोग बालकोंके पालन-पोषणमें कितना सुख होता है और ऐसा करनेमें, कितने कम पराहट करने और तकलीफ उठानेकी जरूरत होती है, वह ऐसी आनन्द-वर्द्धक बातको प्राप्त करनेके लिए कदापि त्रुटि और उपेक्षा न करेगा। प्रत्येक स्त्री और पुरुषका यह धर्म होना चाहिए कि वह मेरी चिकित्सा

और मुखाकृतिनिदानको अच्छे प्रकारसे जान ले । मुखाकृतिनिदानके द्वारा वह तत्काल अपने बालकोंके शरीरमें विजातीय द्रव्यको जानकर उसे दूर कर सकेगा और बालकोंको तन्दुरुस्त बना सकेगा ।

एक और भी आवश्यक बात बतानी है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । मेरा संकेत जवानोंमें जवानोंमें दिनपर दिन बढ़ती हुई काम-वासना और उसके प्राकृतिक परिणाम हस्तमैथुनसे है । अफसोस है कि अबतक यौवनके इस पापकर्मका वास्तविक कारण पहिचाना नहीं गया । इतना ही नहीं किन्तु लोग मूर्खतापूर्ण लज्जा और संकोचके कारण ऐसी बातोंको बुरी तरहसे गुप्त रखते हैं और इस कुटेवकी वृद्धिमें कारणभूत होते हैं । यह बुराई इस तरह कदापि दूर नहीं हो सकती । जो लोग संसारको सुधारना चाहते हैं, अपनी संतानका भला चाहते हैं, उनको चाहिए कि खुली तौरसे उनकी भूलें उन्हें बतावें । प्रारंभमें जहाँ कि प्राकृतिक नियमोंका अभीतक पालन हो सकता है वहाँके लोग चिरकालसे यह बात पहिचानते हैं कि प्राणियोंमें अनियमित और अप्राकृतिक कामवासना बीमारीका—विकारका चिह्न है । अन्य प्राणियोंके समान मनुष्य भी प्रकृतिके नियमोंके अधीन है । भले ही कुछ लोग कहें कि मनुष्यका प्रकृतिमें एक विशेष स्थान है और इसलिए उसके लिए प्रकृतिके नियम भी जुदे हैं किन्तु वास्तवमें वह उन्हीं साधारण नियमोंमें बँधा हुआ है जिनसे कि पशु । जिस प्रकार पशुओंमें दुर्द्रव्यका अधिक भार होनेके कारण अधिक कामेच्छा होती है उसी प्रकार मनुष्योंमें भी होता है । हस्तमैथुन इस बातका स्पष्ट चिह्न है कि जननेन्द्रियोंमें विजातीय द्रव्य अधिक भरा हुआ है । यदि उस विजातीय द्रव्यको धीरे धीरे निकाल दिया जाय तो वह अस्वाभाविक

कामवासना भी स्वतः जाती रहेगी । बालकोंको इस बातपर मारना-पीटना, जैसा कि बहुतसे मातापिता करते हैं, कि वे अपनी जननेन्द्रियसे खेलते हैं, वृथा है । उनकी जननेन्द्रियकी यह दाह तभी दूर हो सकती है जब कि उसका कारण विजातीय द्रव्य दूर कर दिया जाय । बालकोंकी इच्छा शक्तिपर जोर डालकर उनका यह दुष्कर्म रोक भी दिया जाता है तो भी इस कार्यके लिए भीतरी प्रेरणा—गर्मी उस समय तक बनी ही रहती है जबतक कि उसका कारण—विजातीय द्रव्य दूर नहीं कर दिया जाता ।

मुझे हजारों हस्तमैथुन करनेवालोंकी चिकित्सा करनेसे यह अनुभव हुआ है कि मेरे उदर-स्नान और मेहन-स्नान, अनुत्तेजक पदार्थोंका आहार और सदा प्राकृतिक नियमोंके अनुसार जीवन व्यतीत करना ही इस रोगकी सबसे बढ़िया चिकित्सा है । इस प्रकार मेरी विधि देशके बच्चोंमें नीतिकी वृद्धि करनेका सर्वोत्तम उपाय है । यह विषय इतने महत्त्वका है कि प्रत्येक मनुष्यको इसपर विशेष ध्यान देना चाहिए और इसके सत्यका निश्चय करना अपना मुख्य कर्त्तव्य समझना चाहिए ।

मुखाकृति-निदान-विधिके कुछ उदाहरण



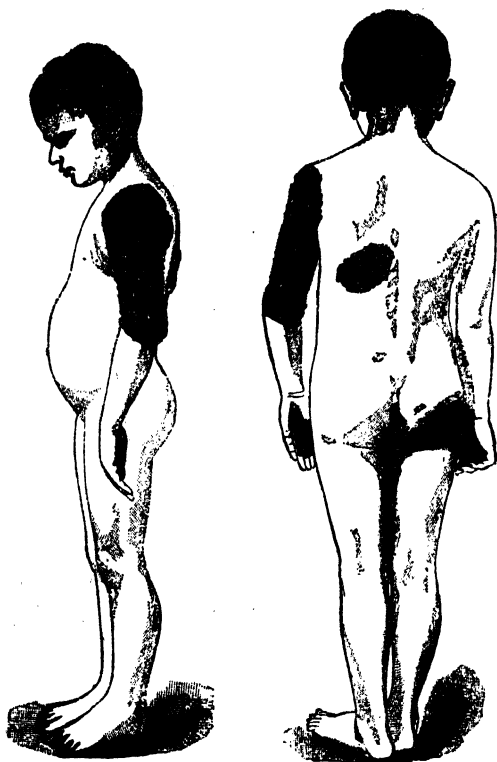
सिर्फ सामनेकी ओर विजातीय-द्रव्यका भार ।



पिछली तरफका विजातीय द्रव्यका मार



सामने, बगल और पिछली तरफका विजातीय द्रव्यका भार
सामनेकी ओर सबसे अधिक



४५ देफ ट्यूबरकुलिनके इंजेक्शनका परिणाम

युक्तियुक्त जलचिकित्साशास्त्र

(संपादक—हेमचंद्र)

प्रीजनिट्ज़, फादर नीप, हॉन प्रभृति लोगोंने जिस चिकित्साशास्त्रकी जब जमाई तथा लुईकुहने आदि विशारदोंने जिसकी जबमें जलसिंचन किया उस चिकित्साशास्त्ररूपी वृक्षका यह ग्रंथ हालका विकसित रूप है। लुई कुहनेका ग्रंथ तो आप पढ़ ही चुके हैं जो कि आजसे करीब आधी शताब्दी पूर्व लिखा गया था फिर भी उसका महत्व स्पष्ट है। इस शास्त्रने उनके बाद बहुत प्रगति की है। जो जो कमीयें उस समय रह गई थीं करीब करीब वे सभी अब दूर हो गई हैं। वीएना विश्वविद्यालयके विश्वविख्यात प्रोफेसर डा० विंटरनिट्स एम० डी०, तथा अमेरिकाके डाक्टर जे० एच० केलाग एम० डी०, एफ० आर० सी० एस०, एलएल० डी०, प्रभृति इस चिकित्साविधिके अनुयायी हैं और उन्हींके ग्रंथोंके आधारसे लिखा जाकर यह ग्रंथ शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है। इस ग्रंथमें करीब १०० से ऊपर स्नानविधियाँ दी गई हैं, २५ से ऊपर बस्त्रियोंके प्रयोग हैं और पचासों भीगे कपड़ों आदिके प्रयोग हैं। हरेक विधिका शरीरपर क्या प्रभाव पड़ता है इसका शरीरशास्त्रकी दृष्टिसे विस्तृत विवरण है। मूल्य करीब ५)। ग्राहक श्रेणीमें अभीसे नाम लिखाने और १) पेशगी भेजनेवालोंको पौने मूल्यमें।

आकृतिनिदान

लेखक—लुई कुहने

इस नवीन चिकित्साविज्ञानमें जिसका जगह जगह जिक्र 'मुखाकृतिविज्ञान' आदि नामोंसे आया है यह उसी ग्रंथका उत्तम अनुवाद है मूल्य १।)

(२)

बच्चोंकी रक्षा

लेखक—डॉ० लुई कुहने

इस ' नवीन चिकित्सा-विज्ञान'में जिसका जिक्र ' शिशुपालन ' नामसे आया है यह उसी ग्रंथका अनुवाद है । मूल्य १-)

'नवीन-चिकित्साविज्ञान'के सिद्धान्तपर रची हुई चिकित्साकी अन्य पुस्तकें उपवास-चिकित्सा

इस ग्रंथमें उपवास या लंघनोंके द्वारा करीब करी सभी बीमारियोंसे छुटकारा पानेकी विधि दी गई है । उपवासके संबंधमें सभी ज्ञातव्य बातें इसमें आ गई हैं । इस वर्ष छपे हुए इस ग्रंथके चौथे संस्करणमें बहुतसी बातें और भी बातें बढ़ा दी गई हैं जो कि इसके पहले संस्करणके बाद अमेरिका और युरोपके बड़े बड़े चिकित्सकोंने अनुभवसे जानीं । टाइप पहलेसे बढ़ा और कागज पहलेसे मोटा लगा है । मूल्य १=)। सजिल्द १॥=)

दुग्ध-चिकित्सा

दूधके उपयोगसे बहुतसी बीमारियोंको दूर करनेकी विधि =)
प्राकृतिक चिकित्सा =) सुगमचिकित्सा =) योगचिकित्सा =)
मधुचिकित्सा =)॥

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय

गिरगाँव बम्बई ।

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library

मसूरी
MUSSOORIE

अवाप्ति सं०

Acc. No.....

कृपया इस पुस्तक को निम्नलिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped below.

[illegible]

अवाप्ति सं. ACC No.....
 वर्ग सं. Class No.....
 पुस्तक सं. Book No.....
 लेखक Author.....
 शीर्षक Title.....
 कूने, लुई नवीन चिकित्सा विज्ञान
 अध्या... विधि।
 निर्गम दिनांक | उधारकर्ता की सं.।
 Date of Issue

H
615.535 LIBRARY **15442**
कूने BHADUR SHASTRI
 National Academy of Administration
 MUSSOORIE

Accession No. 125819

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving